CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

13.3

VAISHALI INSTITUTE RESEARCH BULLETIN No. 6

4321

४३१४

प्राकृत विद्यापीठ वैशाली

Chief Editor

Dr. L. C. JAIN

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Author's Copy.

Director
Research Inst... of Prakrit
Jainology and Ahinsa Vaishali
Distt.-Muzaffarpur.

[redacted]

4321

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

PRAKRIT JAIN INSTITUTE SERIES NO. 32

Chief Editor
Dr. L. C. JAIN
Acting Director

4317

VAISHALI INSTITUTE RESEARCH BULLETIN No. 6

(Pt. KAILASH CHANDRA SHASTRI MEMORIAL NUMBER)

Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa
Vaishali, Bihar
1988

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Editorial Board
Dr. L. C. JAIN (Chief)
Shri P. K. CHOUDHARY

All Rights Reserved

Price : Rs. 64.00

Published on behalf of the Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali (Bihar) by Dr. L. C. Jain, Acting Director.
Printed in India at the Tara Printing Works, Varanasi.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The Government of Bihar established the Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa at Vaishali in 1955 with the object, interalia, to promote advanced studies and research in Prakrit and Jainology and to publish works of permanent value to scholars. This Institute is one of the six Research Institutes being run by the Government of Bihar. The five others are: (i) Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga; (ii) Kashi Prasad Jayasawal Research Institute for research in ancient, medieval and modern Indian History at Patna; (iii) Bihar Rastrabhasa Parishad for Research and Advanced Studies in Hindi at Patna; (iv) Nava Nalanda Mahavihar for Research and Post-Graduate Studies in Buddhist Learning and Pali at Nalanda and (v) Institute of Post-Graduate Studies and Research in Arabic and Persian Learning at Patna.

As part of this programme of rehabilitating and reorientating ancient learning and scholarship, this is the Research Vol. No. 32 which is the Research Bulletin No. 6 which commemorates the eminent scholar in Jainology late Pt. Kailash Chandra Sastri. Government of Bihar hope to continue to sponsor such projects and trust that this humble service to the world of scholarship and learning would bear fruit in the fulness of time.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रधान सम्पादकीय

प्रस्तुत अंक 'सि० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री स्मृति विशेषांक' है। प्राकृत-जैन धर्म-दर्शन के भारतीय स्तर के मनीषी विद्वान स्वनाम धन्य परमश्रद्धेय पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री का देहावसान १७ नवम्बर, १९८७ को एकमात्र पुत्ररत्न सुपार्श्व कुमार जैन, चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट की उपस्थिति में राँची में ८४ वर्ष की अवस्था में हुआ था। वे लगभग छः माह से अस्वस्थ थे।

धर्मनिष्ठा माता और लाला मुसद्दीलाल जैन के कनिष्ठ पुत्र पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्त-शास्त्री के शिष्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने कार्तिक शुक्ला द्वादशी सम्वत् १९६० (सन् १९०३) में जन्म लेकर नहटौर (जिला—बिजनौर, यू० पी०) की धरती को पवित्र किया था। स्वभाव संमृदु एवं मितभाषी, मितव्ययी पं० जगन्मोहनलाल, पं० राजेन्द्र कुमार जी एवं पं० फूलचन्द सिद्धान्तशात्री के सहाध्यायी पंडितजी की प्रारम्भिक शिक्षा अपनी जन्मभूमि में हुई। इसके पश्चात् स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी और जैन सिद्धान्त विद्यालय, मोरेना को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया।

राष्ट्रीयता की भावना ने ओत-प्रोत एवं स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के प्राण पं० महेन्द्र कुमार जैन के साथ कार्य करने वाले एवं प्रो० खुशालचन्द गोरावाला को अनुज मानने वाले न्यायतीर्थ पंडित जी ने ४७ वर्षों तक अपनी विद्याभूमि स्याद्वाद महाविद्यालय में कुशल अध्यापन करके पं० दरबारी लाल कोठिया, पं० उदयचन्द्र जैन प्रमुख ९०० शिष्यों को तैयार किया, जो देश-विदेशों में जैनधर्म-दर्शन और प्राकृत के क्षेत्र में अग्रणी बनकर श्रमण संस्कृति का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। शास्त्रानुकूल स्पष्ट वक्ता, गम्भीर अध्ययनशील, कर्त्तव्यनिष्ठ, समय-परायण एवं एकान्तरूप से परम्परा के विरोधी पंडितजी ने अपनी वाक्शक्ति और प्रवचन शक्ति के द्वारा विविध अवसरों पर देश के कोने-कोने में जाकर धर्म-ध्वजा फहराई और समाज को जागरूक बनाया है। जैन आगमों के सच्चे प्रहरी पंडित जी ने रूढ़ीग्रस्त जैन समाज को अपने उपदेशों के द्वारा सही दिशा प्रदान की। कुशल प्रशासक और दूरदृष्टि वाले पंडित जी ने स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के प्रधानाचार्य एवं अधिष्ठाता के रूप में अपने शिष्यों को निष्पक्ष वात्सल्य स्नेह देकर उनमें धार्मिक भावना कूट-कूट कर भरी।

सुपार्श्वनाथ भगवान की जन्मभूमि को अपनी साहित्य साधना का केन्द्र बनाकर अपने ज्ञान-प्रकाश की ज्योति जन-जन तक पहुँचाने के लिए पण्डित जी ने सरल और सुबोध भाषा में अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना करके जैन वाङ्मय की श्रीवृद्धि की। जैन धर्म, भ० महावीर का अचेलक धर्म, जैन न्याय, जैन साहित्य का इतिहास (तीन खण्ड), प्रमाण-नय-निक्षेप प्रकाश, द्रव्यानुयोग प्रवेशिका, करूणानुयोग प्रवेशिका, चरणानुयोग प्रवेशिका, भगवान ऋषभदेव,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दक्षिण में जैन धर्म, नमस्कार महामन्त्र, जैन सिद्धान्त आदि ऐसे मौलिक ग्रन्थ हैं जिनमें विशद पांडित्य दृष्टिगोचर होता है। इसके अलावा गवेषणात्मक सम्पादन और प्राकृत तथा संस्कृत भाषा में निवद्ध जटिल ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद के रूप में भी पण्डित जी की विद्वत्तापूर्ण बुद्धि का चमत्कार परिलक्षित होता है। न्याय-कुमुदचन्द्र की प्रस्तावना, सोमदेव उपासकाध्ययन, द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, तत्त्वार्थसूत्र, अनागार-धर्मामृत, सागार-धर्मामृत, गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, भगवती आराधना, सत्प्ररूपणा सूत्र, कुन्दकुन्दप्राभृत संग्रह, भगवान महावीर का जीवन चरित, समणसुत, स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा, कल्याण मन्दिर, जय-धवला आदि पण्डित जी द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं, जिनसे आपके गहन अध्ययन एवं शोध-प्रवृत्ति सिद्ध होती है। उनकी साहित्य-सृजना में उनकी धर्मपत्नी वसन्तीबाई की अर्द्धविक्षिप्त स्थिति कभी बाधक नहीं हुई।

निष्पक्ष पत्रकार के रूप में भी उनकी कीर्ति-ध्वजा आज भी फहरा रही है। सन् १९३९ से 'जैन सन्देश' के सम्पादक के रूप में पण्डित जी ने विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सम्पादकीय लिखने में निर्भीकतापूर्वक अपनी लेखनी चलाई। अपने विरोधियों के लेखों और विचारों को जैन सन्देश में प्रकाशित कर अपनी उदारता और तटस्थ पत्रकारिता का परिचय दिया, लेकिन आगम विरुद्ध शिथलाचार को उन्होंने कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। अपनी भावनाओं के विरुद्ध लिखना उन्हें पसन्द नहीं था। इसके अलावा मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला एवं जीवराज ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक के रूप में भी आपने जिनवाणी की सेवा की। 'सादा जीवन उच्च विचार' के धनी, सिद्धान्तरत्न और सिद्धान्ताचार्य की उपाधि से विभूषित पण्डित जी का देश के विभिन्न नगरों में जैन समाज ने अभिनन्दन करके अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की। अपने साधनों में स्वभाव से सन्तुष्ट, पण्डित जी धार्मिक अवसरों पर प्रवचन आदि करने पर समाज द्वारा दी गई धनराशि को स्याद्वाद महाविद्यालय ध्रुवफण्ड में जमा कर देते थे। कभी उन्होंने कुछ अपने लिए नहीं लिया। यही कारण है कुछ विद्वानों ने स्याद्वाद महाविद्यालय को उनका स्वपोषित वेटा कहा है।

४० वर्ष की अवस्था में १०८ गणेश प्रसाद वर्णी जी के चरणों में ब्रह्मचर्य व्रत लेकर जीवनपर्यन्त अखण्ड रूप उसका पालन करनेवाले निरभिमानी और स्वाभिमानी, विनम्रता की मूर्ति, विद्या-वारिधि पण्डित जी अखिल भारतीय विद्वत् परिषद् के एकाधिकवार अध्यक्ष बनकर विद्वानों के सम्मानपूर्वक जीवन निर्वाह के लिए सतत् संघर्षशील रहे। गौतम गणधर के समान अपरिग्रही पण्डित जी ने प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली की अधिष्ठात्री परिषद और प्रकाशन समिति के सदस्य के रूप में संस्थान को गतिशील बनाया और उनके विकास के लिए अपने अमूल्य सुझाव दिये। सन् १९८५ में वैशाली महोत्सव के अवसर पर रात में मंच पर से आपके सारगर्भित भाषण को सुनकर उमड़ती हुई लाखों की जनसंख्या मन्त्रमुग्ध हो गई।

पण्डितजी के सुकोमल हृदय में अपने शिष्यों के प्रति प्रगाढ़ स्नेह और उन्हें उन्नति के शिखर पर पहुँचने की कामना से परिपूर्ण रहता था। 'नारिकेला समाकाश' को चरितार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने वाले पण्डित जी अपने अन्तेवासियों को एक ओर व्याख्यान-प्रवचन करने का प्रशिक्षण देकर और जैन संदेश में लेख प्रकाशित कर लेखन कला में प्रवीण कर सदैव उनके विकास में प्रयत्नशील रहते थे और दूसरी ओर 'बात का पक्का लंगोटी का सच्चा' का उपदेश देकर सद्चरित्री बनाने का अथक प्रयास करते रहे। अपने शिष्यों के पी-एच० डी० होने या पदासीन होने पर, गुणग्राही पण्डित जी विद्यालय में समस्त छात्रों और अध्यापकों के साथ उनका सम्मान-स्वागत समारोह अवश्य आयोजित किया करते थे।

इस प्रकार आदर्श शिक्षक, शिष्यों के पितातुल्य सच्चे अभिभावक, निर्भीक लेखक, ओजस्वीवक्ता, स्वाभिमानी व्यक्तित्व परमपूज्य पण्डित जी के प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ। जिन मनीषी विद्वान लेखकों ने अपने गवेषणात्मक लेख भेजकर इस अंक के कलेवर की संरचना में सहायता की है, उनका मैं आभारी हूँ। संस्थान के प्रकाशन-शास्त्री श्री प्रमोद कुमार चौधरी, एम० ए० ने इस अंक के प्रकाशन में सक्रिय सहयोग दिया, एतदार्थ उन्हें धन्यवाद !

तारा प्रिंटिंग प्रेस, वाराणसी के संचालक श्री रविप्रकाश पंड्या ने इस अंक को सुन्दर और कलात्मक रूप से अल्प समय में ही मुद्रित कर सहयोग किया। अतः उनका आभारी हूँ।

वैशाली
मार्च ३०, १९८८

लालचन्द जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

प्रधान सम्पादकीय i

आज वे हमारे बीच में नहीं हैं
—पं० फूलचन्द्र शास्त्री ... 1

एक निर्भीक एवं वरिष्ठ विद्वान का निधन
—डॉ० दरबारी लाल कोठिया ... 4

इस युग का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् उठ गया
—पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री ... 6

हाय ! गुरुवर्य अब नहीं रहे
—डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री ... ७

एक उद्भट निर्भीक विद्वान का वियोग
—पं० भवर लाल न्यायतीर्थ 10

हम यूं ही मर मिटेंगे तुमको खबर न होगी
—पद्मचन्द्रजी शास्त्री ... 12

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी
—स्वरूप चन्द जैन ... 14

आधुनिक जैन पाण्डित्य का चरमोत्कर्ष—स्व० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
—प्रो० खुशाल चन्द्र गोराबाला ... 17

सरस्वती-पुत्र पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
—प्रो० उदयचन्द्र जैन ... 21

युगपुरुष पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
—डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी 25

श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री और उनकी अप्रकाशित कृतियाँ
—डॉ० कमलेश कुमार जैन ... 28

महाकवि विबुध श्रीधर एवं उनकी अप्रकाशित रचना "पासणाहचरिउ"
—डॉ० विद्यावती जैन ... 1

समराइच्चकहा में सन्दर्भित प्राचीन बिहार
—प्रो० डा० राजाराम जैन ... 16

जैन वाक्य दर्शन
—डॉ० सागरमल जैन 26

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कामन्दकीय नीतिशास्त्र में आर्थिक विचार (अनुमानतः ४०० ई० सन् से ८०० ई० सन्)
—नलिन विलोचन 41

सारनाथ की जैन प्रतिमाएँ
—ओम प्रकाश पाण्डेय 46

जैन सरस्वती की एक अनुपम प्रतिमा का कलात्मक सौन्दर्य
—डा० फूलचन्द जैन प्रेमी 50

महाकवि पुष्पदन्त का भाषात्मक अवदान
—डॉ० प्रेम सुमन जैन ... 54

प्राकृत भाषा की उत्पत्ति और प्राकृत अभिलेखों का महत्त्व
—प्रो० डा० चन्द्रदेव राय .. 63

शब्द-अद्वैतवाद का समालोचनात्मक विश्लेषण : जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में
—डॉ लालचन्द जैन ... 70

आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत धात्वादेशों में वज्जिका के क्रियारूप
—डॉ० योगेन्द्र प्रसाद सिंह 101

जैन साहित्य में अहिंसा
—डॉ० विजय कुमार जैन ... 109

अहिंसा का महत्व
—जितेन्द्र वी० शाह 112

जैन शिक्षादर्शन में शिक्षार्थी की योग्यता एव दायित्व
—विजय कुमार 116

आचार्य हरिभद्रकालीन धार्मिक परिस्थिति
—शैलेन्द्रकुमार राय ... 131

जैन धर्म-दर्शन में लेश्या : एक शास्त्रीय विवेचन
—डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी ... 146

प्राचीन भारतीय जैन समाज में नारी शिक्षा
—जयन्त कुमार 152

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-यात्रा
—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित ... 156

गुप्तजी की काव्य-दृष्टि
—डॉ० अवधेश्वर अरुण 166

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बीसवीं सदी का तुलसी—मैथिलीशरण गुप्त
—डॉ० सुरेन्द्र मोहन प्रसाद ... 173

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और उनकी अमरकृति 'साकेत'
—हरिकिशोर प्रसाद सिंह ... 176

Thus were composed and published Satkhandagama or Saurseni Jain scriptures
—Dr. Raja Ram Jain ... 1

God : The Jaina view and Jaina Religious Images
—Dr. Gokul Chandra Jain ... 4

The *Vanik* and the *Vanijja* in early Ancient India (from earliest times to 300 A. D.)
—Dr. Arun Kumar Mishra ... 12

General Properties of Green Plant Cells and the Structures and Functions of a Seed Plant as found in the Jaina Agamic Works
—Dr. J. C. Sikdar ... 18

Some Common Features of Buddhism and Jainism
—Dr. (Mrs.) Sunita Jain ... 35

Ascetic Poetry in Paumchariyam
—Dr. Mithilesh Kumari Mishra ... 40

The Philosophical Significance of the Idea of Tathāgatā in the Context of the Abolutism of the Yogācāra
—Dr. Prabhakar Mishra ... 44

The role of Psychological Factors in determining Buddha's attitude towards Social Problems
—Dr. (Smt.) M. K. Satyasthi ... 51

Buddhist System of Education
—Dr. Sunil Kumar ... 56

Nature of Reality as conceived in Jaina Philosophy
—Dr. J. C. Sikdar ... 62

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आज वे हमारे बीच में नहीं हैं

पं० फूलचन्द्र शास्त्री

दि० २०-२१ के दिन नव भारत टाइम्स में मुद्रित हुए समाचार से यह जानकर कि समाज मान्य पण्डित कैलाश चन्द जी स्वर्गवासी हो गये हैं, पूरे हस्तिनापुर क्षेत्र के रह वासी स्तब्ध रह गये।

यह शिकायत तो हमेशा से सुनी जाती रही है कि धीरे-धीरे शास्त्रीय पण्डितों का अभाव होता जा रहा है। पर इस समस्या को कैसे सुलझाया जाय, यह बात अभी तक निश्चित नहीं हो पाई है। इसका हल निकालना भी कठिन है।

वात यह है कि स्वराज्य के बाद एक ओर प्रत्येक व्यक्ति का लौकिक जीवन-स्तर बढ़ने लगा है और दूसरी ओर मंहगाई ने चरम सीमा गाँठ ली है। समाज चाहे भी तो यह समस्या सुलझ नहीं सकती।

जो वर्तमान त्यागी-मुनि हैं वे पढ़ने में विश्वास नहीं करते। जब वैसे ही उनकी आहार-पानी आदि की अनुकूलताएँ वन जाती है तो वे पढ़ें क्यों। उन्हें ठण्ड से बचने के लिए हीटर चाहिये, गर्मी के ताप से बचने के लिए पंखा चाहिए, एक स्थान से दूसरे स्थान तक उनके परिग्रह को ढोने के लिए मोटर गाड़ी चाहिए, उनकी सेवा टहल आदि के लिए आदमी चाहिये, ड्राइवर चाहिए। समाज इस सब का प्रबन्ध उनके बिना लिखे पढ़े ही करती है। वे फिर पढ़े लिखे क्यों।

मार्ग के विरुद्ध समाज की इस विषय में रुचि का कारण है उसकी चाह। समाज में कुछ कुटुम्ब ऐसे हैं जो तावीज आदि में विश्वास करते हैं। देवी-देवता में विश्वास करते हैं। त्यागी-मुनि भी ऐसे कुटुम्बों की इस कमजोरी को जानते हैं। इसलिए वे अपने त्यागी-मुनि के जीवन की लौकिक सुख रूप बनाये रखने के लिए इस मार्ग को अपनाते हैं। धर्मशास्त्र तो मूक है। हस्तक्षेप करे तो कैसे करे।

त्यागी-मुनि जानते हैं कि ऐसा करने से हम त्यागी-मुनि भी बने रह सकते हैं और लौकिक इच्छायें भी पूरी कर सकते हैं। समाज में ऐसा एक वर्ग या सम्प्रदाय है जो इसका साधक है। आगम की उसे चिन्ता नहीं, चिन्ता है अपने सुख-सुविधा की। इसलिए वह वर्ग ऐसे त्यागी-मुनियों को पसन्द करना है जो इस वर्ग की ऐसी इच्छा की पूर्ति में सहायक होते हैं। इच्छा की पूर्ति होना अन्य बात है। इच्छा की मूर्ति हो या न हो। यह एक दुकान है जो दोनों के सहयोग से चलती है।

यह वर्तमान स्थिति है, इसलिए हम जानते हैं कि जो गया, वह गया। इसकी पूर्ति होना असम्भव है। मान्य पण्डितजी गये, उनकी पूर्ति न हम कर सकते हैं और न कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य विद्वान् भी। वे अपने ढंग के बेजोड़ थे। पर्याय अस्थायी है, वह नियम से जाती है। उसका स्थान अन्य नहीं ले सकता।

पंडितजी जी हमारे साथी थे, वे श्री पं० जगन्मोहन लालजी और हम एक साथ और एक कक्षा में पढ़ते थे। यह सम्पर्क लगभग दो वर्ष तक रहा। इसलिए उनके जीवन को हम निकट से जानते हैं।

जो उनको मानता था, उसे वे अपना सहायक बना लेते थे। उसके लिए वे सब कुछ करने के लिए तैयार रहते थे। उसके लिए सार्वजनिक संस्था का उपयोग करने में वे नहीं चूकते थे।

विद्वत्ता की दृष्टि से विचार करें तो इस काल के विद्वानों में प्रथम श्रेणी के विद्वानों में उनकी गणना होती थी। समयोपयोगी भाषण करने में वे निपुण थे। लेखनी उनको चूमती थी। वे अच्छे लेखक थे। त्यागी हो या मुनि यदि वह धर्म के विरुद्ध दिखाई देता था तो उसकी सार्वजनिक रीति से खिंचाई करने में वे चूकते नहीं थे।

जैन सन्देश पत्र के वे प्रधान सम्पादक तो थे ही। उनके लिखे हुए—अनेक ग्रन्थ हैं जिनके पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे यथासम्भव धर्मशास्त्र में तो अधिकार रखते ही थे। इतिहास के भी वे माने हुए विद्वान् थे। इसके लिए उन्होंने भारतीय दर्शनों का भी अध्ययन किया था। लिखित साहित्य में वेद प्राचीन हैं इसमें सन्देह नहीं। आश्रमों में रहने वाले वैदिक ऋषियों के वे उद्गार मात्र हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर उनमें जो संकेत मिलते हैं, उनके आधार पर ही आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनका जैन धर्म की दृष्टि से पंडितजी ने अध्ययन ही नहीं किया था, किन्तु उपयोगी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने में उनका भरपूर उपयोग करने में वे हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करते थे।

शोक-सभा में मान्य हंसा बाबूजी मेरठ की एक घटना सुनाते रहे कि वहां काली चरण जी नाम के एक भाई रहते थे। वे जैन धर्म के अत्यन्त विरोधी थे। किसी मुनि को देखते थे तो पीछा कर लेते थे। एक बार ऐसा हुआ कि मान्य पण्डितजी वहां आये हुए थे। इस कारण वहां के जैनों ने सार्वजनिक सभा रखी। जैन विद्वान् अपने धर्म के विषय में क्या कहते हैं, यह जानने के लिए पं० कालीचरण जी भी उस सभा में आये। जब पंडितजी ने वेदों और पुराणों से जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध की तो वे कहते हुए सुने गये कि "मैने यह सुन रखा था कि काशी के पण्डित विद्वत्ता में बेजोड़ होते हैं। आज मुझे इस बात की प्रतीति हुई कि काशी के ब्राह्मण पण्डित विद्वत्ता में बेजोड़ तो होते ही हैं, काशी निवासी जैन धर्म के पंडित विद्वत्ता में बेजोड़ होते हैं। इससे मेरे मन में जैन धर्म के प्रति जो विद्वेष था, वह निकल गया है और आज मैंने जाना कि परिग्रह एक बला है यह मुझें आज ही समझ में आया"।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह कोई एक घटना नहीं है। ऐसी अनेक घटनाएँ हैं। इस दृष्टि से काशी के विद्वानों में जैन विद्वानों की भी गणना होती है। काशी संस्कृत विश्वविद्यालय में जैन दर्शन का भी अध्ययन-अध्यापन होता है। कभी-कभी मुझे और मान्य पं० कैलाश चन्द्रजी शास्त्री को भी भाषण करने के लिए बुलाया जाता था। सभी विद्वान् उन्हें सुनने के लिए उपस्थित रहते थे। एक बार मान्य पण्डितजी का भाषण वहां रखा गया। अपने भाषण में जैन धर्म की प्राचीनता पर बोलते हुए उन्होंने वेदों और पुराणों से उद्धरण उपस्थित कर जैन धर्म की प्राचीनता जिस ढंग से सिद्ध की उसे सुनकर ब्राह्मण विद्वानों ने जैन धर्म का लोहा माना।

ऐसे थे हमारे विद्वान् पण्डितजी। 'जयधवला' के सम्पादन के समय प्रथम भाग में वे हमारे साथ थे। बाद में मान्य स्वर्गीय पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य अलग हो गये, परन्तु वे एक वर्ष तक जुड़े रहे अनुवाद का काम मेरे जिम्मे ही था। इसलिए पूरे जयधवला का अनुवाद आदि कार्य मैंने ही सम्पन्न किया है। प्रथम भाग की भूमिका लेखकों में मान्य पं० कैलाश चन्द जी मुख्य थे और टिप्पणी के संग्रह करने में न्यायाचार्य जी मुख्य थे। उन दोनों विद्वानों के अलग होने पर पूरा उत्तरदायित्व का निर्वाह हमें ही करना पड़ा।

आज वे हमारे बीच में नहीं हैं। उनके वियोग को हमें सहना पड़ रहा है। उनका साहित्य हमारे लिये मार्गदर्शक बने और मार्गदर्शक के रूप में हम सदा उनको याद करते रहें यह इच्छा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक निर्भीक एवं वरिष्ठ विद्वान् का निधन

डा० दरबारी लाल कोठिया*

दि० १७-११-१९८७ को जैन समाज के सुप्रसिद्ध एवं वरिष्ठ विद्वान् श्रद्धेय पं० कैलाश चन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री का राँची (विहार) में ८४ वर्ष की आयु में दुःखद निधन हो गया वे कुछ महीनों से अपने पुत्र श्री सुपार्श्व कुमार जैन के पास रुग्णावस्था में चल रहे थे। वे जब तक स्वस्थ्य रहे, उन्होंने तब तक वाराणसी नहीं छोड़ा। वहीं रहते हुए समाजसेवा और साहित्य साधना में निरत रहे।

वे स्याद्वाद महाविद्यालय में धर्माध्यापक के रूप में सन् १९२६ में वाराणसी, नहटौर (विजनौर) से आये। बाद को वे उसी विद्यालय में सन् १९३६ में प्राचार्य हुए और १९५८ में उसके वे अधिष्ठाता भी चुने गये। वे इन दोनों पदों में रहते हुए १९७५ तक विद्यालय को सम्हालते रहे। इसके पश्चात् वे उसके अधिष्ठता रहे और अन्त तक वे इस पद पर रहते हुए विद्यालय की सेवा में तत्पर रहे। पर्यूषण या अन्य पर्वों में समाज में अन्यत्र जाते थे तो उसके लिए पर्याप्त आर्थिक सहायता लाते थे। उनके लिए स्याद्वाद महाविद्यालय स्व-घोषित पत्र की तरह रहा। उसके संवर्द्धन और आर्थिक विकास में उनका अद्वितीय योगदान है। उनके मन में विद्यालय को छोड़कर किसी अन्य संस्था में जाने का कभी विकल्प नहीं आया और विद्यालय ने भी उन्हें नहीं छोंड़ा। दोनों का अभेद्य सम्बन्ध था और वे उसे किसी अन्य इष्ट वस्तु से या अपने सगे बेटे से अधिक चाहते थे। वस्तुतः विद्यालय उनकी इस अगाध सेवा को कभी भूल नहीं सकता। पूज्य वर्णी जी कहा करते थे कि पं० कैलाश चन्द्र जी और स्याद्वाद महाविद्यालय पर्याय नाम है। एक दूसरे से एक दूसरे का बोध हुए विना नहीं रहता। समाज में जितने विद्वान् हैं उनमें ८० प्रतिशत उन्हीं के शिष्य प्रशिष्य हैं।

उनकी अध्यापन-कला अतिविशिष्ट थी। बड़े सरल ढंग से और धीरे-धीरे पढ़ाते थे, जिससे विद्यार्थी पढ़े हुए को हृदयंगम करता जाता था। धर्मशास्त्र का कोई कैसा ही स्थल हो उसे वे ऐसा समझाते थे कि विद्यार्थी सहज रूप में समझ लेता था। चाहे कर्म-काण्ड हो, चाहे त्रिलोकसार और चाहे तत्वार्थवार्तिक, सब में उनकी अस्खलित गति थी। हमें स्वयं इन ग्रन्थों का उनसे पढ़ने का अवसर मिला है। इससे हम कह सकते हैं कि वे वहुत ही कुशल अध्यापक थे। एक विशेषता उनकी यह थी कि वे दूसरे दिन के पठित पाठ को अवश्य पूछते थे, इससे विद्यार्थी और अध्यापक के पाठ को तैयार करे, या न करे, उनके पाठ को अवश्य तैयार करके ले जाता था।

---

* संपादक, जैन संदेश, मथुरा (उ० प्र०), बीना (म० प्र०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे कुशल वक्ता भी थे। कैसे ही मंच पर वे आयें, श्रोता एकटक होकर उनके धारा प्रवाह भाषण को सुनते थे। उनके श्रोता हजारों या लाखों हों, उन्हें वे प्रभावित कर लेते थे। वे शास्त्र प्रवक्ता भी असाधारण थे। अष्टाह्निका पर्व पर वे बम्बई गये थे। एक दिन उन्होंने आत्मतत्व पर ऐसा प्रवचन किया कि श्रोता मंत्रमुग्ध हो गये। शास्त्र-प्रवचन के बाद एक श्रोता उनके पास पहुँचे और बोले कि पंडित जी ! आप को तो आत्म-साक्षात्कार हो गया होगा। पंडित जी ने बतलाया कि कोठिया जी मैं उसका क्या उत्तर देता ? आत्म-तत्व पर बोलना अलग चीज है और उसका साक्षात्कार होना अलग चीज है। आत्म-साक्षात्कर के लिए पूर्ण संयम, इन्द्रिय-निग्रह, मनोनिरोध और तपश्चर्या आदि आवश्यक हैं। पंडित जी ने यह संस्मरण ज्यों का त्यों सुनाया। वास्तव में वे प्रभावक वक्ता थे।

वे कुशल अध्यापक और प्रभावक वक्ता के अतिरिक्त सुयोग्य लेखक भी थे। पत्र-पत्रिकाओं में उनके शोधपूर्ण साहित्यिक और सामाजिक हजारों लेख-प्रकाशित हुए हैं। "जैन सन्देश" के तो वे यशस्वी लेखक और पत्रकार थे। वे आरम्भ से लेकर स्वस्थ अवस्था तक उसका निर्भीक सम्पादकीय लिखते रहे। कभी-कभी उनकी कटु आलोचना से लोग तिलमिला जाते थे। पर वह आलोचना गलत नहीं होती थी। 'निःसन्देह सन्देश' के सम्पादकीयों ने समाज का बहुत मार्ग दर्शन किया है।

जैन धर्म उनकी ऐसी असाधारण कृति है जो सर्वाधिक लोकप्रिय हुई और जिसके कई संस्करण हो चुके हैं भारतीय अहिंसा, जैन न्याय, जैन साहित्य का इतिहास (३ भाग), करुणानुयोग प्रवेशिका, चरुणानुयोग प्रवेशिका, द्रव्यानुयोग प्रवेशिका आदि दर्जनों महत्व-पूर्ण ग्रन्थों की श्रद्धेय पण्डित जी ने रचना की है। हमने ऐसे असाधारण विद्वान् को खो दिया यह कालगति है, जिसे कोई रोक नहीं सकता। वस्तुतः यह अपूर्णनीय क्षति है।

हम संघ परिवार, जैन-सन्देश के हजारों पाठकों और हजारों ही मित्र-गण तथा शिष्य समुदाय की ओर से उन्हें श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए उनकी आत्मा को शास्वत शान्ति-लाभ की कामना करते हैं एवं परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना प्रकट करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस युग का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् उठ गया

पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री*

श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का देहावसान दि० १७ नवम्बर '८७ को हो गया, यह उनके सुपुत्र ने रांची से समाचार दिये तो मैं हतप्रभ हो गया। पंडित कैलाशचन्द्र जी का जीवन अध्ययन काल के बाद सन् १९२४ ई० से ही सामाजिक जीवन बन चुका था। स्याद्वाद महाविद्यालय के वे एक सफल प्रधानाध्यापक थे। गत ५०-५५ साल में जो विद्वान् काशी विद्यालय से निकले, समाज में ८० प्रतिशत वे ही काम कर रहे हैं।

भा० दि० जैन संघ की स्थापना में उनका प्रमुख हाथ था, मुझे संघ समिति में सन् ४३-४४ से सदस्यता का स्थान प्राप्त था। स्वनामधन्य पं० राजेन्द्र कुमार के त्याग-पत्र के बाद सन् ५३ में पं० कैलाश चन्द्र जी ने प्रधानमन्त्री पद सम्हालने की प्रेरणा दी, पं० बलभद्र जी के द्वारा संघ से त्यागपत्र देने से जैन सन्देश का भी भार आया, दो वर्ष के बाद मैने पंडितजी का सहारा लिया और सन् ६८ तक मेरे सह-सम्पादक रहे। सन् ६९ में मेरे 'जैन सन्देश' के सम्पादक के पृथक् होने से पंडितजी ने पूर्णतया 'जैन सन्देश' का सम्पादकत्व सम्हाला और ८७ तक लगातार 'जैन सन्देश' के प्रधान सम्पादक के रूप में समाज की महती सेवा की।

उनकी लेखनी दमदार थी, आगम पक्ष सदा उनके सामने रहता था और समाज की उन्नति उनका ध्येय था। कुरीतियों, धार्मिक शिथिलताओं की ओर उनका कड़ा कदम रहता था। विरोध और निन्दा और अन्याय भी उनको सहना पड़ा, पर पैर पीछे नहीं किये। वे शूरवीर थे दृढ़ संकल्पी थे। साहित्य-क्षेत्र में षटखण्डागम, कषाय पाहुड जैसे वरिष्ट आगम के सूत्रों की तथा उनकी कठिनतम टीकाओं का अनुवाद करने में उनका प्रमुख हाथ रहा, अनेक ग्रन्थों को स्वयं टीका की, अनेक ग्रन्थों का अनुवाद भी किया।

समाज में पर्यूषण, अष्टान्हिका, महावीर जयन्ती आदि पर्वों पर तथा पंचकल्याण, वेदी प्रतिष्ठा, सभाओं के अधिवेशनों व अन्य उत्सवों पर वे जाते थे और उनके भाषण समाज को मार्ग-दर्शन देते थे।

स्वनामधन्य शताब्दि में गुरुवर पंडित गोपालदास जो द्वारा जी भी जैन धर्म की सेवा, विद्वानों का निर्माण, समाजोत्थान, शास्त्रार्थ आगम अर्थ हुए, इस वर्ष उनके सभी कार्यों की सराहना, पं० कैलाश चन्द्र जी ने की वे मेरे सहपाठी थे, भाईचारा मेरे साथ उनका अपने भाई से ज्यादा था। प्रारम्भ में ७० वर्ष तक मेरा उनका जीवन भर साथ रहा। उनके स्वर्गारोहण से समाज का एक अमूल्य रत्न खो गया। जिसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। मेरी उनके प्रति सविनय सप्रेम श्रद्धांजलि है।

---

* कटनी, (म० प्र०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हाय ! गुरुवर्य अब नहीं रहे

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री*

उस दिन ज्यों ही भिलाई नगर में मुझे यह समाचार सुनने को मिला कि पूज्य पण्डित जी का निधन हो गया है, त्यों ही तनमन में सनसनाती हुई विद्युद्धारा आर-पार हो गई। सहसा विश्वास नहीं हुआ कि जो जीवन भर लौहपुरुष की तरह घर-बाहर, देश-समाज, संस्कृत-सभ्यता के बन्धनों से जूझते रहे और अन्तिम समय तक दीर्घकालिक रुग्णता से मृत्यु-शय्या पर संघर्षरत रहे, वे आज हमारे बीच नहीं रहे। यद्यपि मन को बारंबार बहुत समझाया कि जिनकी लेखनी से जैन सन्देह की सम्पादकीय की फाइलें भरी पड़ी हैं, जिनकी मौलिक अनेक रचनाएँ उच्चकोटि के प्रकाशनों से प्रकाशित हैं, जिनके अनुदित महान् ग्रन्थों का हम रात-दिन स्वाध्याय करते हैं और जिनकी वाणी हमारे कानों में गूँजा करती हैं, भला वे कैसे हमारे बीच में नहीं हैं? किन्तु यह प्रश्न-चिह्न बार-बार मन की धारा को तोड़ देता है और हमें हारकर कहना पड़ता है कि हाय, गुरुवर्य अब नहीं रहे।

मेरे सरल और भोले मानस पर जहाँ पूज्य गुरुदेव बड़े वर्णी जी के संस्कारों का प्रभाव रहा है, वहीं पूज्य पण्डित जी से भी बहुत कुछ समझने, सुनने और सीखने को मिला है। यद्यपि स्याद्वाद महाविद्यालय में 'तत्वार्थराजवार्तिक' का ही अध्ययन उनके पास किया था, किन्तु विद्यालय छोड़कर प्रथम बार विद्वत्परिषद् के अधिवेशन में एक नवागत विद्वान् के रूप में श्रावस्ती में प्राचीन पीढ़ी के सम्माननीय सभी विद्वानों के बीच में उपस्थित होने और निबन्ध पढ़ने का जो सुयोग प्राप्त हुआ, उसका श्रेय भी पूज्य पण्डित जी को था। उन्होंने मेरे निबन्ध का बहुत ध्यान से वाचन किया था। उस समय मैंने ध्यान दिया था कि उन्होंने जहाँ ऐतिहासिक उल्लेखों के पूर्वापर सन्दर्भों को विशेष ध्यान से जाँचा है, वहीं सैद्धान्तिक विवेचन पर पूर्ण ध्यान दिया है। उस समस उनका हिलता हुआ सिर और भाव-भंगिमा यह बता रही थी कि जो कुछ लिखा गया है वह किसी की नकल न होकर विचारपूर्ण कोटि का है। इसलिए मुझे तुरन्त विद्वानों के बीच अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिल गया। किन्तु उनके इस निर्णय से उनके भीतर छुपी हुई समालोचक शक्ति की गम्भीरता को मैं भली-भाँति समझ गया था। क्योंकि मैं संकोची स्वभाव का कभी विद्वानों के बीच में बोला नहीं था और इसलिए भाषण देने या निबन्ध पढ़ने के मूड में नहीं था पूज्य बड़े पण्डित वंशीधर जी, पं० फूलचन्द जी, पं० जीवन्धर जी आदि अनेक विद्वान् उस सभा में उपस्थित थे। सभी विद्वान् उच्च कोटि के थे और उनके विचार भी वैसे ही थे। मैं उन सबको एक साथ पहली बार सुनकर और अधिक से अधिक सुनने का

* २४३, शिक्षक कालोनी, नीमच (म० प्र०)—४५८४४१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाभ संवरण नहीं कर सका था। इतने में ही अचानक सूचना मिली कि शाम अधिक हो गई है, इसलिए आपको बोलने का समय नहीं मिलेगा। मैंने मन ही मन सोचा कि चलो छुट्टी मिली। किन्तु दूसरे ही क्षण पण्डित जी की स्लिप आ गई कि कम से कम समय में आपको निबन्ध की सारी बातें कहना है। मंच पर उपस्थित होते ही कहा गया कि पाँच मिनट से अधिक का समय नहीं है। मेरे लिए तो वह परीक्षा की घड़ी थी। लेकिन निबन्ध अच्छी तरह से सोच विचार कर लिखा गया था इसलिए अपनी बात कहने में कुछ कठिनाई नहीं हुई, बल्कि छह-सात मिनट में ही सारांश धारा प्रवाह बोल गया। अन्त में जैसा स्वाभाविक था कुछ विद्वानों की दृष्टि में मैं "व्रात्यों" के सम्बन्ध में सही नहीं बोला था। किन्तु उनका समाधान करने का साहस मैं नहीं जुटा पा रहा था। उन सबका समाधान पूज्य पण्डित जी ने विस्तार से किया। उस समय सबको सुनकर मेरे मन में यह धारणा बन गई कि गुरुवर्य की यही विशेषता है कि प्राचीन और नव्य दोनों ही प्रकार की विद्याओं तथा पद्धतियों में वे पारंगत हैं। इसलिए हमें जैन विद्या के क्षेत्र में कुछ कार्य करने के लिए आगे बढ़ना है तो यही एकमात्र मार्ग है। उस दिन को स्मरण करके आभार स्वीकार करते हुए मैं बारम्बार गुरुवर्य को प्रणाम करता हूँ। यदि आप मुझे आगे न लाये होते तो मेरे जीवन में यह ज्ञान की मशाल प्रज्वलित नहीं होती और मैं भी कूप-मण्डूक की तरह शास्त्र की गद्दी पर गोता खाता रहता।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पण्डित जी की जैनधर्म और श्रमण संस्कृति में दृढ़ आस्था झलकती थी। उज्जैन का वह दिन आज भी स्मृति-पटल पर सजीव है जब जैन धर्म और वेदान्त की तुलना को विशाल आम सभा में सुनकर भूतपूर्व उपकुलपति डा० शिव-मंगल सिंह "सुमन" ने यह कहा था कि आज भी पण्डित जी के विचारों में ताजगी है, भाषा में आज भी कसावट है, छोटे-छोटे गठे हुए वाक्य उनके भाषण में सहज ही अभि-व्यक्त होते हैं। बनारसी पण्डित में जो तेजस्विता होती है वह पण्डित जी में कूट-कूट कर भरी थी। कैसा भी विषय क्यों न हो ? उनकी वक्तृता से उसमें चमक आ जाती थी। वाणी में ओज, विद्वत्ता की छाप और गुणों की गरिमा से उनका व्यक्तित्व सबसे निराला स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित था। आज तो वाराणसी में भी उनकी कोटि के विद्वान् विरल ही हैं। वे विद्वत्ता, वक्तृता और लेखन तीनों में युग-युगों तक जैन समाज में अद्वितीय स्थान बनाये रहे। आज हमें भी उनका शिष्य कहलाने में गौरव का अनुभव होता है। यह सुनिश्चित है कि ज्ञात-अज्ञात प्रेरणा के बिना मनुष्य आगे बढ़ने का पुरुषार्थ नहीं कर पाता है। अपने सादे जीवन को जिस ऊँचाई तक ले गये वह आज भी हमारे लिए आदर्श है। उनकी सेवा, निस्पृहता, सादगी, गुणग्राहकता, शोध व अनुसंधान की प्रवृत्ति आदि अनेक गुण किसी भी नवोदित विद्वान् के विकास के लिए वह दीप स्तम्भ है, जो युग-युगों तक उस मार्ग से गुजरने वालों का पथ सदा आलोकित करता रहेगा। साहित्य, समाज, संस्कृति और धर्म मानों सभी एक साथ मूर्तिमान थे। उनका वर्णन शब्दों की सीमा से परे है। आने वाले युग ही उनका वास्तविकमूल्यांकन कर सकेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन गुरुवर्य के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है कि जिस सचाई, निर्भीकता और निर्लोभता के साथ उन्होंने जैन धर्म और जिन शासन की लौहपुरुष की भाँति सभी प्रकार की विषमताओं और कटुताओं को सहकर उन्होंने रक्षा की, उस दिशा में आज के विषम वातावरण में जबकि लोभरूपी राक्षस अपने लम्बे-लम्बे हाथों को फैलाकर विद्वानों के समक्ष अकड़ कर खड़ा है, पूजा नामवरी का पोस्टर लिए सन्तों के एजेन्ट पीछे-पीछे दौड़ रहे हैं और युग की तिमिर छाया दुर्दिन की भाँति संस्कृति के आकाश में चारों ओर आच्छन्न है तथा धन-कुबेर सेठियों की बिजलियाँ समय-समय पर अपनी चमक से चकाचौंध उत्पन्न कर रही हैं, तब सत्यार्थ का पक्ष लेने वाला और सचाई को उजागर करने वाला कोई एक भी हो तो उस इमानदारी का रखवाला मैं बना रहूँ, इसी भावना के साथ उनको प्रणाम करता हूँ और यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि सदा धर्मनिष्ठ रहूगा तथा उनकी मशाल को सदा प्रकाशमान रखूँगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक उद्भट निर्भीक विद्वान् का वियोग

पं० भवर लाल न्यायातीर्थ*

यह समाचार बड़े दुःख के साथ सुना गया कि दि० जैन समाज के प्रख्यात उद्भट विद्वान् लेखक, चिन्तक, सम्पादक, मार्ग दर्शक, निर्भीक वक्ता पं० कैलाश चन्द जी शास्त्री बनारसवालों का गत १७ नवम्बर, ८७ को दिन के १२ बजे निधन हो गया। वे कर्मठ विद्वान् थे, दर्शन के चोटी के जानकार थे, निष्पक्ष निर्भीक लेखक और वक्ता थे। माँ सरस्वती की उपासना में अपना सारा जीवन लगाया। वे स्याद्वाद महाविद्यालय के स्नातक, आचार्य एवं अधिष्ठाता रहे। जीवन भर संस्था से जुड़े रहे, अनेक विद्वान् तैयार किये। पुरानी पीढ़ी के वे ठोस तलस्पर्शी विद्वान् थे। ऐसे विद्वान् के वियोग से किसे दुःख न होगा।

गत कई दिनों से आप अस्वस्थ थे और अपने पुत्र श्री सुपार्श्व कुमार के पास रांची में रहकर इलाज करा रहे थे। काफी इलाज और सेवा-सुश्रूषा के बाद भी वे बच नहीं सके और करालकाल के चपेट में आ ही गये। जिसने सुना शोक मग्न हो गया।

पंडित जी का जन्म कार्तिक शुक्ला द्वादशी सन् १९०३ को नहटोर कस्वे (विजनौर जिला) में हुआ। सन् १९१५ में स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस में पढ़ना प्रारम्भ किया। गोपाल जैन सिद्धान्त विद्यालय से शास्त्री किया और सन् १९२३ में बनारस विद्यालय में धर्माध्यापक बन गये। सन् १९२७ में स्याद्वाद महाविद्यालय से जुड़े सो आजीवन ही जुड़े हुए रहे। आपका सारा कार्य क्षेत्र यह विद्यालय रहा।

आपने अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ, पुस्तकें लिखीं। जैन धर्म आपकी सबसे विख्यात पुस्तक है जो कई जगह पाठ्य-पुस्तक के रूप में है।

पूज्य पंडित जी से मेरा सम्पर्क तब हुआ, जब दि० जैन संघ का पत्र "जैन दर्शन" निकलता था और पूज्य पंडित जी चैनसुख दास जी और पं० कैलाश चन्द जी शास्त्री उसके सम्पादक थे। मैटर जयपुर से तैयार होता था। पूज्य पं० चैनसुखदास जी के पादमूल में बैठकर मैं लिखापढ़ी करता था। बाद में तो कई वार आपसे मुलाकात हुई और अनेक बार सुना, चर्चा-वार्ता हुई। बड़ा आनन्द आता जब किसी विषय पर दो चोटी के विद्वानों परस्पर में वार्तालाप होता था।

आपका धार्मिक ऐतिहासिक ज्ञान भी विशाल था आप आर्षमार्ग के समर्थक थे कभी आगम और आर्षमार्ग के खिलाफ तनिक सी वात भी आपको सह्य नहीं थी। कैसा

---

* सम्पादक, वीर-वाणी, मनिहारों का रास्ता, जयपुर-३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही प्रभावशाली विद्वान् या संत या श्रीमान् क्यों न हो–वे निर्भीक होकर अपना मन्तव्य प्रकट करते थे।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्-परिषद् की स्थापना सन् १९४४ में कलकत्ता में वीर शासन जयन्ती पर हुई उसमें आपकी प्रमुख प्रेरणा थी, सहयोग था। आप आजीवन विद्वत्परिषद् से जुड़े रहे और उसे आपका मार्गदर्शन मिलता रहा। आप उसके संरक्षक थे। ऐसे चोटी के विद्वान् का उठ जाना विद्वत् समाज की एक बहुत बड़ी क्षति है जिसकी पूर्ति मुश्किल है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हम यूँ ही मर मिटेंगे तुमको खबर न होगी

पद्मचन्द्र जी शास्त्री*

उक्त पंक्ति एक गाने की है जो अपने में बड़ा मायना और दर्द रखती है हर, वह प्राणी जो कुछ जानता समझता है इसे जीवन में गुन-गुनाता रहता है और आखिर में चला जाता है। शायद हमारे महामना पूज्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री भी जीवन भर इसे गुन-गुनाते रहे--इसी भाव को लिखते रहे और जाते-जाते पंक्ति को यहीं छोड़ गये लोगों को गाने, समझने और मनन करने के लिए।

मुझे याद है जब मैं स्याद्वाद विद्यालय से निकाला नहीं गया था—वहां का व्यवस्थापक था। पंडित जी प्रायः शिक्षाप्रद फिल्मों के देखने के शौकीन थे। उनको और साथ में स्व० पं० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य को प्रायः किसी शाम को पिक्चर हाल में आसानी से देखा जा सकता था।

मुझे ऐसे अवसर तब सहम कर बरबस यूं ही रह जाना पड़ता था जब मैं किसी छात्र को पिक्चर देखने के दण्ड स्वरूप कुछ डांट-फटकार सुनाना चाहता था, और वह बरबस कह उठता था—पंडितजी भी तो देख रहे थे।

एक दिन हिम्मत जुटाकर, विद्यालय की छत पर घूमते हुए, बातों-बातों में मैं पंडित जी से कह ही बैठा कि कभी-कभी लड़के ऐसा जवाब देकर कि 'पंडित जी भी तो देख रहे थे' मुझे मौन रहने को मजबूर कर देते हैं। पंडित जी को मुझसे स्नेह तो था ही, उन्होंने मुझे समझाया—पद्मचन्द्र जी ! लड़कों को तो डांटना ही चाहिए, वे नासमझ होते हैं फिल्मों की अच्छाइयों की उन्हें कहाँ बोध होता है ? वे बुराईयों को ही अधिक ग्रहण करते हैं। उन्होंने आगे कहा—आप जानते हैं कि दिन भर साहित्यिक काम करता हूँ, तत्व-चिन्तन करता हूँ और मुझे पिक्चरों में भी तत्व की ही पकड़ रहती है। उदाहरणार्थं उन्होंने अपने मधुर कंठ से एक पंक्ति सुनाई—'हम यूं ही मर मिटेंगे, तुमको खबर न होगी'।

वे बोले—आप जानते हैं कि यह संसारावस्था का वह सार है जिसे खोजते-खोजते हमें यूं ही बरसों बीत गये और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इस रहस्य को खोजते-खोजते चल बसे। आदि।

आज मैं सोचता हूँ कि वास्तव में पंडित जी बड़े दूरदर्शी थे और उनका वह दूर-दर्शन तब सही रूप में अनुभव आया, जब उनकी रुग्णावस्था में कोठियाजी जैसे कई मनीषियों को बरबस समाज का ध्यान उनकी ओर खींचना पड़ा कि वह पंडितजी की

* संम्पादक, 'अनेकान्त', वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीमारदारी करे—उनकी खवर ले। यह वात अलग है कि उनके सुपुत्र आदि सम्बन्धी और कुछ पास-पड़ोसी उनकी सेवा करते रहे हों, पर अखिल जैन समाज और खासकर समर्थ और नेता टाइप समाज का यह परम कर्तव्य था। हम नहीं जानते कितनों ने पंडित जी की तीमारदारी में योग दिया और उनकी वीमारी में उनकी सुँध ली। कितनों ने उनके उपकारों को सही रूप में माना? इसे वे ही जानें? वरन, समाज के रवैये के प्रति हमारा तो वैसा ही अनुभव है जैसा कि पंडितजी ने कहा था—हम यूं ही मर मिटेंगे, तुमको खवर न होगी'। पण्डितजी चले गये और हमें खवर तक भी न हुई और हुई तो बड़ी देर से—कछुए की चाल से।

इस प्रसंग में समाज अपने अतीत को भी देखे कि उसने अतीत के अनगिनत उपकारियों के प्रति कैसा रवैया अपनाया? भले ही समाज ऐसी हस्तियों को उनके प्रति उनके जीवन काल में उन्हे अभिनन्दन देता रहा है।

उनके जयकारें वोल-माल्यार्पण करता रहा हो उसने उनसे कुछ ग्रहण नहीं किया, और जो उन्हें दिया वह अन्तिम दिनों उनके काम न आया। यदि अभिनन्दन ग्रन्थ आदि ही से सव कुछ काम हो जाता होता, तो क्यों नहीं बीमार के सिरहाने वे रख दिये जाते? जिनसे बीमार की तीमारदारी हो जाय और कोठिया आदि जैसे प्रवृद्धों को तीमारदारी के प्रति चिंतित न होना पड़े। अस्तु।

यह भी सोचने की बात है कि पण्डितजी जैसी धार्मिकता, निर्भीकता, निःस्वार्थता कितनों में है और कितनों में धर्म के प्रति वैसे समर्पण के भाव हैं जैसे उनमें थे? पण्डितजी धर्म के सही विवेचन करने में कभी चूके नहीं—'कह दिया सौ बार उनसे जो हमारे दिल में है। ऐसे पंडितजी को हमारे शत-शत नमन'।

देखना यह भी होगा कि भविष्य में कितने नवीन पंडित अपने को पंडितजी के रूप में ढाल पायेंगे? आशा तो नहीं कि केवल आजीविका की दौड़-धूपवाले पंडित पंडितजी की पंडित-परम्परा को जीवित रखने में समर्थ हो सकेंगे? और यह भी आशा नहीं कि केवल नेता टाइप लोग पंडितों की कद्र कर सकेंगे—सभी अपने-अपने स्वार्थों में लगे हैं। आज तो कई मुनियों का यह हाल है कि त्याग के स्थान पर संग्रह में और तप के स्थान पर जनता के हित के नाम पर, चिन्ताओं में तप रहे हैं। ऐसे में कैसे और किन से पूरा हो सकेगा, पंडितजी का मिशन?

हमारा विश्वास है पंडितजी का मिशन तभी पूरा होगा, जब पंडित निःस्वार्थी होंगे, धनिक जरा पंडितों की सुख-सुविधा के ध्यान रख उन्हें मान देंगे और त्यागी-मुनि आदि सामाजिक प्रवृत्तियों से दूर-अपनी आत्मा-साधना में लगे रहेंगे।

हम अपने मन्तव्य को इन शब्दों के साथ पूरा करते हैं कि—हम सब पंडितजी के आदर्श पर चलें और जो कुछ करें, धर्म समझ कर धर्म के लिए करें। वीर सेवा मंदिर परिवार पंडितजी के प्रति श्रद्धावनत हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाश चन्द्र जी

स्वरूप चन्द जैन*

लगभग एक वर्ष की कष्टप्रद बिमारी भोगने के बाद पिछले महीने रांची में श्रीमान् पं० कैलास चन्द शास्त्री सिद्धान्ताचार्य का निधन हो गया। उनके जाने से दिगम्बर जैन विद्वानों के बीच से एक सबल स्तम्भ गिर गया। पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी द्वारा रोपे गये पौधों में से बहुत से इने-गने ही अब शेष बचे हैं। पण्डित जी के जाने से उनकी संख्या एक और कम हो गई। जैन विद्वानों में सम्पादन कला के मर्मज्ञ वैसे भी बहुत कम हैं, उस तालिका में से भी बहुत ऊपर अंकित रहने वाला एक नाम पण्डित कैलाश चन्द्र जी की मृत्यु के साथ कट गया।

बारह-तेरह वर्ष की अल्पवय में एक अबोध और उपद्रवी बालक को शरण देकर पूज्य वर्णी जी ने अपने समय के शीर्षस्थ विद्वान् के रूप में समाज को समर्पित किया, बस पण्डित जी के परिचय के लिए इतना कहना ही पर्याप्त था। उन्होंने शिक्षा के प्रचार-प्रसार को और ज्ञान की आराधना को अपने जीवन का एकमेव लक्ष्य बनाकर जिस प्रकार अपने आप को एकाग्र मन से उस दिशा में लगा दिया वह हमारी पीढ़ी के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण कहा जा सकता है। बनारस विद्यालय में, प्रधानाचार्य की गरिमा मण्डित आसंदी पर दीर्घकाल तक वे विराजमान रहे इसलिए आज के अधिकांश विद्वान् किसी न किसी प्रकार उनसे जुड़ते हैं और उनके द्वारा उपकृत हैं। प्रातःस्मरणीय पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के गुरु पूज्य आचार्य ज्ञानसागर जी ने भी इसी कालावधि में बनारस विद्यालय में अध्ययन किया था। सहजानन्द वर्णी के तो वे साक्षात् गुरु रहे। पण्डित जगन्मोहनलाल जी उनके बालसखा और सहपाठी हैं। जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव सामने आए परन्तु इन दोनों विद्वानों की मैत्री और एक दूसरे के लिए मंगल-मनीषा हमेशा बनी रही। जिन्हें पण्डित जी के द्वारा ज्ञानदान प्राप्त हुआ था ऐसे अनेक लोग आज अच्छी स्थिती में धार्मिक संस्थाओं, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अपनी प्रतिभा का प्रसार कर रहे हैं।

पण्डित जी का आगम ज्ञान बहुत सूक्ष्म एवं उच्चकोटि का था। धवल ग्रन्थों की टीका में, एक विज्ञ और सिद्धहस्त टीकाकार के नाते हमेशा याद किया जाएगा। "जैन न्याय", "जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका" और "जैन साहित्य का इतिहास" पं० कैलाश चन्द जी द्वारा रचित ऐसे ग्रन्थ हैं जो अकेले ही किसी लेखक के लिए साहित्य के क्षेत्र में अमरता अर्जित करने में समर्थ हैं।

---

* सम्पादक, गोम्मट वाणी, श्रवणबेलगोला (कर्नाटक)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृत-प्राकृत आगम के हिन्दी अनुवाद और सम्पादन की दिशा में आपकी अपनी मौलिक विशेषता थी। चाहे वह "न्याय कुमुद चन्द्रोदय" हो चाहे "तत्वार्थसूत्र" हो। आशाधर जी के सागर-अनगार धर्मामृत हों या सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द आचार्य का गोमट्टसार। हर जगह आपने स्पष्ट और सुबोध भाषा में, छोटे-छोटे वाक्विन्यासों द्वारा ग्रन्थकार के अन्तर्गत अभिप्राय को खोलने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक ग्रन्थ के साथ शोधपूर्ण भूमिका देकर ग्रन्थ के पूर्वापर साहित्य और साहित्यकारों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

मुझे अनेक बार कई सप्ताहों तक पण्डित जी के सान्निध्य में रहने का अवसर मिला है। बहुत निकट से मैंने यह अनुभव किया है कि उनके व्यवहारों में भले ही बाहर से कुछ शुष्कता या नीरसपना दिखाई देता रहा हो, परन्तु भीतर से वे अत्यन्त सुकोमल, भावुक और भक्त हृदय व्यक्ति थे। अपनी कलम के साथ वे पूरी ईमानदारी बरतते थे शायद इसीलिए समाज में किसी भी पक्ष को कथित समय पर वे सन्तुष्ट नहीं रख पाए। थोड़े समय के लिए जो भी उन्हें अपना समर्थक या पक्षधर मान बैठता था शीघ्र ही उनकी लेखनी से अपनी तीखी आलोचना पढ़कर वह उन्हें विरोधी मानने लगता था। समाज के भीतर इस प्रकार के अनेक खट्टे अनुभव उनके साथ जुड़े थे और इसीलिए वे प्रायः अपने काम से काम रखने वाली नीति पर अधिक विश्वास करते थे।

एक शिकायत पण्डित कैलाश चन्द्र जी के बारे में प्रायः सुनने को मिलती थी कि मुनियों पर उनकी कोई श्रद्धा नहीं है और वे मुनिसंघों में जाने से प्रायः कतराते हैं, परन्तु इस बारे में मेरा अनुभव बिलकुल दूसरी तरह का रहा। सन् ६४ में विशुद्धमति माता जी की दीक्षा के समय जब शिवसागर जी महाराज के संघ से मेरा परिचय हुआ तब उसकी चर्चा मैंने उनसे की और एक बार संघ का दर्शन करने का उनसे आग्रह किया। वे तत्काल मेरे साथ पपौरा गए और उस संघ की शास्त्रोक्त प्रक्रियाओं से ऐसे प्रभावित हुए कि फिर हमेशा के लिए आचार्य शिवसागर जी के भक्त और आर्थिक विशुद्धमति माता जी के प्रशंसक बन गए।

लगभग दस वर्ष पहले जब पूज्य आचार्य विद्यासागर जी का कुण्डलपुर में चातुर्मास हुआ तब मैंने इस संघ के दर्शन करने का भी उनसे अनुरोध किया। मेरे ही साथ वे कुण्डलपुर गए, आचार्यश्री से अच्छी चर्चाएँ की और भक्ति-विह्वल होकर उन्हें आहार दिया। उस दिन उनकी भावुकता धार होकर बह पड़ी। प्रायः पाँच मिनिट तक यह दृश्य रहा कि वे आचार्यश्री की अंजुरी में ग्रास देते थे और उधर लगातार उनकी अश्रुधारा बह रही थी, जिसे पोंछने का काम मैं कर रहा था। आचार्यश्री मन्द-मुस्कान के साथ आहार ग्रहण कर रहे थे। अपने गुरु पूज्य वर्णी जी के बारे में तो वे अबोध बालक के समान श्रद्धा और भक्ति रखते थे। वर्णीजी की समाधि के अवसर पर लगभग पाँच सप्ताह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक दिन-रात एक करके उन्होंने सेवा की। मैं उसकी प्रत्यक्षदर्शी रहा। परन्तु संयमधारियों से शिथिलाचार तथा चमत्कार को नमस्कार उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया।

महाराष्ट्र प्रान्तीय तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अधिवेशन में मैं उन्हें कचनेर, सोलापुर, वासिम, नेमिगिरि और हैदराबाद आदि स्थलों पर ले गया। हर जगह मैंने देखा कि यद्यपि वे कड़ा और दो टूक बोलते थे, परन्तु समाज ने आदर से उन्हें सुना। उनके प्रवचन हृदय-ग्राही, सरल और रोचक हुआ करते थे और सारे समाज में उन्हें सुनने की लालसा बनी रहती थी। वह लालसा बनी है किन्तु बोलने वाला अब हमारे बीच नहीं है।

विद्वत्ता का समादर करना और उसके अवदान के प्रति मन में कृतज्ञता का भाव रखना, यही विद्वान् के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि हो सकती है। पण्डित कैलाशचन्द्रजी उसके पात्र हैं। वे हमारे बीच नहीं हैं परन्तु अपनी रचनाओं के माध्यम से वे दीर्घकाल तक हमारे बीच रहेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आधुनिक जैन पाण्डित्य का चरमोत्कर्ष

स्व० पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री

प्रो० खुशाल चन्द्र गोरावाला

पाण्डित्य से परीक्षोतीर्ण-पाण्डित्य

मूल (श्रमण) संस्कृति में गृहस्थ के छह नित्यकृत्यों या आवश्यकों में स्वाध्याय का स्थान महत्वपूर्ण है। इस परम्परा के कारण ही श्रुतधर आचार्यों, भट्टारकों और विशिष्ट विद्वानों के युग की समाप्ति के बाद भी मूल जिनधर्मी (दिगम्बरी) समाज में जैन वाङ्मय के गम्भीर स्वाध्यायी विद्वान् होते आए हैं। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल जी, आदि इस परम्परा के आधुनिक निदर्शन हैं। भारत के वौद्धिक जागरण (रीनेसां) के साथ-साथ प्राच्य अध्ययन को महत्व मिलने पर जिनधर्मी और जिन सम्प्रदायी (श्वेताम्बरी) समाज में भी परीक्षोत्तीर्ण-विद्वानों की ओर ध्यान गया। इस परम्परा में गुरुवर पूज्य श्री १०५ गणेशवर्णी अग्रणी थे। क्योंकि काशी के स्याद्वाद महाविद्यालय ने ही वाराणसी गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज तथा बंगाल संस्कृत ऐशोसियेशन कलकत्ता की परीक्षाओं को दिलाना प्रारम्भ किया था। गुरुवर गणेशवर्णी जी को जयपुर, खुरजा आदि के स्वाध्यायी पंडितों का वहुमान था तथा गुरु गोपालदास जी इस शैली के ऐसे स्वयंभू उन्नत विद्वान् थे जिन्होंने जैन सिद्धान्त के विधिवत् अध्ययन-अध्यापन के लिए विद्यालय (गोपाल सिद्धान्त विद्यालय-मुरैना) की ही स्थापना नहीं की अपितु जैन-जागरण के श्रीमान् अग्रदूत के सहयोग से परीक्षालय (माणिकचन्द्र दि० जैन परीक्षालय वम्बई) की स्थापना करके जैन पाण्डित्य की भी परीक्षोतीर्णता का रूप दिया था। जैन जागरण के इन दोनों धीमान् अग्रदूतों के प्रयास से स्व० पण्डित माणिकचन्द्र (चावली), देवकीनन्दन, वंशीधर (महरौनी), वंशीधर (शोलापुर), मक्खनलाल व खूबचन्द्र जी ऐसे उद्भट जिनवाणी वेत्ता समाज को सुलभ हुए थे तथा जैन-न्याय के प्रथम ब्राह्मण गुरुवर अम्वादास जी शास्त्री की साधना का ही यह सुफल था कि प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड, अष्टसहस्री आदि गहन तथा उत्तम ग्रंथों का पठन-पाठन सहज हो सका था तथा स्व० पण्डित घनश्यामदास (महरौनी) तथा जीवन्धर (इन्दौर) के गुरुत्व में समाज जैन-न्यायातीर्थों को पा सका था।

जैन पाण्डित्य की दूसरी पीढ़ी

इन गुरुओं की कृपा से सुलभ आधुनिक जैन पाण्डित्य को दूसरी पीढ़ी के विद्वानों में स्व० पण्डित राजेन्द्रकुमार (भा० दि० जैन संघ संस्थापक), चैनसुखदास जी (जयपुर) अजितकुमार जी (मुलतान) तथा कैलाशचन्द्र (वाराणसी) ऐसे थे, जो धर्म-समाज में १९२१ से आगे के सात दशकों में सव प्रकार से सम्बद्ध रहे हैं। शार्दूलपण्डित राजेन्द्रकुमार जी ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरुओं को सम्मान दिया, साथियों को उनकी क्षमता के अनुसार अध्यापन, सम्मानादि में लगाकर वढ़ाया और अनुज विद्वानों को समाज में प्रतिष्ठित करके ऐसे लोगों को छोड़ा है; जो समाज की संस्थाओं का आज भी संचालन कर रहे हैं। क्रान्तिकारी स्व० पण्डित चैनसुखदास जी ने जयपुर को केन्द्र बनाकर जैन समाज के श्रीमान् किन्तु प्रवाह-पतित मारवाड़ी समाज का विवेकचक्षु ही नहीं खोला था, अपितु ऐसा शिष्य-समुदाय छोड़ गए हैं जो उनकी अलख को जगाए हैं। गुरुवर पण्डित गोपालदास जी के बाद आर्य समाज और स्थितिपालक जैन समाज को जगाने का मार्ग शार्दूल-पण्डित राजेन्द्रकुमार जी पर दि० जैन शास्त्रार्थ संघ (अम्बाला) के रूप में आया था। इसमें स्व० लाला शिव्वामल (अम्बाला) अर्हद्दास (पानीपत) आदि धीमान् जहाँ उनके साथी थे वही स्व० पण्डित अजितकुमार, मंगलसेन (वेद-विशारद) वाणी भूषण तुलसीराम (बड़ौत), आदि धीमान् प्रमुख सहयोगी थे।

योग्यतम सहाध्यायी

स्व० पण्डित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री पण्डित राजेन्द्रकुमार जी के व्युत्पन्न, शान्त तथा अनुशासित सहाध्यायी थे। इनकी वाणी में रस था, स्वभाव में मधुरता, व्यवहार में सरलता तथा आगमानुकूल कथन में निर्भीकता थी। फलतः शार्दूल-पण्डित ने इनकी क्षमताओं को पुष्ट करने और समाज को उनसे लाभान्वित होने का त्रिविधयोग जुटाया। और भारतीय बौद्धिक वर्ग को समर्पित प्राचार्य, युक्तिशास्त्रानुकूल मार्गदर्शक—सम्पादक तथा आधुनिक शोध शैली-परक राष्ट्रभाषा के मौलिक लेखक के रूप स्व० पं० कैलाशचन्द्र का पूरी आधी शती तक; प्रदर्शन-विहीन तथा विनम्र स्पष्ट नेतृत्व प्राप्त रहा है।

धर्मशास्त्री

स्वर्गीय पं० कैलाशचन्द्र जी ने अपने गुरुओं से प्राच्यपद्धति (विषम का सांगोपांग वाचन, धारण तथा आम्नाय या मुख से पारायण) के अनुसार सिद्धान्त-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उन्हें अपने पठित ग्रन्थ कण्ठस्थ थे। स्याद्वाद महाविद्यालय द्वारा १९२७ में धर्माध्यापक रूप से उन्हें बुलाये जाने का यही कारण था। उनके अंग्रेज सहाध्यायी पं० जगमोहनलाल शास्त्री (कटनी) ने भी इनकी ग्रन्थो-परीस्थिति की उत्कृष्टता को स्वीकार करके जैन समाज के प्रथम तथा सर्वोपरि गुरुकुल (श्री स्याद्वाद महाविद्यालय के धर्माध्यापकत्व के लिए इन्हें ही उत्तम माना था तथा वह सर्वथा सत्य भी निकला। क्योंकि ये समय के पावन्द स्वाल्प, संतुष्ट तथा छात्र हितलीन अध्यापक थे तथा अपने सहाध्यायियों के समान अध्ययन या विद्यार्थित्व का त्याग नहीं कर सके थे। इन्होंने छात्रों के साथ श्वेताम्बर न्यायतीर्थ परीक्षादि ही नहीं उत्तीर्ण की थी अपितु प्राच्यशोध की भिज्ञता के लिए अपने छात्रों से ही पढ़कर मैट्रिक (अंग्रेजी) परीक्षा भी पास की थी तथा व्युत्पन्न छात्रों के सहयोग से इतिहास-पुरातत्व एवं पाश्चात्यशोधकों द्वारा कृत, प्राच्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाङ्मय की उस समकालीन शोध की भी पूर्ण भिज्ञता प्राप्त की थी जो अंग्रेजी या प्राकृत भाषादि के कारण, इनके पूर्ववर्ती जैन-जैनेतर मनीषियों को दुर्लभ थी।

ख्याति से परे

स्व० पण्डित जी की इस साधना का प्रथम प्रसून 'न्याय कुमुदचन्द्र' का प्रथम भाग था, जिसमें स्व० पण्डित महेन्द्रकुमार जी सहयोगी थे तथा स्व० पण्डित नाथूराम 'प्रेमी' की प्रेरणा से यह कार्य पण्डित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने हाथ में लिया था तथा संकल्प किया था कि इसका सर्वाङ्ग समग्र संपादन करेंगे। इस संकल्प की पूर्ति के लिए प्रवास, पाठमिलान आदि शारीरिक श्रमसाध्य कार्यों को स्व० पण्डित महेन्द्रकुमार जी ने किया था। फलतः उनके उत्साह को स्थायित्व देने के लिए पण्डित कैलाशचन्द्रजी ने इन्हें ही सम्पादक के रूप में स्वीकार किया था और अपने को केवल भूमिका लेखक ही रखकर तत्कालीन जैन मनीषियों (स्व० पण्डित सुखलाल जी संघवी, आचार्य जुगुलकिशोर मुख्तारादि) को चकित कर दिया था तथा अपनी सूक्ष्म परख और तटस्थ दृष्टिकोण का लोहा मनवा दिया था; जिसके दर्शन उनकी मौलिक कृति 'जैन इतिहास की पूर्व पीठिका' में होते हैं।

हाजिर में हुज्जत नहीं गैर की तलाश नहीं

जब आर्य समाज के प्रमुख शास्त्रार्थी विद्वान् ने ही जैन तत्त्व-ज्ञान पर मुग्ध होकर स्वामी कर्मानन्द रूप धारण कर लिया तो सामाजिक उत्थान की उपशम श्रेणी के ज्वलन्त निदर्शन, स्व० पण्डित राजेन्द्र कुमार जी ने 'शास्त्रार्थ संघ' के विधायक रूप को प्रधानता दी और शार्दूल-पण्डित से प्रभावित जिनधर्मी समाज ने अग्रज जिनधर्मी संस्थाओं (भा. महासभा तथा परिषद्) से अधिक महत्व भा० दि० जैन संघ को दिया तथा एक दशक में ही इसका मुखपत्र, सरस्वती भवन, प्रकाशन, भवन तथा (जीवनदानी, स्वल्पसंतुष्ट तथा समर्पित) दर्जनाधिक वक्ता, लेखक तथा संचालकों ने संघ को जीवित संस्था बना दिया था।

सर्वोत्तम प्रेरित सहयोगी

इस यात्रा में स्व० पण्डित कैलाशचन्द्रजी सर्वोपरि थे क्योंकि वे 'अहिंसा' 'भगवान् महावीर का अचेलक धर्म' आदि पुस्तिकाएँ (ट्रेक्ट) भी उसी गम्भीरता से लिखते थे। जिसकी झलक 'जैन सन्देश' के सम्पादकीयों में स्पष्ट थी। 'जैन धर्म' ऐसी मौलिक सुपाठ्य कृति ने उत्तराकालीन लेखकों को इतना प्रभावित किया था कि इसके तुरन्त बाद ही समाज को 'जैनशासन' तथा 'जैन दर्शन' पुस्तकें देखने को मिलीं थीं। यही कारण था कि संघ ने जब जयधवला का प्रकाशन हाथ में लिया तो पण्डित कैलाशचन्द्र ही प्रधान सम्पादक रहे। गो कि वे मुक्तकण्ठ से कहा करते थे कि इन मूल सिद्धान्त-ग्रन्थों के उद्धार का श्रेय, धीमानों में स्व० पण्डित हीरालाल (साढ़मल), फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री तथा लालचन्द्र शास्त्री, (वीर सेवा मन्दिर) को, इनके प्रधान सम्पादकों [स्व० हीरालाल, आ० ने० उपाध्ये] की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपेक्षा अधिक है। तात्पर्य यह कि सिद्धान्ताचार्य कैलाशचन्द्र जी को साथियों या समाज ने जो कार्य या पद दिया, उसे उन्होंने ध्यानतदारी से संभालकर सुख माना तथा अन्य विद्या-व्यासंगियों के समान किसी दायित्व या प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न नहीं किया। वे कहा करते थे कि 'मैं तो धर्म और अधर्म द्रव्यों के समान तटस्थ या अन्यथा सिद्ध कारण हूँ। विद्यालय स्याद्वाद महाविद्यालय, संघ तथा प्रकाशनादि के लिए होते हैं तो मैं अनुगामी होने में भी संकोच नहीं करता। 'नहीं होते' तो मैं अग्रगामी नहीं बनता।'

स्पष्ट ज्ञानपुंज

उनका अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन, लेखन तथा सम्पादन प्रसाद, माधुर्यपूर्ण एवं ससार होता था। वे जिन ग्रन्थों को पढ़ते-पढ़ाते थे वे या उनकी वस्तु (मूल विषय) उनकी स्मृति में अङ्कित हो जाती थी। यही कारण है कि अपने जीवन के अन्तिम तथा कर्मठ दशकों में 'जैन न्याय' जिन वाङ्मय के इतिहास के समस्त खण्डों को ही नहीं, बल्कि जीव-काण्ड, कर्मकाण्ड आदि को साधारण स्वाध्यायियों के लिए सुगम कर गए हैं। प्रारम्भ में 'जयधवला' कार्यालय के कारण बना अपराह्न २ से ५ बजे तक बैठने, चिन्तन और लेखन का दायित्व उनका स्वभाव बन गया था। जो जब तक किसी प्रबल असाता के उदय अर्थात् १९८० तक एक रूप से चला। इसके बाद कुछ तथोक्त-प्रशंसकों के कारण प्रकृति में परि-वर्तन आया। तथापि उन्होंने हार नहीं मानी। यही कहते रहे कि 'अभी मुझे अपने में बुढ़ापे (वार्द्धक्य) के कोई लक्षण नहीं दीखते।' शारीरिक दृष्टि से यह सत्य भी था। क्योंकि युवावस्था के साथ ही दमापीड़ित अपनी काया को उन्होंने जिह्वा-निग्रह, औषधि तथा पोषक-ग्रहण और पत्नी को तीसरी शल्य-प्रसूति जन्य मृत्यु के संयोग से बचाने के लिए कृत पुंवेद-नियन्त्रण तथा संयम द्वारा ऐसा कर लिया था कि परिणत वय में उन्हें देखकर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि ये कभी दमा के रोगी रहे होंगे। वे अपने जीवन से संतुष्ट थे। कहा करते थे—

अन्त समय

"अभी क्या जाना, अन्त समय ठीक बीत जाये तो मानूँगा।" क्या उन्हें अपने भविष्य का आभास था। दाँत, आँख, कान और अन्त में स्मृति ने भी उनका ख्याल नहीं किया। जिनधर्मी वाङ्मय का चलता-फिरता रूप विवश हो गया; पूर्वबद्ध निकाचित उदय के सामने। उनसे अन्तिम भेंट के बाद से ही सोचता हूँ—'मित्र-पुष्ट एवं मान्य जैन वाङ्-मय का संयत एवं समर्पित साधक, अब नहीं रहेगा। जिज्ञासाएँ अब भटकेंगी।' वह दीपक बुझ गया। अपने गुरुओं, साथियों और हम अनुजों से अधिक कर्मठ, प्राप्तात्प-सन्तोषी तथा आ-चैतन्य शारदा-साधक को यदि बुद्धिभ्रंश हो सकता है, तो हमारा भविष्य ? "विधिरहो बलवानिति मे मतिः" शत-शत प्रणामों सहित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सरस्वती-पुत्र पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रो० उदयचन्द्र जैन*

प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुवर सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के आकस्मिक निधन से जैन विद्वज्जगत् में जो रिक्तता आ गयी है उसकी पूर्ति निकट भविष्य में संभव नहीं है। वे जैन समाज के ही नहीं किन्तु भारतीय समाज के मूर्धन्य विद्वान् थे। वे प्रारंभ में काशी स्थित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय के छात्र थे और अध्ययन समाप्ति के बाद वे इसी महाविद्यालय के प्राचार्य बने। उनके ३०–४० वर्ष के प्राचार्य काल में स्याद्वाद महा विद्यालय में अध्ययन करके जैन दर्शन, न्याय, साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष आदि विषयों के सैकड़ों ऐसे ठोस विद्वान् निकले जो भारत में ही नहीं किन्तु विदेशों में भी शिक्षा आदि के विभिन्न क्षेत्रों में सफलतापूर्वक कार्यरत हैं। वर्तमान में स्याद्वाद महाविद्यालय के अनेक स्नातक विभिन्न विश्वविद्यालयों में अच्छे-अच्छे पदों पर कार्य कर रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पं० जी के समय में शिक्षा का स्तर बहुत अच्छा था और उस समय प्रत्येक विषय के ठोस विद्वान् तैयार होते थे।

मैंने सन् १९४० में स्याद्वाद महाविद्यालय में प्रवेश लेकर सन् १९४९ तक वहाँ शिक्षण प्राप्त किया है। इन वर्षों में मैंने पूज्य पं० जी के चरणों में बैठकर जैन दर्शन के उच्च कोटि के ग्रन्थों का अध्ययन किया है। पं० जी की पाठन शैली की विशेषता यह थी कि वे प्रतिदिन प्रत्येक विद्यार्थी से पिछले दिन का पाठ सुनने के बाद ही अगला पाठ पढ़ाते थे। इसका फल यह होता था कि प्रत्येक छात्र परिश्रमपूर्वक पाठ याद करता था और परीक्षा के समय उसे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होता था। इसी के फलस्वरूप अपने विषयों के निष्णात् विद्वान् तैयार होते थे। आज वह बात कहाँ है।

पूज्य पं० जी यथार्थ में सरस्वती-पुत्र थे। वे जैन विद्या के जैन सिद्धान्त, जैनागम, जैन न्याय, जैन साहित्य आदि प्रत्येक अंग के पूर्ण ज्ञाता थे। वे एक कुशल वक्ता, कुशल लेखक, कुशल सम्पादक, अनुवादक, अच्छे साहित्य निर्माता और निर्भीक पत्रकार थे। प्रायः देखने में आता है कि कोई व्यक्ति एक विषय का ही विशिष्ट विद्वात् होता है किन्तु वे अनेक विषयों के विशिष्ट विद्वान् थे। यह सब उनके ऊपर सरस्वती की कृपा का ही फल रहा है। पूज्य पं० जी में उच्च कोटि की वक्तृत्व कला एवं लेखन कला थी। प्रायः देखा जाता है कि जो अच्छा वक्ता होता है वह कुशल लेखक नहीं होता और जो अच्छा लेखक होता है वह कुशल वक्ता नहीं होता। किन्तु पं० जी इसके अपवाद थे। सम्पूर्ण जैन समाज के लोग पर्युषण पर्व आदि अवसरों पर पं० जी के भाषण को सुनने के लिए लालायित रहते

* भू० पू० दर्शन विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे। यही कारण है कि कई महीनों पहले से अनेक स्थानों से उन्हें बुलाने के लिए निमंत्रण आते रहते थे और पं० जी यथासंभव भारत के अनेक नगरों में जाते भी थे। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में भी समय-समय पर पं० जी के महत्त्वपूर्ण भाषण हुए हैं।

पं० जी के कुशल लेखक होने का प्रमाण यह है कि उनके द्वारा लिखा गया साहित्य विशाल है। जैन दर्शन, जैन सिद्धान्त और जैनागम के उच्च कोटि के अनेक ग्रन्थों का लेखन सम्पादन और अनुवाद पं० जी की लेखनी द्वारा हुआ है। उनके द्वारा लिखित 'जैन न्याय' नामक पुस्तक बतलाती है कि उन्हें न्यायशास्त्र का कितना अच्छा ज्ञान था। वे जैन साहित्य के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। उनके द्वारा लिखित 'जैन साहित्य की पूर्व पीठिका' तथा 'जैन साहित्य प्रथम और द्वितीय भाग' को पढ़ने से ज्ञात होता है कि पं० जी ने कितने परिश्रमपूर्वक उक्त ग्रन्थों को लिखा है। कहने का तात्पर्य यह है कि पं० जी जिस विषय पर लेखनी चलाते थे उसमें जान आ जाती थी। पं० जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की प्रस्तावनाएं इतनी उच्च कोटि की हैं कि उन्हें शोधप्रवन्ध कहना अधिक उपयुक्त होगा। यदि ऐसी प्रस्तावनाओं का लेखक कोई अन्य (अजैन) विद्वान् होता तो कई विश्वविद्यालय उन्हें सम्मानार्थ डाक्टरेट की डिग्री संहर्ष प्रदान करते।

पं० जी उच्च कोटि के निर्भीक पत्रकार थे। भारतवर्षीय दि० जैन संघ (मथुरा) के साप्ताहिक पत्र 'जैन सन्देश' के वे अनेक वर्षों तक सम्पादक, प्रधान सम्पादक रहे। उनके द्वारा लिखे गये सम्पादकीय लेख समाज के लिए वहुत ही प्रेरणाप्रद और मार्गदर्शक होते थे। जैन सन्देश का प्रत्येक पाठक पं० जी के सम्पादकीय को पढ़ने के लिए उत्सुक रहता था। वे सम्पादकीय लिखने में सदा निर्भीक रहे। उन्होंने परिस्थितियों से कभी समझौता नहीं किया और उनका जो सिद्धान्त था उस पर वे सदा अटल रहे। उदाहरण के लिए वे मुनिभक्त तो थे किन्तु मुनियों के शिथिलाचार के तीव्र विरोधी भी थे। यही कारण है कि उन्हें कभी-कभी मुनियों के शिथिलाचार के विरोध में लेखनी चलानी पड़ी। इतना ही नहीं, वर्तमान में जैन युवकों में जो शिथिलाचार की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है उस पर भी पं० जी ने समय-समय पर लिखा है। यदि पं० जी द्वारा लिखे गये समस्त सम्पादकीय लेखों का संकलन कर उन्हें एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जाय तो जैन समाज के लिए यह एक अमूल्य निधि होगी।

पं० जी एक कुशल प्रशासक थे। स्याद्वाद महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर रहकर उन्होंने सर्व छात्रों एवं अध्यापकों पर अपना पूर्ण प्रभाव रक्खा। वे स्वयं अनुशासन प्रिय थे और चाहते थे कि समस्त छात्र और अध्यापक अनुशासन में रहें और ऐसा हुआ भी। शायद ऐसा कोई छात्र हो जिसने पं० जी के आदेश का उल्लंघन किया हो। स्याद्वाद महाविद्यालय और पं० जी का परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध था। अर्थात दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता था। स्याद्वाद महाविद्यालय के संस्थापक प्रातःस्मरणीय पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी ने अपनी जीवनगाथा में लिखा है कि पं० जी स्याद्वाद महा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्यालय के प्राण हैं। उनका यह कथन शत प्रतिशत सत्य प्रमाणित हुआ है। प्राचार्य पद से निवृत्त होने पर अनेक संस्थाओं की ओर से पं० जी को आमंत्रण मिले कि आप हमारे यहाँ आ जाइये। परन्तु पं० जी स्याद्वाद महाविद्यालय का मोह कैसे छोड़ सकते थे। अतः अधिष्ठाता पद पर रह कर वे स्याद्वाद महाविद्यालय की सेवा में निःस्वार्थ भाव से पूर्ववत् तत्पर रहे। तात्पर्य यह है कि उन्होंने जीवनपर्यन्त स्याद्वाद महाविद्यालय की तन-मन से सेवा की है। सेवा के ऐसे उदाहरण वहुत कम मिलेंगे।

यह सब जानते हैं कि वर्तमान युग अर्थप्रधान युग है। ऐसे युग में भी पं० जी की वृत्ति सदा निःस्पृह रही है। उन्होंने अल्प वेतन में सन्तोषपूर्वक अध्यापन कार्य किया है। वे प्रत्येक वर्ष पर्युषण पर्व आदि अवसरों पर समाज के निमंत्रण पर बाहर जाते थे और अपने जीवन में स्याद्वाद महाविद्यालय के लिए लाखों रुपये समाज से लाये किन्तु उन्होंने समाज से अपने लिए मार्ग-व्यय को छोड़कर एक पैसा भी नहीं लिया। निःस्पृह वृत्ति का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है। वे स्याद्वाद महाविद्यालय के प्राण तो थे ही, इसके अतिरिक्त दि० जैन संघ भारतीय ज्ञानपीठ, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, प्राकृत शोध संस्थान वैशाली आदि अनेक संस्थाओं से पं० जी का घनिष्ट सम्वन्ध रहा है। तात्पर्य यह है कि पं० जी स्वयं एक संस्था थे।

पं० जी अनुशासन में कठोर होते हुए भी स्वभाव से सरल थे। सभी छात्रों पर उनका पितृ तुल्य स्नेह रहता था और वे सबकी उन्नति की कामना करते थे। पं० जी का मुझ पर प्रारंभ से ही विशेष स्नेह रहा है। सन् १९६० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में वौद्ध दर्शन के प्राध्यापक पद पर मेरी नियुक्ति हुई। उस समय मैं विदिशा में था। कुछ कारणों से मैं यह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि वाराणसी जाऊँ या यहीं रहूँ। क्योंकि उस समय वाराणसी आने में कोई आर्थिक लाभ प्रतीत नहीं हो रहा था। किसी सूत्र से पं० जी ने मुझे स्वयं एक पत्र लिखा कि सब विकल्पों को छोड़ कर शीघ्र यहाँ आ जाओ। पं० जी का पत्र मिलते ही मैं सर्व विकल्पों को छोड़कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आ गया। इस बात से पं० जी को परम प्रसन्नता हुई। उसी समय श्रीमान् पं० दरवारी लाल जी कोठिया की नियुक्ति भी जैन दर्शन के प्राध्यापक पद पर हुई थी। सौभाग्य की वात यह थी कि पं० जी, कोठिया जी और मैं तीनों नित्य सायंकाल आनन्द पार्क में एक घण्टा बैठते थे और धार्मिक सामाजिक राजनीतिक आदि विषयों पर चर्चाएं हुआ करती थी। यह क्रम ९०-२५ वर्ष तक वरावर चलता रहा। अब तो वे सब बातें स्मृतिमात्र शेष रह गई हैं।

कुछ वर्षों बाद कोठिया जी जैन-बौद्धदर्शन में रीडर हो गये और जब सन् ७४ में कोठिया जी उक्त पद से सेवा निवृत्त हुए तब पं० जो इस बात के लिए उत्सुक थे कि अब में रीडर हो जाऊँ और इसके लिए पं० जी का पूर्ण आशीर्वाद मुझे प्राप्त था। अतः कुछ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय बाद मैं जैन-बौद्धदर्शन में रीडर हो गया और इसके बाद दर्शन विभागाध्यक्ष भी हो गया। यह सब पूज्य पं० जी के आशीर्वाद और कृपा का ही फल रहा है।

पं० जी में कितनी विशेषताएँ अथवा गुण थे उन सबका वर्णन करना यहाँ संभव नहीं है। वे सादा जीवन और उच्च विचार के प्रतीक थे। उनका जीवन संयमी और पवित्र था। यह कहा जा सकता है कि उनका जीवन एक तपस्वी जैसा था। वे कहा करते थे कि आगे ऐसे ही किसी पवित्र कुल में जन्म हो जो मांसाहारी न हो। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनको सद्गति अवश्य प्राप्त हुई होगी। उनके आकस्मिक निधन से जैन समाज तथा विद्वत्समाज को जो महती क्षति हुई उसकी पूर्ति निकट भविष्य में संभव नहीं है। अन्त से मैं पूज्य पं० जी के चरणों में अपनी सादर श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युगपुरुष सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचंद्र शास्त्री

डॉ० फूल चन्द जैन प्रेमी*

पूज्य गुरुवर्य पंडित कैलाशचन्द जी शास्त्री युगपुरुष थे। उनका अभाव लम्बे समय तक महसूस किया जाता रहेगा। श्रेष्ठ अध्यापक, विद्वान्, अनेक जैन ग्रन्थों के लेखक, सम्पादक एवं वक्ता के रूप में वे लगभग साठ वर्ष तक पूरे भारत में विशेषकर जैन समाज में छाये रहे। वक्तृत्व और लेखन दोनों कलाओं के बेजोड़ विद्वान् थे। जैन साहित्य का इतिहास, जैन-धर्म, जैन-न्याय आदि आपकी अनुपम कृतियाँ हैं। भारतीय इतिहास के बीच जैन-धर्म और श्रमण संस्कृति की प्राचीनता को प्रमाणित करने वाले विद्वानों में से एक थे। जयधवला, भगवती आराधना, ज्ञानार्णव गोमट्टसार, धर्मामृत आदि पचासों ग्रन्थों का विद्वतापूर्ण श्रेष्ठ सम्पादन आपकी गहनविद्वत्ता और जैनेतर शास्त्रों के गंभीर अध्ययन का परिचायक है।

दो दशकों से भी अधिक समय तक मेरा निकट का सम्पर्क रहा है। पाँच वर्षों तक श्री स्याद्वादमहाविद्यालय, वाराणसी में मुझे उनसे जैन-धर्मदर्शन के विभिन्न शास्त्रों को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रत्येक वर्ष की कक्षा पंडित जी के पास प्रातः ६ बजे प्रारंभ होती थी। हमारी कक्षा में १०-१२ छात्र थे, कक्षा में पहुँचते ही सर्वप्रथम पिछले दिन का पढ़ाया हुआ, पाठ प्रत्येक छात्र को मौखिक सुनाना पड़ता था। जब कभी कोई नहीं सुना पाता तो एक-दो संक्षिप्त वाक्यों में ही ऐसी ताड़ना मिलती कि उसे कोई कभी भूल नहीं पाता। विद्यालय में यह वाचिक सजा ही एक चर्चा का विषय बन जाती थी। प्राचार्य के रूप में पं० जी का कार्यकाल विद्यालय का 'स्वर्णयुग' कहा जाता है। कड़ा अनुशासन, प्रत्येक कार्य समय पर और नियमतः करना-कराना उनके स्वभाव का प्रमुख अंग था। यही कारण है कि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से संबद्ध सभी महाविद्यालों में स्याद्वाद महाविद्यालय एक आदर्श और सभी क्षेत्रों में अग्रणी महाविद्यालय था। विद्यालय का मामला हो या धर्म, सिद्धान्त, समाज एवं संस्कृति का, वे 'दो टूक' बात कहने और लिखने में कभी संकोच नहीं करते थे।

हम लोग जब कभी विद्यालय की अथवा अपनी कोई बात कहने पं० जी के पास जाते तब डर और संकोच के कारण आधी बातें तो कहना ही भूल जाते और जो कहपाते उनका जो उत्तर मिलता उससे संतुष्ट होकर लौट आते, कभी जवाब-सवाल का साहस ही न होता। पंडित जी को सदा सभी छात्रों के अच्छे भविष्य की चिन्ता बनी रहती। विद्यालय के छात्रों की स्याद्वाद प्रचारणी सभा के माध्यम से सभी छात्रों को प्रत्येक सप्ताह

* अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविध-विषयों पर बोलने आदि की कलायें सिखाई जाती थी। इसी का परिणाम है कि उस समय के निकले हुये पंडित जी के हजारों शिष्य आज देश के कोने-कोने में अच्छे स्थानों और पदों पर सेवारत हैं।

पूज्य पंडित जी का स्नेह मुझे प्रारंभ से ही प्राप्त रहा है। सन् १९७१ में पं० जी मुझे पर्युषणपर्व पर मुरादाबाद लिवा ले गये, मुझे इस अवसर पर उनसे वहुत कुछ सीखने समझने का अवसर मिला। पू० पं० जी के महान् प्रवचनों को सुनता और शास्त्र प्रवचन की शैली को देखता तथा श्रोताओं की उमड़ती भीड़ देखता तो दंग रह जाता था।

सन् १९७९ को जब मेरी नियुक्ति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालम के जंनदर्शन विभाग में प्राध्यापक के रूप में हुई तो सर्वाधिक खुशी पू० पं० जी को हुई। नियुक्ति के वाद पं० जी एवं पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री से काफी समय कुछ प्रमुख सिद्धान्त एवं दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा अनेक विषयों पर निरन्तर विचार-विमर्श चलता रहता था। सायंकाल पं० जी मंदिर में सामायिक के वाद दुर्गाकुण्ड के पास स्थित आनन्द पार्क में डेढ़-दो घंटे नित्य वैठा करते। यहीं पर पं० दरवारी लाल जी कोठिया एवं प्रो० उदयचन्द जी जैन पं० जी के साथ वैठते। मैं भी प्रायः रोज इस विद्वन् मंडली के सानिध्य वैठने का सौभाग्य प्राप्त करता और विविध विषय की चर्चा में भाग लेता।

जव मैं पं० जी का छात्र था, तवके और इस समय के मेरे प्रति पू० पं० जी के व्यवहार में मैंने काफी परिवर्तन देखा जहाँ पहले कड़े अनुशासन के कारण हम लोग पं० जी के सामने जाने से डरते वहीं अव पूज्य पं० जी हम लोगों के संकोच के वावजूद समानता का व्यवहार करते और जब भी पं० जी के विद्यालय वाली कक्ष में जाते तो पं० जी प्रसन्नमुख अपने बगल वाली कुर्सी पर वैठने को कहते। इतना ही नहीं जब कभी पं० जी को किसी पुस्तक की जरूरत पड़ती या कोई कार्य होता तो वे निःसंकोच मेरे घर पधारने की कृपा करते तो पं० जी की इस सरलता को देखकर हम लोग अपने को कृतार्थ अनुभव करते।

पर्युषण पर प्रवचनार्थ निमंत्रण आने पर भी मैं संकोचवश नहीं जाता था परन्तु पूज्य पंण्डित जी तथा पू० पं० फूलचन्द जी शास्त्री तथा पूज्य पं० जगमोहन लाल जी ने जव प्रेरणा देते हुये मुझसे कहा कि ऐसे अवसरों पर तुम्हें समाज के बीच अवश्य जाना चाहिये क्योंकि इससे ज्ञानवृद्धि होती है तथा समाज सेवा का अवसर मिलता है। साथ ही पं० जी ने हँसते हुये कहा कि हम लोग तो 'पके पान के पत्ते' हैं अब तो आप लोगों को ही आगे आकर हमलोगों की परम्परा और कार्यों को सम्हालना है। तब से मैंने निश्चय किया कि पूज्य वर्णी जी की प्रेरणा से जैन धर्म-दर्शन-संस्कृति एवं सिद्धान्तों की रक्षार्थ एवं विकास हेतु जैन समाज द्वारा स्थापित इन जैन संस्कृत विद्यालयों का हमारे ऊपर महान् उपकार है। यदि ये विद्यालय और एसे गुरुवर्य न होते तो हमलोग भी अपने-अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाँव तक सीमित रह जाते। इस अपूर्व जैन जैन धर्म,अध्यात्म, सिद्धान्त, दर्शन, साहित्य और संस्कृति रूपी अमूल्य धरोहर के महत्त्व और ज्ञान प्रकाश से सदा के लिए वंचित रह जाते। इन सबकी पहचान कराने और महत्त्व को समझाने में इन विद्यालयों एवं गुरुजनों का महान योगदान है। अतः गुरुजनों के आदेशानुसार समाज के बीच जाकर कुछ सेवा करने का निश्चय किया। पं० जी हमेशा उत्साहवर्धन करते रहते थे। एक बार चर्चा के दौरान मुझसे कहा कि तुम्हारे नाम के अनुसार तुम पर दुहरी जुम्मेदारी है तुम्हें नामानुसार पं० फूलचन्द जी एवं पं० नाथू राम प्रेमी की परम्परा और नाम को कायम रखना है। ऐसा सुनते ही मैं लज्जा से झुक गया क्योंकि अपने अन्दर कितनी कमी है, मैं स्वयं जानता हूँ, मैं तो भ० जिनेन्द्र देव से सदा यही प्रार्थना करता हूँ कि इन गरिमा मंडित विद्वानों के शतांश बराबर भी कार्य कर सकूं तो अपने जीवन को कृतार्थ मानूंगा।

सन् १९८० दिल्ली में जब पं० जी का सार्वजनिक भव्य अभिनन्दन समारोह मनाया गया, उस शुभ अवसर पर मैं भी सपरिवार इसमें सम्मलित हुआ था। इस समारोह के अन्तर्गत आयोजित संगोष्ठी में सैकड़ों विद्वानों ने शोध-निबंध प्रस्तुत किये थे। विद्वत् परम्परा के अनुरूप यह एक अद्वितीय अभिनन्दन समारोह था।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में महावीर जयन्ती तथा अन्य संगोष्ठियों में जब भी मैंने पं० जी से बोलने हेतु अनुरोध किया, तब उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। इन अवसरों पर उनके अनेक ओजस्वी भाषण हुये। जिनमें उन्होंने जैन साहित्य और इतिहास की प्राचीनता तथा जैन धर्म के सिद्धान्तों को, जिस प्रभावक शैली में प्रस्तुत किया उससे अनेक बड़े-बड़े वैदिक-अवैदिक विद्वान् अत्यन्त प्रभावित हुये और जैन धर्म तथा संस्कृति की महत्ता को स्वीकार किया।

पूज्य पं० जी एक वर्ष से अधिक समय तक अस्वस्थ रहे फिर भी देव दर्शन सामायिक एवं लेखन आदि दैनिक कार्य नियमित चलते रहते थे। अधिक अस्वस्थ होने पर उनकी स्मरणशक्ति कमजोर हो गई थी किन्तु हमलोग जब भी उनके पास जाते वे आवाज के आधार पर हमें पहचान लेते और विश्वविद्यालय, विद्यालय तथा घर के समाचार पूछ लेते थे।

आज पूज्य पं० जी हमारे बीच नहीं हैं किन्तु उनका सम्पूर्ण जीवन, उनकी विविध प्रवृत्तियों और उनका विपुल साहित्य हमारे सामने आदर्श रूप में है, जो युगों-युगों तक हम सभी का पथ आलोकित करता रहेगा। ऐसे पूज्य गुरुवर्य को शतशः नमन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री और उनकी अप्रकाशित कृतियाँ

डा० कमलेश कुमार जैन *

देवाधिदेव सुपार्श्वनाथ भगवान् की जन्मभूमि भद्रवनी (भदैनी), वाराणसी में जिन-मन्दिर से संलग्न स्याद्वाद महाविद्यालय का वह कक्ष, जिसमें स्वनामधन्य सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री बैठते थे, आज श्रद्धेय पूज्य पण्डितजी के महाप्रयाण के पश्चात् सूना हो गया। यद्यपि वहाँ अन्य सभी भौतिक सामग्री विद्यमान हैं, किन्तु वातावरण में सजीवता घोलनेवाला वह चैतन्य महापुरुष अब वहाँ नहीं है, उस पर्याय में नहीं है।

विगत दो-तीन दशकों से पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री और काशीस्थ श्री स्याद्वाद महा-विद्यालय—दोनों पर्यायवाची बन गये थे और उन दोनों का वह अटूट सम्बन्ध आज भी जन-जन के हृदय-पटल पर अंकित है। एक का स्मरण करते ही दूसरे का स्मरण स्वतः हो जाता है। स्याद्वाद विद्यालय के प्रति पण्डितजी का अनन्य प्रेम था। विद्यालय को अपनी सेवाएँ देने के आरंभ से और प्राचार्य पद से सेवामुक्त होने के पश्चात् भी पण्डितजी विद्यालय को अपना मानते थे। यही कारण था कि प्रतिवर्ष पर्यूषण पर्व, अष्टाह्निका पर्व और महावीर जयन्ती जैसे धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों में भारत के कोने-कोने में जाकर प्रवचन आदि के माध्यम से समाज में जागृति लाते थे और लोगों को विद्यालय के लिये आर्थिक सहयोग करने हेतु प्रेरणा देते थे। फलस्वरूप विद्यालय के पास लाखों रुपये का ध्रौव्य फण्ड आज भी सुरक्षित है। श्रद्धेय पण्डितजी की इन्हीं सब विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए विद्यालय के संस्थापक एवं प्रथम छात्र पूज्य क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी ने उन्हें 'विद्यालय के प्राण' इस नाम से सम्बोधित किया था।

आज भारतवर्ष के कोने-कोने में जो जैनविद्या एवं प्राकृत के विद्वान् दिखलाई दे रहे हैं, उनमें अधिकांश विद्वान् उनके शिष्य अथवा परम्परया शिष्य हैं। श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री को स्याद्वाद महाविद्यालय के प्राचार्य एवं अधिष्ठाता के रूप में तो प्रायः सभी लोग जानते हैं, किन्तु यह तथ्य बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि श्रद्धेय पण्डितजी ने काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के अन्तर्गत भारती महाविद्यालय में जैनदर्शन के प्राध्यापक के रूप में भी अपनी सेवाएँ अर्पित की हैं। जैनदर्शन एवं प्राकृत के वरिष्ठ अध्येता प्रो० डॉ० जगदीशचन्द्र जैन (बम्बई) ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में रहकर ही पूज्य पण्डितजी से जैनदर्शन का विधिवत् अध्ययन किया था। आज जैन समाज के जाने-माने शीर्षस्थ विद्वानों में प्रो० खुशालचन्द्र

---

* जैनदर्शन प्राध्यापक, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गोरावाला, डॉ० दरबारीलाल कोठिया, (स्व०) डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, (स्व०) डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, (स्व०) प्रो० डॉ० राजकुमार जैन साहित्याचार्य, डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, प्रो० उदयचन्द्र जैन, पं० अमृतलाल शास्त्री, डॉ० प्रेमसागर जैन, डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रो० डॉ० राजाराम जैन, प्रो० डॉ० विमलप्रकाश जैन आदि श्रद्धेय पण्डितजी के साक्षात् शिष्य हैं।

वयोवृद्ध विद्वान् श्रीमान् ब्र० पण्डित जगमोहन लालजी सिद्धान्तशास्त्री एवं सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री पूज्य पण्डितजी के सहाध्यायी हैं।

पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री स्वयं स्याद्वाद महाविद्यालय के स्नातक हैं। इनकी योग्यता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा के कारण ही इनकी नियुक्ति इसी विद्यालय में की गई थी और अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक वे विद्यालय से जुड़े रहे।

पूज्य पण्डितजी विद्यालय की दीर्घकालीन सेवाओं में उनकी अनुशासनप्रियता, प्रशासनिक क्षमता, अध्यापन-शैली आदि सभी प्रशंसनीय रहे हैं। वे सरलता और सादगी की प्रतिमूर्ति थे।

पूज्य पण्डितजी की वाणी में नवयुवकों जैसा जोश था। वे सत्य बात कहने में कभी नहीं चूकते थे। अपने इस सत्य कथन के लिये उन्हें अनेक बार विद्वानों, सेठ-साहूकारों, त्यागियों का कोपभाजन भी बनना पड़ा है। त्यागियों, मुनियों में बढ़ रहे शिथिलाचार के वे प्रबल विरोधी थे। इसी कारण कुछ तथाकथित मुनिभक्त उन्हें मुनि-विरोधी मानते थे। जबकि सच्चाई यह है कि वे आगमानुकूल चलनेवाले त्यागियों, मुनियों का आदर करते थे।

उनकी लेखनी जीवन के अन्तिम समय तक अप्रतिहत गति से चलती रही। गजरथ जैसे खर्चीले महोत्सवों का कभी उन्होंने समर्थन नहीं किया। वे ज्ञानरथ प्रवर्तन के पक्षपाती थें। उनकी यह स्पष्ट मान्यता थी कि स्वाध्याय एवं ज्ञानार्जन के बिना हम जैन समाज में फैली कुरीतियों, बुराइयों को दूर नहीं कर सकते हैं। जैन सन्देश के अनेक सम्पादकीय लेख आज इस बात के प्रबल साक्षी हैं कि पंडितजी जैन समाज के प्रत्येक सदस्य को सच्चे अर्थों में 'जैन' के रूप में देखना चाहते थे। वे चाहते थे कि हमारी भावी पीढ़ी न केवल ज्ञानवान्, अपितु आचारवान् भी हो। क्योंकि सदाचार के अभाव में देश एवं समाज की उन्नति संभव नहीं है।

श्रद्धेय पण्डितजी की लेखनी और वाणी में जादू था। उन्होंने जिस विषय पर अपनी लेखनी चलाई वह विषय धन्य हो गया। जिस विषय को वाणी दी वह जीवन्त हो गया।

गंगा के सुरम्य तट पर स्थित स्याद्वाद महाविद्यालय का वह कक्ष, जिसमें पण्डितजी अध्ययन, अध्यापन एवं लेखन कार्य करते थे, कृतकृत्य हो गया। पण्डितजी जब वाराणसी में उपस्थित रहते थे तब दिन में दो से पाँच बजे तक वे अपने कक्ष में साहित्य-साधना में तल्लीन रहते थे। विद्यालय के अकलंक सरस्वती भवन का जैसा उपयोग पूज्य पण्डित जी ने किया है, वैसा किसी अन्य विद्वान् ने किया हो, ऐसा मुझे ज्ञात नहीं है। कौन ग्रन्थ सरस्वती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवन में है और कहाँ है ? तथा कौन नहीं है, इसकी जानकारी पण्डितजी से सहज ही की जा सकती थी। उनका शास्त्रीय ज्ञान अगाध था। इसके अतिरिक्त वे व्यवहारशास्त्र में भी आचार्य थे। किस समय क्या बोलना है ? यह वे वखूबी जानते थे।

मुझे वाराणसी को अपना कार्यक्षेत्र बनाने में श्रद्धेय पण्डितजी का विशेष हाथ रहा है। काशीस्थ श्री स्याद्वाद महाविद्यालय में दर्शनविभागाध्यक्ष पद पर मेरी नियुक्ति उन्हीं की पुनीत प्रेरणा से हुई थी। मेरी उपाधियों और योग्यता को देखकर उनके मन में मेरे प्रति एक आशंका अवश्य थी कि मैं अधिक दिनों तक विद्यालय को अपनी सेवायें न दे सकूँगा और पण्डितजी की उक्त आशंका उस समय मूर्त हो गई, जब मेरी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के जैन-बौद्ध दर्शन विभाग में जैनदर्शन प्राध्यापक पद पर हो गई—मृषा न होइ देव रिसि बानी।

वस्तुतः पण्डितजी का समग्र जीवन ऋषितुल्य रहा है। वे सच्चे अर्थों में सरस्वती-पुत्र थे। उनका वाक् संयम अपूर्व था। उनकी वाणी में अमृतोपम माधुर्य था। वे मितभाषी थे। किसी बात को थोड़े शब्दों में स्पष्ट करने का वाक् चातुर्य उनमें सहज समाहित था। महाप्रयाण के कुछ महीनों पूर्व मुझे पूज्य पण्डितजी से अष्टसहस्री पढ़ने का अवसर मिला। इस अवधि में मैंने देखा कि जो अष्टसहस्री अपनी क्लिष्टता के कारण विद्वानों में अष्टसहस्री के नाम से विख्यात है, उसका पाठ विना किसी आयास-प्रयास के लगाते चले जा रहे हैं। न कोई विश्राम, न कोई अटकन। जो बात लम्बे-चौड़े व्याख्यानों से भी स्पष्ट नहीं हो पाती है, वही बात पण्डितजी सहजभाव से अल्पशब्दों में स्पष्ट कर देते थे। उनका वैदुष्य अगाध था।

साहित्य-साधना के क्षेत्र में पण्डितजी की सेवाएँ अमूल्य हैं। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की टीकाएँ की हैं और आधुनिक पद्धति से विभिन्न ग्रन्थों का सम्पादन एवं अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक मौलिक ग्रन्थों का भी सृजन किया है। जिन पर उन्हें न केवल उत्तर प्रदेश सरकार ने पुरस्कृत किया है, अपितु अनेक सामाजिक संस्थाओं ने भी पुरस्कृत कर अपने को धन्य माना है। उनके द्वारा लिखे गये मौलिक, सम्पादित एवं अनूदित ग्रन्थों की संख्या तीस के लगभग हैं। साथ ही विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं अभिनन्दन ग्रन्थों, स्मृति ग्रन्थों में लिखे गये लेखों की संख्या एक हजार के करीब है। लगभग ५५० लेखों की सूची तो उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में ही देखी जा सकती है।

पूज्य पण्डितजी द्वारा लिखा गया जो साहित्य प्रकाश में आ गया है, उसकी चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं है, क्योंकि वह सामग्री प्रकाशित होने के कारण सर्वसुलभ है। अतः सम्प्रति यहाँ उनके द्वारा जीवन के अन्तिम समय में की गई साहित्य-सम्पर्या का ही उल्लेख करना उचित होगा। क्योंकि यह सामग्री अभी प्रकाश में आने की प्रतीक्षा कर रही है।

श्रद्धेय पण्डितजी की मेरे ऊपर छात्र जीवन से ही विशेष कृपादृष्टि रही है। अतः वाराणसी आने पर उनके साथ उठना-बैठना होता रहता था। प्रसंग उपस्थित होने पर साहित्य सृजन की चर्चा भी हो जाती। इसी क्रम में एक बार पण्डितजी ने बतलाया था कि मेरे कुछ ग्रन्थ तैयार रखे हैं, किन्तु उनके प्रकाशन की अभी तक व्यवस्था नहीं हो पाई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तैयार ग्रन्थों के नाम पूछने पर उन्होंने जिन ग्रन्थों के नाम बतलाये, वे इस प्रकार हैं—

१. लघीयस्त्रय का हिन्दी अनुवाद,
२. तत्त्वार्थसूत्रगत प्रश्नोत्तर,
३. प्रमेय-विचार,
४. समयसार का हिन्दी अनुवाद,
५. कषायपाहुड की मूल गाथाओं का हिन्दी अनुवाद (चालू है)।

उक्त कृतियों के सन्दर्भ में मुझे जो जानकारी है, उसका विस्तृत-विवेचन इस प्रकार है—

१. लघीयस्त्रय

यह आचार्य अकलंकदेव रचित लघीयस्त्रय का पण्डितजी द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद है। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित पाण्डुलिपि श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी के कार्यालय में उपलब्ध है। इसके प्रकाशन हेतु संस्थान ने स्वीकृति दे दी है। यह ग्रन्थ शीघ्र ही वर्णी संस्थान द्वारा प्रकाशित होगा।

२. तत्त्वार्थसूत्रगत प्रश्नोत्तर

यह ग्रन्थ उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं पर आधारित है। इसमें पण्डितजी ने तत्त्वार्थसूत्र और उस पर विभिन्न आचार्यों द्वारा लिखी गई टीकाओं—सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार में जैनदर्शन समस्त मूलभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन करनेवाले प्रश्नों और विभिन्न आचार्यों द्वारा किये गये उनके समाधानों का संकलन है। इसमें पण्डितजी ने जैनेतर दर्शनों से सम्बन्धित प्रश्नों को छोड़ दिया है। यह जानकारी मुझे पूज्य पण्डितजी से प्राप्त हुई थी। इसकी पाण्डुलिपि मुझे देखने को नहीं मिली है। यह ग्रन्थ उपर्युक्त लघीयस्त्रय की भाँति श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान द्वारा प्रकाशित करने के लिए स्वीकृत हो चुका था, किन्तु जब मैंने संस्थान के संयुक्तमन्त्री होने के कारण उक्त ग्रन्थ की पाण्डुलिपि माँगी तो उन्होंने बतलाया कि वर्णी संस्थान से प्रकाशित होने में विलम्ब होगा। अतः मैंने 'तत्त्वार्थसूत्रगत प्रश्नोत्तर' की पाण्डुलिपि जैन विद्या संस्थान श्री महावीर जी (राज०) के अधिकारियों को दी है। उन्होंने उसे शीघ्र प्रकाशित करने का वचन दिया है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया है और न ही इसके प्रकाशन की प्रगति की मुझे कोई जानकारी है।

३. प्रमेय-विचार

यह ग्रन्थ पण्डितजी द्वारा लिखित 'जैनन्याय' (प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ) का उत्तरार्द्ध है। इसमें उन्होंने प्रमेय पर विचार किया है। यह ग्रन्थ खण्डन-मण्डन की शैली में लिखा गया है। पण्डितजी ने पहले इसका नाम "जैन न्याय भाग २" रखा था, किन्तु बाद में उसे काटकर 'प्रमेय-विचार' कर दिया है। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि मेरे पास सुरक्षित है। इसके प्रकाशन हेतु मैंने पूज्य पण्डितजी के सहपाठी एवं अभिन्न मित्र श्रीमान् पण्डित जगन्मोहन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लालजी शास्त्री कटनी (सम्प्रति कुण्डलपुर, म० प्र०) से बात की थी तो उन्होंने उसे भारतीय ज्ञानपीठ आदि संस्थानों से प्रकाशित कराने हेतु आश्वासन दिया है और उनसे मेरा तद्विषयक पत्राचार चल रहा है।

४. समयसार

कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'समयसार' का हिन्दी अनुवाद पण्डितजी ने किया था, ऐसा उन्हीं से ज्ञात हुआ था, किन्तु इसकी पाण्डुलिपि कहाँ, किसके पास है, इसकी मुझे जानकारी नहीं है। पण्डितजी के सुपुत्र श्रीमान् सुपार्श्वकुमार जैन (राँची) से इसकी जानकारी हो सकती है।

५. कषायपाहुड

इस ग्रन्थ की मूल गाथाओं का संकलन पण्डितजी ने किया था और वे उनका हिन्दी अनुवाद कर रहे थे। मेरे निजी ग्रन्थ संग्रह में 'कषायपाहुड' (जयधवला सहित) के १ से १५ भाग उपलब्ध हैं। अतः पण्डितजी अनेक बार मेरे निवास स्थान पर उक्त कषायपाहुड ग्रन्थों को देखने आये हैं। इसी क्रम में मैंने पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर (सिवनी) द्वारा अनूदित कषाय-पाहुड की प्रति भी उन्हें दी थी, जिसका उन्होंने मिलान आदि की दृष्टि से उपयोग किया था। पं० दिवाकर जी द्वारा अनूदित कषायपाहुड से कार्य पूर्ण हो जाने पर पण्डितजी ने उक्त ग्रन्थ मुझे वापस कर दिया था। इससे इतना तो निश्चित है कि कषायपाहुड पर किया जा रहा उनका कार्य प्रायः पूर्ण हो चुका था, किन्तु इसमें कुछ अपूर्णता भी रह गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि सम्भवतः यह उनकी अन्तिम कृति है और इस कार्य को करते समय पण्डित जी में वृद्धावस्था के लक्षण प्रायः प्रकट हो चुके थे।

इस प्रकार उपर्युक्त पाँच ग्रन्थों में से प्रथम एवं तृतीय ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ क्रमशः वर्णी संस्थान एवं मेरे पास सुरक्षित हैं। द्वितीय ग्रन्थ की पाण्डुलिपि जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी (राज०) के अधिकारियों के पास होनी चाहिये। शेष अन्तिम दो ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों के सन्दर्भ में उनके सुपुत्र श्रीमान् पार्श्वकुमार जैन (राँची) के पास जानकारी होगी अथवा पण्डितजी द्वारा अन्तिम समय में लिखी एवं बिखरी पड़ी हस्तलिखित सामग्री में होना चाहिये। एतदतिरिक्त अन्य ग्रन्थों के सन्दर्भ में अन्य किसी विद्वान् अथवा पण्डितजी के पारिवारिक जनों को कोई जानकारी हो तो उसे प्रकाशित करनी चाहिये। जिससे अन्य अप्रकाशित सामग्री का भी विद्वज्जनों को लाभ मिल सके तथा श्रद्धेय पण्डितजी द्वारा किया गया परिश्रम व्यर्थ न हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकवि विबुध श्रीधर एवं उनकी अप्रकाशित रचना "पासणाहचरिउ"

डा० विद्यावती जैन, आरा

प्राच्य भारतीय भाषाओं में पार्श्वनाथ-चरित की परम्परा

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों में भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन-चरित बड़ा ही लोकप्रिय रहा है। आगम-साहित्य एवं विविध महापुराणों में उनके अनेक प्रासंगिक कथानक तो उपलब्ध होते ही हैं, उनके अतिरिक्त स्वतन्त्र, सर्वप्रथम एवं महाकाव्य शैली में लिखित जिनसेन (प्रथम) कृत पार्श्वाभ्युदय-काव्य[1] (वि० सं० ९ वीं सदी) एवं वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितम्[2] (वि० सं० १०८२) संस्कृत-भाषा में; देवभद्र कृत पासणाहचरियं[3] (वि० सं० ११६८) प्राकृत भाषा में तथा कवि पदमकीर्त्ति कृत पासणाह-चरिउ[4] (वि० सं० ११८१) अपभ्रंश-भाषा में उपलब्ध है। इन काव्य रचनाओं से परवर्ती कवियों को बड़ी प्रेरणा मिली और उन्होंने भी विविध कालों एवं विविध भाषाओं में एत-द्विषयक अनेक रचनाएँ लिखीं, जिनमें से विबुध श्रीधर[5] (वि० सं० ११८९), माणिक्यचन्द्र[6] (१३ वीं सदी), भावदेवसूरि[7] (वि० सं० १३५५), असवाल[8] (१५ वीं सदी), भट्टारक सकल-कीर्त्ति[9] (वि० सं० २५वीं सदी), कवि रइधू[10] (वि० सं० १५-१६वीं सदी), कवि पद्मसुन्दर[11] एवं हेमविजय[12] (१६ वीं सदी) एवं पण्डित भूधरदास[13] (१८ वीं सदी) आदि प्रमुख हैं।

विबुध श्रीधर कृत पासणाहचरिउ

'पार्श्वनाथ चरित' सम्बन्धी उक्त रचनाओं में से विबुध श्रीधर कृत 'पासणाहचरिउ' जो कि अद्यावधि अप्रकाशित है, उस पर प्रस्तुत-निबन्ध में कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है। इसका कथानक यद्यपि परम्परा प्राप्त ही है, किन्तु कथावस्तु गठन, भाषा, शैली, वर्णन-प्रसंग समकालीन संस्कृति एवं इतिहास-सम्बन्धी सामग्री की दृष्टि से यह रचना विशेष महत्त्वपूर्ण है।

---

१. नि० सा० प्रेस बम्बई से प्रकाशित (१९०९ ई०)।
२. माणिक दि० जै० ग्र० बम्बई (१९१६ ई०)।
३. दे० भा० सं० में जैनधर्म का योगदान पृ० १३५।
४. प्रा० टै० सो० वाराणसी से प्रकाशित (१९६५)।
५-१३. दे० रइधू सा० का आलोचनात्मक परिशीलन (वैशाली, १९७४)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूल-प्रति परिचय

उक्त 'पासणाहचरिउ' की एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में सुरक्षित है, जिसमें कुल ९९ पत्र हैं। इन पत्रों की लम्बाई एवं चौड़ाई १०" × ४.' है। उसके प्रत्येक पत्र में १२ पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पत्र में ३५-४० वर्ण हैं। इसका प्रतिलिपि-काल वि० सं० १५७७ है। यह प्रति शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखित है।[1]

अनेक विबुध श्रीधरों की भिन्नाभिन्नता

जैन साहित्य में लगभग आठ विवुध श्रीधरों के नाम एवं उनकी लगभग उतनी ही कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। यथा—(१) पासणाहचरिउ[2] (२) वड्ढमाणचरिउ[3] (३) सुकुमालचरिउ[4] (४) भविसयत्तकहा[5] (५) भविसयत्तपंचमी चरिउ[6] (६) भविष्यदत्तपंचमी कथा[7] (७) विश्वलोचनकोश[8] एवं (८) श्रुतावतारकथा[9]। इनमें से अन्तिम तीन रचनाएँ संस्कृत भाषा में तथा पाँचवीं रचना अपभ्रंश-भाषा में निबद्ध हैं। अन्तर्बाह्य साक्ष्यों के आधार पर तथा उनके रचनाकालों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि उन चारों कृतियों के लेखक भिन्न-भिन्न विवुध श्रीधर हैं क्योंकि उनका रचनाकाल वि० सं० की १४ वीं सदी से १७ वीं सदी के मध्य है, जो कि प्रस्तुत पासणाह चरिउ के रचनाकाल (वि० सं० ११८९) से लगभग २०० वर्षों के बाद की हैं। अतः इनका परस्पर में किसी भी प्रकार का मेल नहीं बैठता।

अवशिष्ट प्रथम चार रचनाएँ अपभ्रंश की हैं। उनकी प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि वे रचनाएँ एक ही कवि विवुध श्रीधर की है, जो विविध आश्रयदाताओं के आश्रय में लिखी गई।

कवि-परिचय

सन्दर्भित 'पासणाहचरिउ' प्रशस्ति में विवुध श्रीधर ने अपने पिता का नाम गोल्ह[10] एवं माता का नाम वील्हा[11] बतलाया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपना अन्य किसी भी प्रकार का पारिवारिक परिचय नहीं दिया। 'पासणावचरिउ' की समाप्ति के एक वर्ष बाद प्रणीत अपने 'वड्ढमाण चरिउ' में भी उन्होंने अपना मात्र उक्त परिचय ही प्रस्तुत किया है। वह गृहस्थ था अथवा गृह-विरत त्यागी, कोई भी चर्चा उन्होंने नहीं की। कवि की 'विवुध' नामक उपाधि से यह तो अवश्य ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अपनी काव्य-प्रतिभा के कारण उसे सर्वत्र सम्मान प्राप्त होता रहा होगा, किन्तु इससे उसके पारिवारिक जीवन पर कोई भी प्रकाश नहीं पड़ता। 'पासणाह चरिउ' एवं 'वड्ढमाण चरिउ' की प्रशस्तियों के

---

१. दे० आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर की ग्रन्थ सूचियाँ भाग—२।

२–९. वड्ढमाणचरिउ (विवुध श्रीधर कृत) भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित भूमिका पृ० ४ सं० ७ में इस प्रसंग में विशेष विचार किया गया है।

१०–११. वास० १।२।३–४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उल्लेखानुसार कवि ने 'चंदप्पहचरिउ' एवं 'संतिजिणेसरचरिउ'[1] नामक दो रचनाएँ और भी लिखीं थीं। किन्तु ये दोनों अभी तक अनुपलब्ध ही हैं। हो सकता है कि कवि ने अपनी इन प्रारम्भिक रचनाओं की प्रशस्तियों में स्व-विषयक कुछ विशेष परिचय दिया हो, किन्तु यह सब तो उन रचनाओं की प्राप्ति के बाद ही कुछ कहा जा सकेगा।

काल-निर्णय

विबुध श्रीधर की जन्म अथवा अवसान सम्बन्धी तिथियाँ भी अज्ञात हैं। उनकी जानकारी के लिए सन्दर्भ-सामग्री का सर्वथा अभाव है। इतना अवश्य है कि कवि की उपलब्ध निम्न चार रचनाओं की प्रशस्तियों में उनका रचना-समाप्तिकाल अंकित है। उनके अनुसार 'पासणाहचरिउ' तथा 'वड्ढमाणचरिउ' का रचना-समाप्तिकाल क्रमशः वि० सं० ११८९ एवं ११९० तथा 'सुकुमालचरिउ' एवं 'भविसयत्तकहा' का रचना समाप्तिकाल क्रमशः वि० सं० १२०८ और १२३० है।[2] जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है, 'पासणाह चरिउ' एवं 'वड्ढमाणचरिउ' में जिन पूर्वोक्त 'चंदप्पह चरिउ' एवं 'संतिजिणेसरचरिउ' नामक अपनी पूर्व रचित रचनाओं के उल्लेख कवि ने किए हैं,[3] वे अद्यावधि अनुपलब्ध ही हैं। उन्हें छोड़कर बाकी उपलब्ध चारों रचनाओं का रचनाकाल वि० सं० ११८९ से १२३० तक का सुनिश्चित है। अब यदि यह मान लिया जाय कि कवि को उक्त प्रारम्भिक रचनाओं के प्रणयन में १० वर्ष लगे हों तथा उसने २० वर्ष की आयु से साहित्य-लेखन का कार्यारम्भ किया तो तब अनुमानतः कवि की कुल आयु लगभग ७१ वर्ष की सिद्ध होती है और जब तक अन्य ठोस सन्दर्भ-सामग्री प्राप्त नहीं होती तब तक मेरी दृष्टि से कवि का कुल जीवनकाल वि० सं० ११५९ से १२३० तक माना जा सकता है।

निवास एवं साधना-स्थल एवं समकालीन राजा

'पासणाहचरिउ' की प्रशस्ति में उसने अपने वह वहाँ से 'चंदप्पह चरिउ' की रचना समाप्ति के बाद यमुना-नदी पार करके 'ढिल्ली' आया था।[4] उस समय वहाँ राजा अनंगपाल तोमर का राज्य था, जिसने हम्मीर जैसे बीर राजा को भी पराजित किया था। यथा-णिरुदलवट्टिय हम्मीर वीरु''''''पास० १।४।२

१८ वीं सदी के अज्ञात कर्तृक "इन्द्रप्रस्थप्रबन्ध"[5] नामक ग्रन्थ में उपलब्ध तोमरवंशी २० राजाओं में से उक्त अनंगपाल अन्तिम २० वाँ राजा था। इनमें अनंगपाल नामके तीन राजा हुए जिनमें से प्रस्तुत अनगपाल तीसरा था। इसने जिस हम्मीर वीर को पराजित किया था, प्रतीत होता है कि वह कांगड़ा नरेश हाहुलिराव हम्मीर रहा होगा, जो एक बार

१–२. वड्ढमाणचरिउ (सम्पा० डॉ० राजाराम जैन) भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वारा प्रकाशित, भूमिका पृ० १०–११।

३. पास १।२।५–१६।

४. दे० वड्ढमाण० भूमिका पृ० ७०।

५. राजस्थान पुरातत्त्व विद्या मन्दिर, जोधपुर (१९६३) से प्रकाशित दे० भूमिका पृ० ४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हूंकार भरकर अरिदल में जा घुसता था और उसे रौंद डालता था। इसी कारण हम्मीर को 'हाहुली राव' की संज्ञा प्रदान की गई थी, जैसा कि 'पृथिवीराजरासो' में एक उल्लेख मिलता है:—

"हां'' कहते ढीलन करिय हलकारिय अरि मथ्थ।
तायें विरद हम्मीर को "हाहुलिराव" सुकथ्य ॥

सम्भवतः इसी हम्मीर को राजा अनंगपाल ने हराया होगा। युद्ध में उसके पराजित होते ही उसके अन्य साथी राजा भी भाग खड़े हुए थे। यथा—

संधव सोण कीर हम्मीर वि संगरु मेल्लि चल्लिया ॥ ६ ॥ पास० ४।१३।२

अर्थात् सिन्धु, सोन एवं कीर नरेशों के साथ राजा हम्मीर भी संग्राम छोड़कर भाग गया[1]।

ढिल्ली नगर का इतिहास

विबुध श्रीधर ने पासणाहचरिउ में जिस "ढिल्ली" नगर की चर्चा की है, आधुनिक "दिल्ली" का वह तत्कालीन नाम है। कवि के समय में वह हरयाणा-प्रदेश का ही एक प्रमुख नगर था। 'पृथिवीराजरासो' में पृथिवीराज चौहान के प्रसंगों में दिल्ली के लिए 'ढिल्ली' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उसमें इस नामकरण की एक मनोरंजक कथा भी कही गई है, जिसे तोमरवंशी राजा अनंगपाल की पुत्री अथवा पृथिवीराज चौहान की माता ने स्वयं पृथिवीराज को सुनायी थी। उसके अनुसार राज्य की स्थिरता के लिए एक ज्योतिषी के आदेशानुसार जिस स्थान पर कीली गाड़ी गई थी, वह स्थान प्रारम्भ में "किल्ली" के नाम से प्रसिद्ध हुआ, किन्तु उस कील को ढीला कर देने से उस स्थान का नाम 'ढिल्ली' पड़ गया, जो कालान्तर में दिल्ली के नाम से जाना जाने लगा। १८ वीं सदी तक दिल्ली के ११ नामों से "ढिल्ली" भी एक नाम माना जाता रहा, जैसा कि "इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध" (श्लोक संख्या १४-१५) में एक उल्लेख मिलता है—

शक्रपन्था इन्द्रप्रस्था शुभकृत् योगिनीपुरः।
दिल्ली ढिल्ली महापुर्या जिहानाबाद इष्यते ॥
सुखेणा महिमायुक्ता शुभाशुभकरा इति।
एकादश मित नामा दिल्ली पुरा च वर्त्तते ॥ [पद्य—१४–१५]

इस प्रकार पासणाहचरिउ में राजा अनंगपाल, राजा हम्मीर-वीर एवं ढिल्ली के उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन सन्दर्भों तथा समकालीन साहित्य एवं इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन से मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कई प्रच्छन्न अथवा जटिल रहस्यों का उद्घाटन सम्भव है।

आश्रयदाता नट्टल साहू

जैसाकि पूर्व में लिखा जा चुका है कि प्रस्तुत रचना की आद्यप्रशस्ति के अनुसार कवि अपनी 'चंदप्पहचरिउ' की रचना समाप्ति के बाद असंख्य कार्य-व्यस्त ग्रामों वाले हरयाणा-

---

१. दे० वड्ढमाण०, भूमिका पृ० ७०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रदेश को छोड़कर यमुना नदी पारकर ढिल्ली आया था तथा वहाँ राजा अनंगपाल के एक मन्त्री साहू अल्हण से उसकी सर्वप्रथम भेंट हुई। साहू अल्हण उसके 'चंदप्पहचरिउ' का पाठ सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि उस कवि को नगर के महान् साहित्यरसिक एवं प्रमुख सार्थवाह साहू नट्टल से भेंट करने का आग्रह किया, किन्तु कवि बड़ा संकोची था। अतः उसने उनसे भेंट करने की अनिच्छा प्रकट करते हुए कहा कि—"हे साह, संसार में दुर्जनों की कमी नहीं, वे कूट-कपट को ही विद्वत्ता मानते है, सज्जनों से ईर्ष्या एवं विद्वेष रखते हैं तथा उनके सद्गुणों को असह्य मानकर उनसे दुर्व्यवहार करते हैं। वे उन्हें कभी तो मारते हैं और कभी टेढ़ी-मेढ़ी आँखें दिखाते हैं अथवा कभी वे उनका हाथ, पैर अथवा सिर ही तोड़ देते हैं। किन्तु मैं तो ठहरा सीधा, सादा, सरल-स्वभावी, अतः मैं किसी के घर जाकर उससे नहीं मिलना चाहता।"[१]

किन्तु अल्हण साहू के पूर्ण विश्वास दिलाने एवं बार-बार आग्रह करने पर कवि साहू नट्टल के घर पहुँचा तो वह उसके मधुर-व्यवहार से बड़ा सन्तुष्ट हुआ। नट्टल ने कवि को प्रमुदित होकर स्वयं ही आसन पर बैठाया और सम्मान-सूचक ताम्बूल प्रदान किया। उस समय नट्टल एवं श्रीधर दोनों के मन में एक साथ एक ही जैसी भावना उदित हुई। वे परस्पर में सोचने लगे कि—

जं पुव्व जम्मि पविरइउ किंपि।
इत्र विहिवसेण परिणवइ तंपि॥ (१।८।९)

अर्थात् 'हमने पूर्वभव में ऐसा कोई सुकृत अवश्य किया था, जिसका आज यह मधुर फल हमें मिल रहा है।'

साहू नट्टल के द्वारा आगमन-प्रयोजन पूछे जाने पर कवि ने उत्तर में कहा—"मैं अल्हण साहू के अनुरोध से आपके पास आया हूँ। उन्होंने मुझसे आपके गुणों की चर्चा की है और बताया है कि आपने एक 'आदिनाथ-मन्दिर' का निर्माण कराकर उस पर 'पचरंगे झण्डे' को फहराया है। आपने जिस प्रकार उस भव्य मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई है, उसी प्रकार आप एक 'पार्श्वनाथ-चरित' की रचना कराकर उसे भी प्रतिष्ठित कराइए जिससे आपको पूर्णसुख-समृद्धि प्राप्त हो सके तथा जो कालान्तर मोक्ष-प्राप्ति का कारण बन सके। इसके साथ-साथ चन्द्रप्रभ स्वामी की एक मूर्ति अपने पिता के नाम से उस मन्दिर में प्रतिष्ठित कराइए।"[२] कवि के कथन को सुनकर साहू नट्टल ने तत्काल ही अपनी स्वकृति प्रदान कर दी।

कुछ भ्रान्तियाँ

कुछ विद्वानों ने 'पासणाहचरिउ' के प्रमाण देते हुए नट्टल साहू द्वारा दिल्ली में पार्श्व-नाथ-मन्दिर के निर्माण कराए जाने का उल्लेख किया है[3] और विद्वज्जगत् में अब लगभग वही

१. दे० पास० १।२।७–८।
२. पास० १।९।१–४।
३. दिल्ली जैन डाइरेक्टरी पृ० ४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धारणा बनती जा रही है कि साहू नट्टल ने दिल्ली में पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था, जबकि वस्तुस्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। यथार्थतः नट्टल ने दिल्ली में पार्श्वनाथ मन्दिर नहीं, आदिनाथ-जिन मन्दिर का निर्माण कराया था जैसाकि आद्य-प्रशस्ति में स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

तित्थयरु पइट्ठावियउ जेण पढमउ को भणियइँ सरिसु तेण ॥ (१।६।९)
काराविवि णायेयहो णिकेउ पविइण्णु पंचवण्णं सुकेउ ॥
पइँ पुणु पइट्ठ पविरइय जेम पासहो चरित्तु जइ पुणु वितेम ॥ पास० १।९।१-२

अर्थात् आपने नामेय-निकेत [आदिनाथ जिन मन्दिर] का निर्माण कराकर उस पर पाँच वर्णवाले ध्वज को फहराया है। जिस प्रकार आपने उक्त मन्दिर का निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा कराई है, उसी प्रकार यदि मैं 'पार्श्वनाथचरित' की रचना भी करूँ तो आप उसकी भी उसी प्रकार प्रतिष्ठा कराइये"।

उक्त वार्तालाप कवि श्रीधर एवं नट्टल साहू के बीच का है। उस कथन में "पार्श्वनाथ-चरित" नामक ग्रन्थ के निर्माण एवं उसके प्रतिष्ठित किए जाने की चर्चा तो अवश्य आई है किन्तु "पार्श्वनाथ-मन्दिर" के निर्माण की कोई चर्चा नहीं और कुतुबुद्दीन ऐबक ने नट्टल साहू द्वारा निर्मित जिस विशाल जैन-मन्दिर को ध्वस्त करके उस पर "कुव्वत-उल-इस्लाम" नाम की मस्जिद का निर्माण कराया था, वह पार्श्वनाथ का नहीं आदिनाथ का ही मन्दिर था[1]। "पार्श्व-नाथ-मन्दिर" के निर्माण कराए जाने के समर्थन में विद्वानों ने जो भी सन्दर्भ प्रस्तुत किए हैं, उनमें से किसी एक से भी उक्त तथ्य का समर्थन नहीं होता[2]। प्रतीत होता है कि उप "पार्श्व-चरित" को ही भूल से "पार्श्वनाथ मन्दिर' मान लिया गया, जो सर्वथा भ्रमात्मक है।

इसी प्रकार साहू नट्टल को अल्हण साहू का पुत्र[3] मान लिया गया, जो कि वास्तविक तथ्य के सर्वथा विपरीत है। मूलग्रन्थ का विधिवत् अध्ययन न करने अथवा उसकी भाषा को न समझने या आनुमानिक-आधारों पर प्रायः ऐसी ही भ्रमपूर्ण बातें कह दी जाती हैं, जिनसे यथार्थ-तथ्यों का क्रम ही लड़खड़ा जाता है। पासणाह चरिउ की प्रशस्ति के अनुसार अल्हण एवं नट्टल दोनों वस्तुतः घनिष्ट मित्र तो थे किन्तु पिता-पुत्र नहीं। अल्हण राज्यमन्त्री था, जबकि नट्टल साहू दिल्ली नगर का एक सर्वश्रेष्ठ सार्थवाह, साहित्य-रसिक, उदार, दानी एवं कुशल राजनीतिज्ञ। वह अपने व्यापार के कारण अंग, बंग, कलिंग, गौड़, केरल, कर्नाटक, चोल, द्रविड, पांचाल, सिन्ध, खश, मालवा, लाट, जट्ट, नेपाल, टक्क, कोंकण, महाराष्ट्र, भादानक, हरयाणा, मगध, गुर्जर एवं सौराष्ट्र जैसे देशों में प्रसिद्ध तथा वहाँ के राज-दरबारों में उसे सम्मान प्राप्त था।[4] कवि ने इसी नट्टल साहू के आश्रय में रहकर 'पासणाहचरिउ'

१. दे० दिल्ली जैन डाइरेक्टरी पृ० ४।
२. वही० पृ० ४।
३. तीर्थंकर महावीर एवं उनकी आचार्य परम्परा, पृ० ४।१३८ एवं जैन ग्र० प्रा० संग्रह द्वि० भा० भूमिका पृ० ८४।
४. पास० अन्त्य प्रशस्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की रचना की थी। इस रचना की आदि एवं अन्त की प्रशस्तियों एवं पुष्पिकाओं में साहू नट्टल के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का अच्छा परिचय प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ-प्रमाण एवं विषय-वर्गीकरण

प्रस्तुत 'पासणाहचरिउ' में कुल मिलाकर १२ सन्धियाँ एवं २४० कडवक हैं। कवि ने इसे २५०० ग्रन्थ-प्रमाण कहा है। उसके वर्ण्य-विषय का वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

सन्धि–१ आद्य-प्रशस्ति के बाद वैजयन्त विमान से कनकप्रभदेव का चयकरवामा-देवी के गर्भ में आना।

सन्धि–२ राजा हयसेन के यहाँ पार्श्वनाथ का जन्म एवं बाल-लीलाएँ।

सन्धि–३ हयसेन के दरबार में यवन-नरेन्द्र के राजदूत का आगमन एवं उसके द्वारा हयसेन के सम्मुख यवन-नरेन्द्र की प्रशंसा।

सन्धि–४ राजकुमार पार्श्व का यवन-नरेन्द्र से युद्ध तथा मामा रविकीर्त्ति द्वारा उसके पराक्रम की प्रशंसा।

सन्धि–५ रविकीर्त्ति द्वारा पार्श्व से अपनी पुत्री के साथ विवाह कर लेने का प्रस्ताव। इसी बीच में वन में जाकर जलते हुए नाग-नागिनी को अन्तिम-बेला में मन्त्र-प्रदान एवं वैराग्य।

सन्धि–६ हयसेन का शोक-सन्तप्त होना। पार्श्व की घोर तपस्या का वर्णन।

सन्धि–७ पार्श्व-तपस्या एवं उन पर कमठ द्वारा किया गया घोर उपसर्ग।

सन्धि–८-९ कैवल्य-प्राप्ति एवं समवशरण-रचना एवं धर्मोपदेश।

सन्धि–१० रविकीर्त्ति द्वारा दीक्षा-ग्रहण।

सन्धि–११ धर्मोपदेश।

सन्धि–१२ पार्श्व के भवान्तर तथा हयसेन द्वारा दीक्षा-ग्रहण। अन्त्य-प्रशस्ति।

पासणाहचरिउ में समकालीन ऐतिहासिक झाँकियाँ

"पासणाहचरिउ" यद्यपि एक पौराणिक महाकाव्य है उसमें पौराणिक-इतिवृत्त तथा दैवी-चमत्कार आदि प्रसंगों की कमी नहीं। इसका मूल कारण यह है कि कवि विबुध श्रीधर का काल संक्रमणकालीन युग था। कामिनी एवं काञ्चन के लालची मुहम्मद गोरी के आक्रमण प्रारम्भ हो चुके थे, उसकी विनाशकारी लूट-पाट ने उत्तर-भारत को थर्रा दिया था। हिन्दू राजाओं में भी फूट के कारण परस्पर में बड़ी कलह मची हुई थी। ढिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल को अपनी सुरक्षा हेतु कई युद्ध करने पड़े थे। कवि ने जिस हम्मीर-वीर के अनंगपाल द्वारा पराजित किए जाने की चर्चा की है, सम्भवतः वह घटना कवि की आँखों देखी रही होगी। कवि ने कुमार पार्श्व को यवनराज के साथ तथा त्रिपृष्ठ के हयग्रीव के साथ जैसे क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित युद्ध-वर्णन किए हैं, वे वस्तुतः कल्पना प्रसूत नहीं किन्तु हिन्दू-मुसलमानों अथवा हिन्दू राजाओं के पारस्परिक युद्धों के आँखों देखे अथवा विश्वस्त गुप्तचरों द्वारा सुने गए यथार्थ वर्णन जैसे प्रतीत होते हैं। उनसे उन युद्धों में प्रयुक्त जिन शस्त्रास्त्रों की चर्चा की है, वे पौराणिक ऐन्द्रजालिक अथवा दैवी नहीं अपितु खुरपा, कृपाण, तलवार, धनुष-बाण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे वे ही शस्त्र-अस्त्र हैं, जो कवि के समय में लोक प्रचलित थे। आज भी वे हरयाणा एवं दिल्ली प्रदेशों में उपलब्ध हैं और उन्हीं नामों से जाने जाते हैं। ये युद्ध इतने भयंकर थे कि लाखों-लाखों विधवा नारियों एवं अनाथ बच्चों के करुण-क्रन्दन को सुनकर संवेदन-शील कवि को लिखना पड़ा था—

............दुक्करु होइ रणंगणु। रिउ वाणावलि पिहिय णहंगणु संगरणामु जि होइ भयंकरु तुरय-दुरय-रह-सुहड-खयंकरु। (पास० २।१४।२,५)

वर्णन प्रसंग

कवि श्रीधर भावों के अद्‌भुत चितेरे हैं। यात्रा-मार्गों में चलने वाले चाहे सैनिक हों अथवा अटवियों में उछल-कूद करने वाले प्रेमी-प्रेमिकाएं हों अथवा आश्रमों में तपस्या करने वाले तापस, राज-दरबारों के सूर-सामन्त हों अथवा साधारण-प्रजाजन, उन सभी के मनो-वैज्ञानिक-वर्णनों में कवि की लेखनी ने अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। इस प्रकार के वर्णनों में कवि की भाषा भावानुगामिनी एवं विविध रस तथा अलंकार उनका अनुकरण करते हुए दिखाई देते हैं।

पार्श्व प्रभु विहार करते हुए तथा कर्वट, खेड, मैडंब आदि पार करते हुए जब एक अवटी में पहुँचते हैं, तब वहाँ उदान्मत्त गजाधिप, द्रुतगामी हरिण, भयानक सिंह, घुरघुराते हुए मार्जार एवं उछल-कूद करते हुए लंगूरों के झुण्ड दिखायी पड़ते हैं। इस प्रसंग में कवि द्वारा प्रस्तुत लंगूरों का वर्णन देखिए, कितना स्वाभाविक बन पड़ा है—

... ... सिर लोलिए लंगूल ॥
केवि कूरु घुरुहुरहिं दूरत्थ फुरुहरहिं ॥
केवि करहि ओरालि णमुवंती पउरालि ॥
केवि दाढ़ दरिसंति अइविरसु विरसंति ॥
केवि भूरि किलकिलहिं उल्ललेवि बलि मिलहिं ॥
केवि णिहय पडिकूल महि हणिय लंगूल ॥
केवि करु पसारंति हिंसणण पारंति ॥
केवि गयण यलि कमहिं अणवरउ परिभमहिं ॥
केवि अरुण णयणेहिं भंगुरिय वयणेहिं ॥
.... तासंति अकयत्थ तसंति ॥
केवि धुणहिं संविसाण कंपविय परपाण ॥
केवि दुट्ठ कुप्पंति परिकहि झडप्पंति ॥
केवि पहुण पावंति डसणत्थु धावंति ॥

पास० ७।१४।४–१६

अन्य वर्णन-प्रसंगों में भी कवि का कवित्व चमत्कारपूर्ण बन पड़ा है। इनमें कल्पनाओं की उर्वरता, अलंकारों की छटा एवं रसों के अमृतमय-प्रवाह दर्शनीय हैं। इस प्रकार के वर्णनों में ऋतु-वर्णन, अटवी-वर्णन, सन्ध्या, रात्रि एवं प्रभात-वर्णन तथा आश्रम-वर्णन आदि प्रमुख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। कवि की दृष्टि में सन्ध्या किसी के जीवन में हर्ष उत्पन्न करती है, तो किसी के जीवन में विषाद। वस्तुतः वह हर्ष एवं विषाद का विचित्र संगमकाल है। जहाँ कामीजनों, चोरों, उल्लुओं एवं राक्षसों के लिए वह श्रेष्ठ वरदान है, वहीं पर नलिनी-दल के लिए घोर-विषाद का काल। वह उसी प्रकार मुरझा जाता है, जिस प्रकार इष्टजन के वियोग में बन्धु-बान्धव-गण। सूर्य के डूबते ही उसकी समस्त किरणें अस्ताचल में तिरोहित हो गयी हैं। इस प्रसंग में कवि उत्प्रेक्षा करते हुए कहता है कि विपत्तिकाल में अपने कर्मों को छोड़कर और कौन किसका साथ दे सकता है? सूर्य के अस्त होते ही अस्ताचल पर लालिमा छा गयी है, वह ऐसी प्रतीत होती है, मानों अन्धकार के गुफा-ललाट पर किसी ने सिन्दूर का तिलक ही जड़ दिया हो। यथा—

अत्थहरि–सिहरिवि रत्तु पवट्टुलु तम–विलउ।
संझए अवर–दिसि वयंसियहो सिंदूरे कउ–तिलउ॥
पास० ३।१७।१३–१७।

अन्धकार में गुफा-ललाट पर सिन्दूर के तिलक की कवि-कल्पना सचमुच ही अद्भुत एवं नवीन है।

कवि का रात्रि-वर्णन-प्रसंग भी कम चमत्कारपूर्ण नहीं। वह कहता है कि समस्त संसार घोर अन्धकार की गहराई में डूबने लगा है, इस कारण विलासिनियों के कपोल रक्ताभ हो उठे हैं तथा उनके नीवी-बन्ध शिथिल होने लगे हैं। कवि कहता है—

छुडु नीवी गय-संझ विलासिणी
अरुणत्तण गुण-घुसिण विलासिणी॥ ३।१३।२

बाल-लीला वर्णन

कवि श्रीधर ने शिशु पार्श्व की लीलाओं का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उनकी बाल एवं किशोर लीलाएँ, उनके असाधारण-सौन्दर्य एवं अंग-प्रत्यंग की भाव-भंगिमाओं के चित्रणों में कवि की कविता मानों सरसता का स्रोत बनकर उमड़ पड़ी है। कवि कहता है कि शिशु पार्श्व कभी तो माता के अमृतमय दुग्ध का पान करते, कभी अंगूठा चूसते, कभी मणि-जटित चमचमाती गेंद खेलते, तो कभी तुतली बोली में कुछ बोलने का प्रयास करते। कभी तो वे स्वयं रेंग-रेंगकर चलते और कभी परिवार के लोगों की अंगुली पकड़कर चलते। जब वे माता-पिता को देखते तो अपने को छिपाने के लिए वे हथेलियों से अपनी ही आँखें ढंक लेते। चन्द्रमा को देखकर वे हँस देते थे। उनका जटाजूटधारी शरीर निरन्तर धूलि-धूसरित रहता था। खेलते समय उनकी करधनी की शब्दायमान किंकिणियाँ सभी को मोहती रहती थीं। कवि के इस बाल-लीला-वर्णन ने हिन्दी के भक्तकवि सूरदास को सम्भवतः सर्वाधिक प्रभावित किया है। कृष्ण की बाललीलाओं के वर्णनों की सदृशता तो दृष्टिगोचर होती ही है, कहीं-कहीं अर्धालियों में भी यत्किञ्चित् हेर-फेर के साथ उनका उपयोग कर लिया गया प्रतीत होता है। यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीधर—	अविरल धूलि धूसरिय गत्त २।१५।५
सूर—	धूरि धूसरित गात १०।१००।३
श्रीधर—	होहल्लरु (ध्वन्यात्मक) २।१४।८
सूर—	हलरावै (,,) १०।१२८।८
श्रीधर—	खलियक्खर वयणिहिं वज्जरंतु २।१४।३
सूर—	बोलत श्याम तोतरीं बतियाँ १०।१४७
श्रीधर—	परिवारंगुलि लग्गउ सरंतु २।१४।४
सूर—	हरिकौं लाइ अंगुरी चलन सिखावत १०।१२८।८

इस प्रकार दोनों कवियों के वर्णनों की सदृशताओं को देखते हुए यदि संक्षेप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि श्रीधर का संक्षिप्त बाल-वर्णन सूरदास कृत कृष्ण की बाल-लीलाओं के वर्णन के रूप में पर्याप्त परिष्कृत एवं विकसित हुआ है।

वनस्पति वर्णन

कवि श्रीधर की विविध वनस्पतियाँ भी कम आश्चर्यजनक नहीं। अटवी-वर्णन के प्रसंग में विविध प्रकार के वृक्ष, पौधे, लताएँ, जिमीकन्द आदि के वर्णनों में कवि ने मानों सारे प्रकृति-जगत् को साक्षात् उपस्थित कर दिया है। आयुर्वेद एवं वनस्पतिशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से कवि की यह सामग्री बड़ी महत्त्वपूर्ण है। कवि द्वारा वर्णित वनस्पतियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है[1]—

शोभावृक्ष—	हिंताल, तालूर, साल, तमाल, मालूर, धर, धम्मपा, वंस, खदिर, तिलक, अगस्त्य, प्लक्ष, चन्दन।
फलवृक्ष—	आम्र, कदम्ब, नीवू, जम्वीर, जामुन, मातुलिंग, नारंगी, अरलू, कोरंटक, अंकोल्ल, फणिस, प्रियंगु, खजूर, तिन्दुक, कैंथ, ऊमर, कठूमर, चिंचिणी (चिलगोजा), नारिकेल, वट, सेंवल, ताल।
पुष्पवृक्ष—	चम्पक, कचनार, कणवीर (कनैर), टउह, कउह, बबूल, जासवण्ण (जाति?), शिरीष, पलाश, बकुल, मुचकुन्द, अर्क, मधुवार।
फल एवं पुष्पलताएँ—	लवंग, पूगफल, विरिहिल्ल, सल्ल, केतकी, कुरव, कर्णिकार, पाटलि, सिन्दूरी, द्राक्षा, पुनर्नवा, बाण, वोर, कच्चूर।
कन्द—	जिमीकन्द, पीलू, मदन एवं गंगेरी।

विबुध श्रीधर के उक्त वनस्पति-वर्णन ने परवर्त्ती कवियों में सूफी कवि जायसी को सम्भवतः बहुत अधिक प्रभावित किया है। इस प्रसंग में जायसीकृत पद्मावत के[2] सिंहलद्वीप

१. पासणाह० ७।२।

२. साहित्य सदन चिरगाँव झाँसी से प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्णन (२।१०–१३) एवं वसन्तखण्ड (२०।१–१६) के अंश पासणाहचरिउ के उक्त अंश से तुलनीय हैं। दोनों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि जायसी का वनस्पति वर्णन श्रीधर के पल्लवित एवं परिष्कृत रूप है।

पार्श्व की शिक्षाएँ

'पासणाहचरिउ' में कुमार पार्श्व के लिए जिन शिक्षाओं को प्रदान किए जाने की चर्चा आई है वे प्रायः समकालीन प्रचलित एवं क्षत्रिय राजकुमारों तथा अमीर-उमराओं को दी जाने वाली लौकिक शिक्षाएँ ही हैं। कवि ने इस प्रसंग में किसी प्रकार का साम्प्रदायिक व्यामोह न दिखाकर विशुद्ध यथार्थ लौकिक एवं राष्ट्रीय-रूप को ही प्रदर्शित किया है। इन शिक्षाओं का विभाजन निम्न चार वर्गों में किया जा सकता है[1]—

१—आत्मविकास एवं जीवन को अलंकृत करने वाली विद्याएँ (साहित्य)—श्रुतांग, वेद, पुराण, आचार-शास्त्र, व्याकरण, सप्तभंगी न्याय, लिपिशास्त्र, लेखन क्रिया (चित्र-निर्माण-विधि), सामुद्रिक-शास्त्र, कोमल-काव्य-रचना, देशभाषा कथन, नवरस, छन्द, अलंकार, शब्द-शास्त्र एवं न्याय दर्शन।

२—राष्ट्रीय-सुरक्षा हेतु आवश्यक विद्याएँ (कलाएँ)—गज एवं अश्वविद्या, शर-शस्त्रादि संचालन, व्यूह-संरचना, असि एवं कुन्तसंचालन, मुष्टि एवं मल्लयुद्ध, असि-बन्धन, शत्रु-नगर-रोधन, रणमुख में ही शत्रु-रोधन अग्नि एवं जल-बन्धन, वज्र-शिला-वेधन, अश्व, धेनु एवं गजचक्र का मूल बन्धन।

३—व्यावहारिक विद्याएँ (कलाएँ)—अञ्जन-लेपन, नर-नारी, अंग-मर्दन, सुर-भवन (मन्दिर) आदि में लेपन (चित्रकारी) का ज्ञान, नर-नारी वशीकरण, पाँच प्रकार के घण्टों का वादन, चित्तोपल, स्वर्णतरु के तागों का निर्माण, कृषि एवं वाणिज्य-विद्याएँ, काल-परिवंचण (अर्थात् अचूक औषधि-शास्त्र का ज्ञान एवं औषधि-निर्माण विद्या), सर्प-विद्या का ज्ञान, नव-रसयुक्त भोजन-निर्माण-विधि एवं रति-विस्तार (कामशास्त्र का ज्ञान)।

४—संगीत एवं वाद्य सम्बन्धी-विद्याएँ—मन्दल, टिविल, ताल, कंसाल, भंभा, भेरी, झल्लरी, काहल, करड, कंबु, डमरु, डक्क, हुडक्क एवं टट्टरी का ज्ञान।

उपर्युक्त विद्याओं की सूची में एक भी अलौकिक विद्या का उल्लेख नहीं। कवि ने युगानुकूल उन्हीं समकालीन लोक प्रचलित विद्याओं का वर्णन किया है, जो एक उत्तरदायित्व-पूर्ण मध्यकालीन राष्ट्राध्यक्ष को सामाजिक-विकास के लिए अत्यावश्यक, उन्नत, प्रभावपूर्ण तथा सर्वांगीण व्यक्तित्व-विकास के लिए अनिवार्य थीं। इसीलिए कवि का नायक-पार्श्व, जैन होकर भी चारों वेदों एवं अष्टादश पुराणों का अध्येता बताया गया है। क्योंकि उसके राज्य में विविध धर्मानुयायियों का निवास था। संगीत में भी जिन वाद्यों की चर्चा कवि ने की है वे भी देवकृत अथवा पौराणिक वाद्य नहीं, अपितु वे वाद्य हैं, जो हरयाणा एवं दिल्ली तथा उनके आसपास के प्रदेशों में प्रचलित थे। अधिकांश वाद्य पंजाब एवं हरयाणा में आज भी

१. पासणाह० २।१७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्हीं नामों से जाने जाते हैं तथा भांगड़ा या अन्य नृत्यों में प्रायः उन्हीं का अधिक प्रयोग होता है।

भौगोलिक वर्णन

कवि श्रीधर मात्र भावनाओं के ही चितेरे नहीं, अपितु उन्होंने जिस भू-खण्ड पर जन्म लिया था, उसके कण-कण के अध्ययन का भी प्रयास किया था। यही कारण है कि 'पासणाह चरिउ' में विविध नगर एवं देशवर्णन, नदी, पहाड़, सरोवर, वनस्पतियाँ, विविध मनुष्य जातियाँ, उनके विविध-व्यापार, भारत-भूमि का तत्कालीन राजनैतिक-विभाजन, विविध देशों के प्रमुख-उत्पादन तथा उनके आयात-निर्यात सम्बन्धी अनेक भौगोलिक सामग्रियों के चित्रण भी कवि ने किये हैं। उदाहरणार्थ कुछ सामग्री यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

कुमार पार्श्व जिस समय काशीराज्य के युवराज पद पर प्रतिष्ठित किए जाते हैं, उस समय निम्न देशों के नरेश उन्हें सम्मान-प्रदर्शन हेतु तलवार हाथ में लेकर उनके राज-दरबार में पधारे। उक्त देशों के वर्गीकृत नाम इस प्रकार हैं[1]—

पूर्व भारत—वज्रभूमि, अंग, बंग, कलिंग, मगध, पापा, खश एवं गौड़।

उत्तर भारत—हरयाणा, टक्क, चौहान, जालन्धर, हाण एवं हूण।

पश्चिम भारत—गुर्जर, कच्छ एवं सिन्धु।

दक्षिण भारत—कर्नाटक, महाराष्ट्र, चोड एवं राष्ट्रकूट।

मध्य भारत – मालवा, अवध, चन्दिल्ल, मादानक एवं कलचुरी।

युवराज पार्श्व के लिए विविध नरेशों द्वारा प्रदत्त भेंट सामग्रियाँ

युवराज पार्श्व जब यवनराज के साथ युद्ध करने हेतु प्रस्थान करने लगते हैं, तब निम्न नरेशों ने अपने-अपने देशों में निर्मित निम्न सुप्रसिद्ध वस्तुएँ युवराज पार्श्व की सेवा में भेंट स्वरूप भेजीं[2]—

मणि मेखलाएँ एवं हारलताएँ—कीर देश, पाञ्चाल, टक्क देश, पालम्ब एवं जालन्धर।

वाणों द्वारा अभेद्य मुकुट—सोनदेश

केयूर—सिन्धदेश

कंकण—हम्मीर राजा द्वारा प्रेषित

कुण्डल—मालव

निवसन-वस्त्र—खश

चूड़ारत्न (रुद्राक्ष ?)—नेपाल

प्रतीत होता है कि ११ वीं १२ वीं सदी में उक्त देशों में उक्त वस्तुओं का विशेष रूप से निर्माण किया जाता था तथा उनका दूसरे देशों में निर्यात भी किया जाता रहा होगा। असम्भव नहीं कि इन व्यापारों से कवि श्रीधर के आश्रयदाता साहू नट्टल का भी सम्बन्ध रहा

---

१. पासणाह० २।१८।

२. वही० ३।१५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो, क्योंकि साहू नट्टल का जिन-जिन देशों से सम्बन्ध बतलाया है, उस सूची में उक्त देशों का भी नाम आता है।[1] मध्यकालीन भारत की आर्थिक एवं व्यापारिक-दृष्टि से तो ये उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं ही, तत्कालीन कला, सामाजिक-अभिरुचि एवं विविध-निर्माण-सामग्री के उपलब्धि-स्थलों की दृष्टि से भी उनका अपना विशेष महत्त्व है।

पार्श्व के साथ युद्ध में भाग लेने वाले नरेश

(पार्श्व के) काशी-देश की ओर से यवनराज के साथ लोहा लेने वाले राज्यों की सूची इस प्रकार है[2]—

नेपाल, जालन्धर, कोरट्ठ एवं हम्मीर (इन्होंने हाथियों के समान चिंघाड़ते हुए)।

सिन्धु, सोन एवं पाञ्चाल—(इन्होंने भीम के समान मुखवाले वाण छोड़ते हुए)।

मालव, टक्क एवं खश—(इन्होंने दुर्दम यवनराज के साथ विषम-युद्ध करके)।

प्रतीत होता है कि उक्त राज्यों ने अपना महासंघ बनाकर काशी-नरेश का साथ दिया होगा, जिसमें कर्नाटक, लाट, कोंकण, वराट, विकट, द्राविड, भृगुकच्छ, कच्छ, अतिविकट वत्स, डिंडीर, अत्यन्त दुःसाध्य विन्ध्य, कोशल, मरट्ठ एवं घृष्टसौराष्ट्र ने भी उक्त महासंघ का पूरा-पूरा साथ दिया[3] इनकी सम्मिलित-शक्ति ने यवनराज को बार-बार पीछे हटा दिया।

इतने देशों के नामों के एक साथ उल्लेख अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। यवनराज सुबुक्तगीन एवं उसके उत्तराधिकारियों तथा मुहम्मद गोरी के आक्रमणों से जब धन-जन, सामाजिक एवं राष्ट्रीय-प्रतिष्ठा की हानि एवं देवालयों का विनाश किया जा रहा था, तब प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय-सुरक्षा एवं समान-स्वार्थों को ध्यान में रखते हुए पड़ोसी एवं सुदूर-वर्त्ती राज्यों ने उक्त यवनराजाओं के आक्रमणों के प्रतिरोध में सम्भवतः तोमरवंशी राजा अनंगपाल तृतीय के साथ अथवा कोई स्वतन्त्र महासंघ बनाया होगा। कवि ने सम्भवतः उसी की चर्चा पार्श्व एवं यवनराज के माध्यम से प्रस्तुत की है। यथार्थतः यह विषय बड़ा रोचक एवं गम्भीर-शोध का विषय है, शोधकर्त्ताओं एवं इतिहासकारों को इस दिशा में अनु-सन्धान करना चाहिए।

कवि ने प्रसंगवश हरयाणा, कुशस्थल, कालिन्दी, वाराणसी एवं मगध आदि के भी सुन्दर वर्णन किए हैं तथा छोटी-छोटी भौगोलिक इकाइयों जैसे—कर्वट, खेड, मडम्ब, आराम, द्रोणमुख, संवाहन, ग्राम, पट्टन, पुर, नगर आदि के भी उल्लेख किए हैं। पूर्वोक्त वर्णनों एवं इन उल्लेखों को देखकर यह स्पष्ट है कि कवि को मध्यकालीन-भारत का आर्थिक, व्यापारिक, प्राकृतिक, मानवीय एवं राजनैतिक-भूगोल का अच्छा ज्ञान था। कवि द्वारा प्रस्तुत यह सामग्री निश्चय ही तत्कालीन प्रामाणिक इतिहास तैयार करने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

---

१. पासणाह०

२. वही० ३।१२।

३. वही० ३।१२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रस-परिपाक

पासणाहचरिउ का अंगीरस शान्त है, किन्तु श्रृंगार, वीर और रौद्र रसों का भी उसमें सम्यक् परिपाक हुआ है। कवि ने युद्ध के लिए प्रस्थान, संग्राम में चमचमाती तलवारें, लड़ते हुए वीरों की हुंकारों एवं योद्धाओं के शौर्य-वीर्य-वर्णनों आदि में वीर-रस की सुन्दर उद्भावना की है। पार्श्व कुमार को उसके पिता अश्वसेन जब युद्ध की भयंकरता समझाकर उन्हें युद्ध में न जाने की सलाह देते हैं तब पार्श्व को देखिए वे कितना वीरता-पूर्ण उत्तर देते हैं—

णहयलु तलि करेमि महि उप्परि वाउवि वंधमि जाइण चप्परि।
पाय-पहारें गिरि-संचालमि णीरहि णीरु णिहिल पच्चालि।
इंदोहौ इंद-धणुह उद्दालमि फणिरायहो सिरसेहरु टालमि।
कालहो कालत्तणु दरिसावमि घणवइ धण:धारहिँ वरिसावमि।
अग्गि कुमारहो तेउ णिवारमि वारुणु सुरु वरिसंतउ धारमि।
तेल्लोकुवि लीलए उच्चायमि करयल-जुअलें रवि-ससि छायमि।
तारा-णियरइँ गयणहो पाडमि कूरग्गह-मंडलु णिद्धाडमि।
णहयरहो गमणु णिरुंभमि दिक्करडिहिँ कुंभयलु णिसुंभमि।
विज्जाहर-पय-पूरु वहावमि सूलालंकिय-करु संतावमि।
मयणहो माण मडप्फरु भंजमि भूअ-पिसाय-सहासइँ गंजमि।
दीसउ मज्झु परक्कमु वाल्हो उअरोहेण समुण्णय-भालहो।

पास० ३।१५

इसी प्रकार राजा अरविन्द कमठ के दुराचार से खिन्न होकर क्रोधातुर हो जाता है और उसे नाना प्रकार के दुर्वचनों द्वारा अपमानित करता है; तब राजा के रौद्ररूप का कवि ने चित्रण कर रौद्र-रस की अच्छी उद्भावना की है। इसी प्रकार पार्श्व के वैराग्य के समय परिवार एवं पुरवासियों के वियोग के अवसर पर करुण-रस तथा जब पार्श्व वन में जाकर दीक्षित हो जाते हैं, उस सन्दर्भ में शान्त-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।

श्रृङ्गार-रस के भी जहाँ-तहाँ उदाहरण मिलते हैं। कवि ने नगर, वन, पर्वत, नर एवं नारियों के सौन्दर्य का चित्रण किया है, किन्तु यह श्रृङ्गार रतिभाव को पुष्ट न कर विरक्ति को ही पुष्ट करता है। माता वामा देवी के सौन्दर्य का वर्णन इसके लिए सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। १:१३

भाषा

पासणाहचरिउ एक प्रौढ़ अपभ्रंश रचना है, किन्तु उसमें उसने जहाँ-तहाँ अपभ्रंश के सरल शब्दों के प्रयोग तो किए ही हैं साथ ही उसने तत्कालीन लोक-प्रचलित कुछ ऐसे शब्दों के भी प्रयोग किए हैं जो आधुनिक बोलियों के समकक्ष हैं। इनमें से कुछ शब्द तो आज भी हूबहू उसी रूप में प्रचलित हैं। इस प्रकार की शब्दावली से कवि की कविता में प्राणवत्ता, वर्णन-प्रसंगों में रोचकता एवं गतिशीलता आई है। उदाहरणार्थ कुछ शब्द यहाँ प्रस्तुत हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बार-बार [बारम्बार ३।८।१], हल्ला [शोरगुल ४।१८।४], फाड़ना [४।९।१], थोड़ा [१०।५।३],. अज्जकल्ल [१०।१४।७], डमरू [३।१०।११, ३।११।५], पतला [१।१३।१०], हौंले-हौंले [धीरे-धीरे ३।१७।२], चप्प [चाँपना ५।७।८], चाँपना [७।११।४], चुल्ली [चूल्हा ४।१।४], लक्कड़ [६।८।१२], पण्ही [जूता ४।९।४], कुमलाना [मुरझाना ३।१८।८], खुरुप्प [खुरपा ४।१९।१३, ५।११।९], धोवन [धौन ३।१८।२], लट्ठी [लाठी ३।११।४], मुट्ठि [३।११।४], घट्ट [मोड़ ३।६।१२], चिंध [धज्जी ४।९।१], तोड़ [तोड़ना ४.९।८], धुत्त [नशे में चूर ३।१३।२], चाजु [आश्चर्य १।१३।९], अंधार [अन्धेरा ३।१९।७], रेल्ल [धक्का-मुक्की ७।१३।१४], पेल्ल [३।८।४], बोल्लाविय [बुलाना ३।८।४], उट्ठिउ [उठा ३।८।१०], झाडंत [झाड़कर ७।९।८], ढुक्क [ढूंकना, झाँकना ३।१७।११, ४।१९।७], वुड्ढ [डूबना ३।१८।२], पाडंत [७।१।८], टालंत [टालना ७।९।९], कड्ढ [निकालना ४।२०।१८], चिक्कार [ध्वन्यात्मक ५।१।५, ५।३।१४]।

उपर्युक्त शब्दावली में अधिकांश शब्द हरयाणवी, राजस्थानी, बुन्देली एवं बघेली में आज भी हूबहू उसी प्रकार यत्किञ्चित् हेर-फेर के साथ प्रयुक्त होते हैं।

कवि श्रीधर अपभ्रंश के साथ-साथ संस्कृत भाषा के भी समानाधिकारी विद्वान् थे, यह उनकी अत्यन्त-प्रशस्ति में लिखित संस्कृत-श्लोकों से स्पष्ट ज्ञात होता है। कवि ने शार्दूल विक्रीडित, वसन्ततिलका एवं आर्याछन्दों में अपने आश्रयदाता नट्टल साहू को आशीर्वाद देते हुए कवि लिखता है—

पश्चाद्बभूव शशिमण्डलभासमानः ख्यातः क्षितीश्वरजनादपि लब्धमानः।
सद्दर्शनामृत-रसायन-पानपुष्टः श्रीनट्टलः शुभमना क्षपितारिदुष्टः ॥

उक्त सन्दर्भ-सामग्रियों के आधार पर 'पासणाहचरिउ' अपभ्रंश-साहित्य की एक महनीय कृति सिद्ध होती है। स्थानाभाव के कारण न तो उक्त रचना के सर्वांगीण अध्ययन का अवसर मिल सका और जो सन्दर्भ-सामग्री एकत्रित भी हुई, उसे भी अनेक सीमाओं में बँधे रहने के कारण पूरा विस्तार नहीं दिया जा सका, फिर भी जो संक्षिप्त अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया गया वह तो उसकी मात्र एक झाँकी ही है। वस्तुतः यह ग्रन्थ समकालीन विविध परिस्थितियों का एक सुन्दर प्रामाणिक-संग्रह है, जिसके विधिवत् अध्ययन से अनेक गूढ़ तथ्य प्रकाशित हो सकते हैं।

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समराइच्चकहा में सन्दर्भित प्राचीन बिहार

प्रो० डॉ० राजाराम जैन

आचार्य हरिभद्र विरचित समराइच्चकहा प्राच्य भारतीय वाङ्मय की एक अनूठी रचना है। उसमें मानव-जीवन के विविध पक्षों को प्रकाशित करने में प्रतिभामूर्त्ति हरिभद्र ने अपनी कुशल एवं मौलिक प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। इन पक्षों का एक साथ संग्रह एवं उनका विश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं। प्रस्तुत लघु निबन्ध का प्रमुख उद्देश्य तो केवल यही परीक्षण करना है कि औपन्यासिक शैली में ग्रथित उक्त लोकप्रिय रचना में तीर्थंकरों तथा जैनविद्या की महान् ऐतिहासिक भूमि—बिहार को कितना स्मरण किया गया है?

यह कहना तो कठिन ही है कि हरिभद्र ने कभी बिहार की यात्रा की होगी क्योंकि उनके साहित्य में इस प्रकार का स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। १४४४ ग्रन्थों के लेखक एवं टीकाकार[1] से यह आशा भी नहीं की सकती है कि वह लम्बी यात्राओं में अभिरुचि रखता रहा हो। जो लेखक एक साधु के कठोर नियमों का पालन करते हुए तथा रात्रि में दीपक जलवाने के हिंसा-दोष से बचते हुए, एक साधुभक्त श्रावक (लल्लिग) के द्वारा अपने अध्ययन-कक्ष में प्रस्थापित हीरे के प्रकाश में[2] एकरस होकर रात-रात तक निरन्तर ही साहित्य-प्रणयन करता रहा हो, उसे यात्रा के लिए, विशेषरूपेण दूर देश की यात्रा के लिए समय ही कहाँ से मिल पाता?

यह सही है कि "समराइच्चकहा" भूगोल का ग्रन्थ नहीं है। फिर भी, हरिभद्र ने उसके अनेक कथा प्रसंगों में बिहार के प्रसिद्ध कुछ प्रमुख स्थलों के उल्लेख किए हैं, जिनमें क्षितिप्रतिष्ठपुर, वसन्तपुर, विशाखवर्धन, पाटलिपुत्र, कुसुमपुर, मिथिला, कोल्लाग-सन्निवेश, चम्पा एवं महासर नामक नगर प्रमुख हैं। अटवियों में उन्होंने 'कादम्बरी' का उल्लेख किया है। इन स्थलों की जानकारी के लिए हरिभद्र के सम्मुख पूर्ववर्ती अनेक साहित्यिक परम्पराएँ एवं अनुश्रुतियाँ तो थीं ही, साथ में बिहार-भूमि के प्रति उनके मन में श्रद्धा समन्वित सुकोमल भावनाएँ भी। उक्त सन्दर्भित स्थलों की वर्तमान सन्दर्भों में अवस्थिति, उनके इतिहास एवं महत्व पर यहाँ संक्षेप में कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है—

क्षितिप्रतिष्ठितपुर

इस नगर की पहिचान वर्तमान राजगृही से की गई है। अपनी प्रारम्भिक कथा (राजकुमार गुणसेन एवं पुरोहित पुत्र अग्निशर्मा) के प्रारम्भ में इस नगर का वर्णन करते हुए

---

१. दे० समराइच्चकहा डॉ० छगनलाल शास्त्री द्वारा सम्पादित (बीकानेर १९७६) भू० पृ० १५।
२. दे० वही० पृ० ११।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरिभद्र ने उसकी नगर-संरचना का सुन्दर चित्रण किया है एवं वहाँ के निवासियों की विविध सांस्कृतिक अभिरुचियों की चर्चा की है।[1]

आवश्यक निर्युक्ति एवं चूर्णि के अनुसार पूर्वकाल में भी इस नगर का नाम क्षिति-प्रतिष्ठितपुर[2] था। प्रतीत होता है कि पृथिवीमण्डल पर ख्याति प्राप्त होने के कारण ही सम्भवतः उक्त नगर का यह नाम पड़ा होगा, किन्तु परवर्त्तीकालों में राजनैतिक एवं भौगोलिक कारणों से उसके नामों में परिवर्तन होता रहा। जैन अनुश्रुतिओं के अनुसार क्षितिप्रतिष्ठितपुर के राजा जितशत्रु ने उसे क्षीणवास्तुक समझकर वास्तुशास्त्रविद् विद्वानों की सम्मति से एक नवीन नगर की स्थापना की तथा वहाँ चनों की अधिक पैदावार के कारण उस नगर का नाम "चणकपुर"[3] रखा। आगे चलकर उस नगर में भी कुछ त्रुटियों का अनुभव किया जाने लगा, अतः अन्य किसी राजा ने कुशा-दर्भ बहुल प्रदेश पर "कुशाग्रपुर" नामक एक नवीन नगर का निर्माण कराया, किन्तु वहाँ भी समय-समय पर अग्निकाण्ड होने के कारण राजा श्रेणिक ने पुनः स्थान परिवर्तन कर दिया और राजगृही के नाम से पुनः एक नवीन नगर की रचना कराई।[4] उसने राजगृही की श्री-समृद्धि एवं प्रतिष्ठा में पर्याप्त अभिवृद्धि की। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनत्सांग ने राजगृही को "किउशोलोपुलो"[5] के नाम से स्मृत किया है, प्रतीत होता है कि उसके समय में "राजगृहो" नाम के साथ-साथ वह "कुशाग्रपुर" के नाम से भी जानी जाती थी।

श्रेणिक की मृत्यु के बाद राजगृही श्रीविहीन होती गई।

जैन परम्परा के अनुसार राजगृही का सम्बन्ध अनेक जैन महापुरुषों से रहा है। तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का जन्म यहीं हुआ था।[6] तीर्थंकर महावीर का प्रथम समवशरण[7] यहीं आया था तथा इन्द्रभूति गौतम, जम्बूस्वामी, मेतार्य, अभयकुमार, मेघकुमार, शालिभद्र, नन्दिषेण, विशाखनन्दि, शय्यंभवसूरि प्रभृति महापुरुषों का राजगृही से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यह भी उल्लेख मिलता है कि चक्रवर्ती भरत के महामन्त्री श्रीदास थे। उसके वंशज, जो कि महतियाण गोत्र के जैन श्रावक थे, यहाँ निवास करते रहे।[8] किन्हीं अज्ञात कारणों से उनका धर्म-परिवर्तन हो गया किन्तु उनका गोत्र सुरक्षित रह गया जो वर्तमान में बिहार में महथा, मेहता अथवा महेता के नाम से जाना जाता है। बिहार सरकार ने इस गोत्र वाली जाति की गणना अनुसूचित जातियों में की है।

---

१. दे० समराइच्च० १।१२
२. दे० राजगृह (लेखक—भँवरलाल नाहटा) पृ० ३
३. दे० वही पृ० ४
४. दे० वही
५. दे० वहीं पृ० ७
६. हरिवंश पुराण (जिनसेन) ६०।२१९ तथा उ० पु० ६०।२०–५०
७. पद्मपुराण रविषेण २।११३
८. राजगृह पृ० १५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार दो विदेशियों का सम्बन्ध भी राजगृही के साथ बतलाया जाता है। ईरान का एक राजकुमार आर्द्रक, जो कि श्रेणिकपुत्र अभयकुमार का परममित्र था[1], वह राजगृही में आकर भगवान् महावीर का प्रवचन सुनकर जैनधर्मानुयायी बन गया था तथा उसने ईरान देश में अहिंसा धर्म का प्रचार किया जो "कलन्दर-सम्प्रदाय"[2] के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा विदेशी था—ईसा मसीह, जो अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में माता-पिता से रूठकर इसराइल से भारत चला आया था। सन्त प्रकृति का होने के कारण उसने भारत-भ्रमण कर सभी धर्मों का अध्ययन किया। इसी क्रम में वह राजगृही भी आया था और वहाँ उसने जैन-बौद्ध धर्मों का अध्ययन किया था। स्वदेश लौटने पर जब उसने सुधार-वादी धर्म का प्रचार करना चाहा, तभी उसे क्रूस पर लटका दिया गया।[3]

इस प्रकार जैन-साहित्य एवं अनुश्रुतियों में क्षितिप्रतिष्ठ अथवा राजगृही का रोचक वर्णन मिलता है। ये नाम-सन्दर्भ हरिभद्र के सम्मुख भी रहे होंगे। तद्विषयक नामावली में हरिभद्र को राजगृही की क्षितिप्रतिष्ठित नाम ही अधिक सार्थक एवं महिमापूर्ण प्रतीत हुआ होगा, अतः उन्होंने "समराइच्चकहा" में उसी का नाम उल्लेख किया।

वसन्तपुर[4]

प्रस्तुत नगर का उल्लेख करते हुए आचार्य हरिभद्र ने बतलाया है कि वहाँ सुपरितोष[5] नाम का एक सुन्दर तपोवन था, जिसमें अनेक तापस निराकुल होकर तपस्या किया करते थे। पुरोहित पुत्र अग्निशर्मा राजकुमार गुणसेन से अपमानित[6] होकर एवं दुःखी हृदय से तापस की दीक्षा लेकर यहीं पर जीवन व्यतीत करने लगा था।[7]

उक्त नगर की अवस्थिति (Location) का पता नहीं चल सका है। हरिभद्र ने लिखा है कि राजा गुणसेन वसन्तपुर से जब क्षितिप्रतिष्ठितपुर लौटा, तब मार्ग में निरन्तर चलते रहने पर भी उसे एक मास का समय लग गया।[8] अग्निशर्मा को भी क्षितिप्रतिष्ठितपुर से तपोवन तक पहुँचने में उतना ही समय लगा था।[9] इनकी प्रतिदिन की चलने की गति को यदि १५ किलोमीटर मान लें तो उसकी दूरी लगभग ४५० किलोमीटर होना चाहिए।

'समराइच्चकहा' के अनुसार उस तपोवन में बकुल, पुन्नाग, अशोक, चम्पक एवं नाग आदि के सघन वृक्ष थे तथा वहाँ मृग, सिंह आदि स्वभाव-विरुद्ध जानवर विचरण करते थे।

१-२. अहिंसा और उसका विश्वव्यापी प्रभाव (ले० डॉ० कामता प्रसाद जैन) पृ० ५२ एवं ५५

३. दे० राजगृह पृ० १६

४. दे० समरा० १।१८

५. दे० वही १।१४

६. दे० समरा० १।१४

७. दे० वही०

८. दे० समरा० १।१४।

९. दे० वही पृ० १।४६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहीं पर एक पहाड़ी नदी भी बहती थी।[1] तपोवन के इस प्राचीन भूगोल का मेल वर्तमान-कालीन हजारीबाग एवं चाइवासा से बैठ सकता हैं, जहाँ आज भी घने जंगल हैं। बिहार सरकार ने कुछ समय पूर्व वहाँ राष्ट्रीय उद्यान (Natinal park) बनाया है। समीप में ही दामोदर नदी भी बहती है। हजारीबाग की व्युत्पत्ति भी सहस्राराम अर्थात् "हजारों वाटिकाओं वाला प्रदेश" से हो सकती है। चाइवासा शुद्ध प्राकृत शब्द है, जो त्यागीवास से बना है। अतः इन नगरों के भूगोल एवं व्युत्पत्ति मूलक अर्थों की दृष्टि से भी इसी प्रदेश में वसन्तपुर एवं सुपरितोषपुर नामक तपोवन या आश्रम होना चाहिए, ऐसा प्रतीत होता हैं।

हरिभद्र ने वसन्तपुर के "विमानचछन्दक" नामक राजमहल को सर्वसुविधासम्पन्न बतलाते हुए कहा है कि वह वर्षाऋतु के लीला-दृश्यों की शोभा से युक्त था।[2] गुणसेन ने वहाँ वहाँ पर बल्ख, तुरुष्क एवं वज्रजाति के घोड़ों की सवारी का आनन्द लिया था।[3] भारत में इन तीन जातियों के घोड़ों को प्रशंसनीय बतलाया गया है। आगम-साहित्य की टीकाओं में भी इन घोड़ों के नाम मिलते हैं। युद्ध की दृष्टि से ये घोड़े बहुत ही जीवट वाले, आज्ञाकारी, परम विश्वस्त एवं चतुर माने जाते थे। अश्वसेना के गठन के उद्देश्य से इन घोड़ों का बल्ख, तुर्क एवं वज्र देशों से नकद अथवा वस्तु-विनियम के आधार पर आयात किया जाता होगा। वसन्तपुर काशी एवं कोशल देश की सीमाओं पर मगध देश का सीमान्तवर्ती नगर रहा होगा, अतः वहाँ राजभवन एव सुरक्षा चौकियों आदि के साथ-साथ अश्वसेना, आयुधशाला एवं सैन्यागार की भी व्यवस्थाएँ की गई होंगी।

विशाखवर्धनपुर

पुरातत्ववेत्ताओं ने इसकी पहचान वर्तमान बिहारशरीफ से की है। समराइच्चकहा के सातवें भव में इस नगर का उल्लेख कर उसे कादम्बरी-गुफा के समीप बताया गया है। इतिहासकार बुशानन ने एक स्थानीय जैन अनुश्रुति के आधार पर लिखा है कि इस नगर की स्थापना पद्मादय नामक राजा ने तीसरी-चौथी सदी के आस-पास की थी। सन् १८२० ई० में पुरातत्वविद् कर्नल फ्रेंकलिन ने भी इस स्थल की यात्रा की थी तथा उनके साथ रहने वाले एक जैन-पण्डित ने उन्हें बताया था कि उस स्थल का प्राचीन नाम विशाखपुर अथवा विशाखवर्धनपुर था, क्योंकि उसकी स्थापना उग्रवंशी नरेश विशाख ने की थी। सन्दर्भित जैन-पण्डित के अनुसार यह राजा विशाख राजगृही नरेश श्रेणिक का समकालीन था।[4] इन अनुश्रुतियों से यह विदित होता है कि उक्त नगर प्राचीन है तथा उसकी स्थापना सम्भवतः ईसापूर्व छठवीं सदी से ईस्वी सन् की चौथी सदी के मध्य कभी की गई होगी। वस्तुतः इस विषय में शोध-खोज की आवश्यकता है।

---

१. दे० वही पृ० ११७।
२. दे० वही पृ० ११८।
३. दे० वही पृ० १३० तथा आदिपुराण (जिनसेन)।
४. दे० Antiquarian Remains is Bihar (D. R. Patil) Patna, Page 44-45.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजगृही का समीपवर्ती प्रदेश होने के कारण प्रतीत होता है कि यहाँ श्रमणों के बिहार निरन्तर होते रहते होंगे अतः उसका नाम "बिहार" भी प्रचलित हो गया। तत्पश्चात् १६वीं-१७वीं सदी में शाह शरीफुद्दीन नामक एक मुस्लिम सन्त के नाम पर उसका नाम बिहारशरीफ पड़ गया[१] जो आज भी इसी नाम से जाना जाता है।

चम्पा[२]

वर्तमान भागलपुर के एक उपनगर—चम्पा नगर से इस स्थल की पहचान की गई है। चम्पक वृक्षों की प्रचुरता के कारण ही सम्भवतः इस नगर का उक्त नामकरण हुआ होगा। इसका दूसरा नाम मालिनी[3] भी मिलता है। जैन-साहित्य में उसे वासुपूज्य स्वामी की निर्वाण-भूमि के कारण सिद्धक्षेत्र की कोटि में प्रतिष्ठित किया गया है। व्यापारिक दृष्टि से भी उसे भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में परिगणित किया गया है। हरिभद्र ने उसे सार्थवाहों के गढ़ के रूप चित्रित किया है तथा वहाँ के नन्द नामक एक समृद्ध सार्थवाह की चर्चा की है।[४]

कोटिभट श्रीपाल चम्पानरेश था, किन्तु कुष्ठ रोग से पीड़ित होने के कारण वह उज्जयिनी चला गया। वहाँ से स्वास्थ्यलाभ कर वह जलमार्ग से भृगुकच्छ पहुँचा तथा समुद्री मार्ग से वह हंसद्वीप एवं रत्नद्वीप चला गया।[५] श्रीपाल का यह आख्यान वैदेशिक व्यापार-परम्परा एवं संस्कृति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे चम्पा का सांस्कृतिक दूत माना जा सकता है। स्थल मार्ग से चम्पा का व्यापारिक सम्बन्ध मिथिला, अहिच्छत्रा एवं पिहुंड (वर्तमान चिवकाकोल एवं कलिंगपट्ट) से था।

चम्पा नगरी में माप-तौल के प्रमाण सम्भवतः मगधदेश से ग्रहण किए जाने के कारण वे "मगधप्रस्थक"[६] के नाम से प्रसिद्ध थे, जिनके नाम एवं प्रमाण निम्न प्रकार हैं—

२ असई (असीत)	= १ पसई (प्रसृति)	[लगभग ३०० ग्राम]
२ पसई	= १ सेइया (सेतिका)	,, ६०० ,,
४ सेइया	= १ कुलओ (कुलवः)	,, २½ किलो
४ कुलओ	= १ पत्थवो (प्रस्थकः)	,, १० किलो
४ पत्थओ	= १ आडय (आटकः)	,, ४० किलो
४ आडय	= १ द्रोण (द्रोणः)	,, १६० किलो

चम्पा नगरी में देश-विदेश के सार्थवाहों के गमनागमन के कारण बड़ी चहल-पहल रहती थी। आगम-साहित्य में इसका बड़ा ही व्यवस्थित एवं विस्तृत वर्णन मिलता है। साधु-

---

१. दे० वही० पृ० ४५।

२. दे० समरा २।१०६।

३. दे० हरिभद्र के कथा सा० का भा० परि० (ने० चं० शा०) पृ० ३५६।

४. दे० समरा० २।१०६।

५. दे० सिरिवालकहा ५।२१-२४।

६. दे० श्रमण साहित्य में वर्णित बिहार की कुछ जैन तीर्थ-भूमियाँ (लेखक डे० राजाराम जैन) पृ० ६३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जनों, साहित्यकारों एवं दार्शनिकों का तो वह गढ़ था ही, अटूट धन-सम्पदा के कारण वहाँ औत्कटिकों (रिश्वतखोरों अथवा दलालों), ग्रन्थिभेदकों (जेबकतरों), उचक्कों एवं तस्करों की भी कमी नहीं थी। किन्तु प्रशासनिक कठोरता के कारण वहाँ अपराध कर्म अधिक नहीं हो पाते थे।[1]

विविध तीर्थंकल्प के अनुसार दशवैकालिक सूत्र की रचना इसी भूमि पर हुई थी।[2] कुमारनन्दि नामक एक स्वर्णकार ने चन्दन की एक कलापूर्ण जीवन्त स्वामी (भगवान् महावीर के दीक्षा लेने के पूर्व की मूर्ति) का निर्माण भी यहीं पर किया था।

कुणिक की मृत्यु के बाद उसके पुत्र उदायि ने चम्पा को अपनी राजधानी बनाया था। किन्तु आगे चलकर जब मगध की राजधानी पाटलिपुत्र बनी, तभी से चम्पा की अवनति का प्रारम्भ हो गया।

मिथिला[3]

उत्तर विहार की तिरहुत डिवीजन का एक अंचल मिथिला के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका प्रमुख नगर दरभंगा है। हरिभद्र ने बताया है कि वहाँ के एक मन्त्रिका ने अपनी मन्त्रशक्ति के प्रभाव से वहाँ के राजा की पटरानी का अपहरण कर लिया था। मन्त्र-तन्त्र के ये चमत्कार मिथिला में आजकल भी देखे जा सकते हैं। जिनप्रभ सूरि ने भी वहाँ के कुबेर-यक्ष, भृकुटियक्ष, वैरुट्टादेवो तथा गान्धारी देवी की चर्चा की है तथा सूचित किया है, ये देवी-देवता अपनी शक्ति से वहाँ के निर्विण्ण साधकों पर आने वाले उपसर्गों से उनकी रक्षा किया करते थे।[4]

महावीर के परिनिर्वाण के २२० वर्ष बाद अर्थात् ई० पू० ३०७ के पश्चात् मिथिला के लक्ष्मीगृह चैत्य में कौण्डिन्यगुप्त (आर्य महागिरि के शिष्य) का शिष्य आसमित्त अनुप्रवाद पूर्व (नामक पूर्व-साहित्य) "निपुणका" नामक वस्तु का अध्ययन कर वह श्रद्धा-विहीन हो गया था। प्रवचन स्थविरों द्वारा अनेकानेक युक्तियों से समझाकर मना करने पर भी वह उत्सूत्रप्ररूपणा कर चतुर्थ निह्नव हुआ।[5]

जैन-साहित्य में मिथिला का अपर नाम "जगइ"[6] भी बतलाया गया है। यह नाम विशिष्ट है जो अन्यत्र नहीं मिलता।

जिनप्रभसूरि ने मिथिलावासियों के कदलीफल तथा दुग्धसिद्ध चिउड़े के प्रति आसक्ति की चर्चा की है।[7] ये दोनों उत्पादन वहाँ की विशिष्ट वस्तुओं में प्रधान हैं। वहाँ आज भी उनकी वही स्थिति है।

कोल्लाग सन्निवेश[8]

इस नगर की पहचान वर्तमान वैशाली के कोल्हुआ[9] ग्राम से की गई है। जैनागम-

---

१. दे० उववाहय सुत्त का छठाँ सुत्त।

२. दे० विविध विकल्प (नाह्य) पृ० १४८।

३. दे० समरा० भव. ८।

४. दे० विविध तीर्थंकल्प (नाहटा) पृ० ७३।

५. दे० वही पृ० ७२। ६-८. दे० वही।

९. दे० Antiquarian Remains in Bihar, Patil, page 34,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहित्य के अनुसार यह वैशाली का एक प्रधान उपनगर था।[१] कुछ विद्वानों ने इसे मगध जनपद का एक ग्राम माना है[२], जो उचित प्रतीत नहीं होता।

ज़ैन-परम्परा के अनुसार वर्धमान ने प्रवृज्या ग्रहण करने के बाद प्रथम-पारणा यहीं पर ली थी।[3]

उक्त कोल्हुआ ग्राम में एक सुन्दर पालिश वाला सिंहशीर्षयुक्त प्राचीन स्तम्भ मिला है। कुछ इतिहासकारों ने उसे "अशोकस्तम्भ" बतलाया है, किन्तु अनेक विद्वान् उनके इस विचार से सहमत नहीं। इनका तर्क है कि बौद्ध परम्परा में सिंह का कोई स्थान नहीं। अल्बर्ट म्यूजियम लन्दन के प्राच्यविद्या विभागाध्यक्ष प्रो० जॉन इर्विन के अनुसार भारत में उपलब्ध प्राचीन स्तम्भों में केवल दो ही स्तम्भ अशोक द्वारा उनके निर्मित कराए जाने के स्पष्ट उल्लेख हैं और इन दोनों स्तम्भों की विशेषता है कि उन पर सिंहमूर्त्ति उत्कीर्ण नहीं है। ये दोनों स्तम्भ रुम्मनदेइ तथा निग्लीव (भारत-नेपाल सीमा पर) में स्थित हैं। सिंह मूर्त्ति वाले स्तम्भों को इर्विन ने अशोक के पूर्व के माने हैं तथा बताया है कि अशोक ने उन्हीं पर अपने अभिलेखों को उत्कीर्ण कराया है।[४] स्वयं अशोक ने ही अपने सप्तम स्तम्भलेख में लिखाया है कि—"इयं धमलिवि अत अथि सिलाथंभानि वा सिलाफलकानि वा तत कटविया एन यस चिलंथितिकेसिया"[५] अर्थात् 'जहाँ-जहाँ पत्थर के स्तम्भ या पत्थर की शिलाएँ हों, वहाँ-वहाँ यह धर्मलिपि लिखवाई जाय जिससे कि वह चिरस्थायी रहे।'

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि बौद्ध परम्परा में सिंह का महत्त्व नहीं है जबकि जैन-परम्परा में महावीर का प्रतीक चिह्न होने के कारण उसका विशेष महत्व है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में स्तम्भ का कोई महत्व नहीं, जबकि तीर्थंकर की समवशरण-रचना में प्रमुख द्वार पर एक स्तम्भ अनिवार्य रूप से रहता है, जिसे "मानस्तम्भ" की संज्ञा प्राप्त है। बहुत सम्भव है कि कोल्हुआ ग्राम का वह स्तम्भ महावीर के नाना चेटक ने प्रवृज्या ग्रहण करने की स्मृति में अथवा उनके द्वारा प्रवृज्या के बाद प्रथम पारणा कोल्लाग में लिए जाने के उपलक्ष्य में निर्मित कराया हो और उसकी देखा-देखी में कैवल्य-प्राप्ति के बाद उनके बिहार स्थलों या उनकी विविध कल्याणक तिथियों के उपलक्ष्य मे ये सिंहशीर्ष वाले स्तम्भ जहाँ-तहाँ बनवाए गए हों, जिन पर बाद में अशोक ने अपनी धर्मलिपियाँ उत्कीर्ण करा दी हों। इस विषय पर गम्भीर शोध-खोज की आवश्यकता है।

पाटलिपुत्र[६]

वर्तमान में यह बिहार की राजधानी है। कालक्रम से इसका नाम संक्षिप्त होते-होते पटना रह गया था किन्तु पुनः इसका नाम परिवर्त्तित कर अब पाटलिपुत्र कर दिया गया है।

---

१. वैशाली-अभिनन्दन-ग्रन्थ।
२. दे० हरिभद्र के प्रा० क० सा० आ० परि० (ने० च० शा०) पृ० ३५४।
३. दे० श्रमण साहित्य (डॉ० राजाराम जैन) पृ० ५१–५२।
४. दे० अ० भा० प्रा० वि० सम्मेलन (२८ वें अधिवेशन के प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग के अध्यक्ष का भाषण, कर्नाटक वि० वि० १९७६) पृ० ५८।
५. दे० अशोक का सातवाँ स्तम्भलेख।
६. दे० समरा० चतुर्थ भव, पृ० ३३९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह संयोग की बात है कि इसके उपलब्ध सभी नाम पुष्पवाची रहे हैं। जैसे—कुसुमपुर[१], पुष्पपुर[२], पुष्पभद्र[3] एवं पाटलिपुत्र[४]। इन नामों से विदित होता है कि यह नगर प्रारम्भ से ही प्रकृति का प्रांगण रहा है।

जैन-परम्परा के अनुसार पाटलिपुत्र की स्थापना कुणिक के पुत्र उदायि ने महावीर-निर्वाण के ६० वर्ष पश्चात् ई० पू० ४६७ में की थी।[५] उदायि ने पिता की मृत्यु के बाद शोकाकुल होकर चम्पा को छोड़ दिया तथा गंगा-किनारे हरे-भरे एवं पाटलि के पुष्पों की सुगन्धि वाले प्रदेश को मगध की राजधानी बनाया था जिसका नाम पाटलिपुत्र रखा।[६] इस नगर की स्थापना के कुछ ही वर्षों बाद उदायि की किसी ने हत्या कर डाली।[७] इस प्रकार सम्राट् श्रेणिक की परम्परा समाप्त हो गई और उदायि की नापितगणिका का नन्द नामक पुत्र मगध की गद्दी पर बैठा।[८] नौवें नन्द का मन्त्री शकटाल था।[९]

जैन इतिहास एवं संस्कृति की दृष्टि से पाटलिपुत्र का विशेष महत्व है। यही वह भूमि है जहाँ प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) ने जैन दीक्षा ग्रहण की थी।[१०] यहीं पर जैनागमों के संकलन-सम्पादन हेतु शकटालपुत्र स्थूलिभद्र की अध्यक्षता में प्रथम वाचना हुई, जो पाटलिपुत्र-वाचना[११] के नाम से प्रसिद्ध है। गीता, कुर्रान, बाइबिल एवं गुरु-ग्रन्थसाहिब के समान महान् पूज्य ग्रन्थराज—तत्वार्थाधिगमसूत्र की रचना भी उमा स्वातिवाचक ने यहीं पर की थी।[१२] यहीं पर स्थूलिभद्र ने जैनाचार्य पद धारण करने के बाद सुप्रसिद्ध मगध सुन्दरी—कोशागणिका की रंग-बिरंगी चित्रशाला में वर्षावास किया था और अपनी चारित्रिक दृढ़ता से प्रभावित कर उसे श्राविका-व्रत प्रदान कर सभी को आश्चर्यचकित कर दिया था।[13] कमलदह (गुलजारबाग स्टेशन के दक्षिण) स्थित एक भग्न खण्डहर आज भी उस घटना का स्मरण कराता रहता है।

पालिपुत्र अपने समय का बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। उसका सभी व्यापारिक केन्द्रों से सम्बन्ध था। यहाँ का बना हुआ माल स्वर्णभूमि तक जाता था।[१४]

१-४. दे० जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज (डॉ० जगदीश चन्द्र जैन) पृ०।
५. दे० विविध तीर्थकल्प (नाहटा) पृ० १५५।
६. वही० पृ० १५५।
७. वही०।
८. वही०।
९. वही०।
१०. भद्रबाहु चन्द्रप्रभ कथानक (कडवक १३)।
११. जैनागम सा० में वर्णित भारतीय समाज पृ० ४६२।
१२. दे० विविध तीर्थकल्प पृ० १५६।
१३. दे० वही० पृ० १५६।
१४. दे० जैन आ० सा० में भारतीय समाज पृ० ४६३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविध तीर्थकल्प[1] में पाटलिपुत्र का बड़ा ही रोचक वर्णन मिलता है। उसके अनुसार वहाँ ७२ कलाओं की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध था। यन्त्र, तन्त्र एवं मन्त्र विद्या, हय, गज, वृषभ एवं अश्वविद्या, वास्तु विद्या तथा इन्द्रजाल विद्या के साथ-साथ रसायन, धातुवाद, निधिवाद, अंजनगुटिका, पाद-प्रलेप तथा रत्न परीक्षा में वहाँ के लोग बहुत ही निपुण थे। यही कारण है कि आचार्य आर्यरक्षित चतुर्दश विद्याओं का अध्ययन करने हेतु दशपुर से यहाँ आए थे। इनके अतिरिक्त भी जिनप्रभसूरि ने अन्य अनेक मनोरंजक सूचनाएँ दी हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—[2]

(१) विद्वानों में आत्म-सन्तोष के लिए पाटलिपुत्र में ८४ वाद-शालाए थीं।

(२) सप्तनन्दों का ९९ कोटि द्रव्य पाटलिपुत्र में छिपा पड़ा है। वहीं पर ५ स्तूप हैं, जो धन-धान्य से भरे हुए थे तथा लक्षणावती के राजाओं से युद्ध के समय काम आए थे।

(३) यहाँ रत्न कम्बलों का पर्याप्त मात्रा में व्यापार होता था।

(४) चाणक्य की प्रेरणा से चन्द्रगुप्त एवं पर्वतक की भेंट यहीं पर हुई थी।

(५) यहाँ प्रतिदिन इतने बच्चों का जन्म एवं मुण्डन-संस्कार होता था कि उनके केशों की रस्सी बनाकर पाटलिपुत्र को बेढ़ा जा सकता था।

(६) पाटलिपुत्र में इतना दूध होता कि उसके मक्खन से वेगगामी पहाड़ी नदी को रोकने के लिए बाँध बनाया जा सकता था।

(७) वहाँ के व्यक्ति इतने धनाढ्य थे कि एक सहस्र योजन की यात्रा में हाथी के पैरों से जितने गड्ढे हो सकते हैं, उन्हें एक ही व्यक्ति अपनी स्वर्णमुद्राओं से भर सकता था।

(८) एक आठक (लगभग ४० किलो) तिलों के बोए जाने पर जितने तिल उग सकें, उतनी-उतनी स्वर्णमुद्राएँ वहाँ के निवासियों के घरों में सामान्य रूप से सुरक्षित रहती थीं।

उक्त वर्णन जिनप्रभ सूरि ने किस आधार पर किया है, इसकी जानकारी प्राप्त करना कठिन है। इन वर्णनों में अतिशयोक्ति भी हो सकती है किन्तु यह तथ्य है कि पाटलिपुत्र प्रारम्भ से ही समृद्ध नगर रहा है। मेगास्थनीज[3] ने इसकी समृद्धि, प्रतिष्ठाशक्ति एवं सुव्यवस्थाओं का विस्तृत एवं मनोहारि वर्णन किया है।

हाथीगुम्फा शिलालेख से यह स्पष्ट विदित होता है कि पाटलिपुत्र के नन्दनरेश जैन-धर्मानुयायी थे[4] और इसीलिए सम्भवतः भारतीय इतिहास में प्रतिष्ठित स्थान नहीं मिल सका।

महासर[5]

इसकी पहचान वर्तमान मसाढ़ ग्राम से की गई है। यह स्थल मुगलसराय-आरा-पटना रेल-मार्ग पर कारीसाथ स्टेशन के किनारे स्थित है। चीनी यात्री ह्युनत्सांग ने अपने यात्रा-

१. दे० विविध तीर्थकल्प पृ० १५७–१५८।
२. दे० विविध तीर्थकल्प पृ० १५७-१५८।
३. दे० भारत के प्राचीन राजवंश प्रथम भाग (पं० रेऊ) पृ० ५१-५२।
४. दे० भद्रबाहु चाणक्य चन्द्रगुप्त (डॉ० राजाराम जैन) भूमिका पृ० १८-१९।
५. दे० समरा० छठवाँ भव, पृ० ५०८, ५१८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवरण में उसे महोशोलो[1] कहा है तथा उसे श्रमण संस्कृति का केन्द्र बताया है। वहाँ की खुदाई में अनेक जैन मूर्तियाँ मिली हैं।

कादम्बरी[2]

समराइच्चकहा में प्राकृतिक-सौन्दर्य के वर्णन-प्रसंग में कादम्बरी नामक एक अटवी का वर्णन आया है जिसमें आम, चन्दन, कदम्ब एवं इमली के वृक्ष प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। इस भू-भाग की नदी में नावें भी चलती थीं।

हमारी दृष्टि से यह अटवी वर्तमान कोडरमा (गया-हावड़ा रेलमार्ग पर) एवं हजारी-बाग के आसपास सम्भावित है क्योंकि इस प्रदेश में आज भी आम, चन्दन, कदम्ब, इमली, खदिर आदि के प्रचुर मात्रा में वृक्ष पाए जाते हैं। अपने सघन वन के लिए भी यह प्रदेश प्रसिद्ध है। यह भी सम्भव है कि "कोडरमा" शब्द स्वयं ही कादम्बरी का परवर्ती परि-वर्तित रूप हो।

आचार्य हरिभद्र के ये सन्दर्भ मध्यकालीन इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन पर आगे भी तुलनात्मक अध्ययन एवं शोध-खोज की आवश्यकता है।

---

१. दे० ह्यूनत्सांग।
२. दे० समरा० कथा ६, पृ० ५१०, ५१५, ५२९, ५३६।

४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन वाक्य दर्शन

डा० सागरमल जैन

वाक्य भाषायी अभिव्यक्ति की एक महत्वपूर्ण इकाई है। वाक्य की परिभाषा को लेकर विभिन्न दार्शनिकों के विचारों में मतभेद पाया जाता है। प्रस्तुत विवेचन में हम सर्वप्रथम जैन आचार्यों की वाक्य की परिभाषा को स्पष्ट करेंगे और उसके बाद वाक्य की परिभाषा के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिक अवधारणाओं को और उनकी जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षा को प्रस्तुत करेंगे तथा यह देखने का प्रयास करेंगे कि जैन दार्शनिकों ने वाक्य का जो स्वरूप निश्चित किया है, वह किस सीमा तक तर्क-संगत है।

जैन दर्शनों में वाक्य का स्वरूप

प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में वाक्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "अपने वाच्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए एक दूसरे की परस्पर अपेक्षा रखनेवाले पदों का निरपेक्ष समूह वाक्य है।"[1] वाक्य की इस परिभाषा से हमारे सामने दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि वाक्य की रचना करनेवाले पद अपने वाच्यार्थ का अवबोध कराने के लिए परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं किन्तु उनसे निर्मित वह वाक्य अपने वाक्यार्थ का अवबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। दूसरे शब्दों में अपना अर्थबोध कराने में वाक्य स्वयं समर्थ होता है किन्तु पद स्वयं समर्थ नहीं होते हैं। जब सापेक्ष या साकांक्ष पद परस्पर मिलकर एक ऐसे समूह का निर्माण कर लेते हैं जिसे अपना अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, तब वाक्य बनता है। संक्षेप में साकांक्ष/सापेक्ष पदों का निरपेक्ष/निःकांक्ष समूह वाक्य है। पदों की सापेक्षता और उनसे निर्मित समूह की निरपेक्षता ही वाक्य का मूल तत्त्व है। वाक्य का प्रत्येक पद दूसरे पद की अपेक्षा रखता है। वह दूसरे के बिना अपूर्ण-सा प्रतीत होते हैं। अपने अर्थबोध के लिए दूसरे की आकांक्षा या अपेक्षा रखने वाला पद साकांक्ष पद कहलाता है और जितने साकांक्ष पदों को मिलाकर यह आकांक्षा पूरी हो जाती है, वह इकाई वाक्य कही जाती है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार यहाँ वाक्य में प्रयुक्त पद सापेक्ष या साकांक्ष होते हैं, वहाँ उन पदों से निर्मित वाक्य अपना अर्थबोध कराने की दृष्टि से निरपेक्ष या निराकांक्ष होता है। वस्तुतः परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा रखनेवाले सापेक्ष या साकांक्ष पदों को मिलाकर जब एक ऐसे समूह की रचना कर दी जाती है, जिसे अपने अर्थबोध

---

१. (अ) पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति।

—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ४५८।

(ब) पदानां पुनर्वाक्यर्थं प्रत्थायने विधेयेऽन्योन्यनिर्मितोपकारमनुसरतां वाक्यान्तरस्थपदाक्षेपारहिता संहतिर्वाक्यमभिधीयते।

—स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ९४१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, तब वाक्य बन जाता है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार वाक्य में पदों की दृष्टि से सापेक्षता से और पद-समूह की दृष्टि से निरपेक्षता होती है, अतः वाक्य सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह है। इसका तात्पर्य यह है कि वाक्य एक इकाई है जो सापेक्ष या साकांक्ष पदों से निर्मित होकर भी अपने आप में निरपेक्ष होती है। पद वाक्य के आवश्यक अंग हैं और वाक्य इनसे निर्मित एक निरपेक्ष इकाई है। वाक्यखण्डात्मक ईकाइयों से रचित एक अखण्ड रचना है।

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने के लिए जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में वाक्यपदीय से दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें उस काल में प्रचलित वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं का एक परिचय मिल जाता है।

आख्यातशब्दः संघातो जातिसंघातवर्तिनी। एकोऽनवयवशब्दः क्रमो बुद्धयनुसंहृति॥
पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यपि। वाक्यं प्रतिमतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥
(वाक्यपदीय २/१–२)

भारतीय दार्शनिकों में वाक्य के स्वरूप को लेकर दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। वैयाकरणिकों का मत है कि वाक्य एक अखण्ड इकाई है। वे वाक्य में पद को महत्वपूर्ण नहीं मानते। उनके अनुसार, वाक्य से पृथक् पद का कोई अस्तित्व ही नहीं है, जबकि दूसरा दृष्टिकोण जिसका समर्थन न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि दर्शन करते हैं, वाक्य को खण्डात्मक इकाइयों अर्थात् शब्दों और पदों से निर्मित मानता है। इनके अनुसार पद वाक्य का एक महत्वपूर्ण अंग है और अपने आप में एक स्वतन्त्र इकाई है। यद्यपि इस प्रश्न को लेकर कि क्रियापद (आख्यात पद) अथवा उद्देश्य पद आदि में कौन-सा पद वाक्य का प्राण है—इन विचारकों में भी मतभेद पाया जाता है। वाक्यपदीय के आधार पर प्रभाचन्द्र ने वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न मतों का उल्लेख किया है और उनकी समीक्षा की है।

(१) आख्यात पद ही वाक्य है

कुछ दार्शनिकों के अनुसार आख्यातपद या क्रियापद ही वाक्य का प्राण है। वही वाक्य का अर्थ वहन करने में समर्थ है। क्रियापद के अभाव में वाक्यार्थ स्पष्ट नहीं होता; अतः वाक्यार्थ के अर्थबोध में क्रियापद अथवा आख्यातपद ही प्रधान हैं, अन्य पद गौण हैं।

इस मत की समालोचना करते हुए प्रभाचन्द्र लिखते हैं कि आख्यातपद अर्थात् क्रियापद अन्य पदों से निरपेक्ष होकर वाक्य है या सापेक्ष होकर वाक्य है? यदि प्रथम विकल्प के आधार पर यह माना जाये कि आख्यातपद अन्य पदों से निरपेक्ष होकर वाक्य है तो यह मान्यता दो दृष्टिकोणों से युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि प्रथम तो अन्य पदों से निरपेक्ष होने पर आख्यातपद 'पद' ही रहेगा, 'वाक्य' के स्वरूप को प्राप्त नहीं होगा। दूसरे, यदि अन्य पदों से निरपेक्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आख्यातपद अर्थात् क्रियापद को ही वाक्य माना जाये तो फिर आख्यातपद का ही अभाव होगा क्योंकि आख्यातपद अर्थात् क्रियापद वह है, जो उद्देश्य और विधेयपद के अथवा अपने और उद्देश्यपद के पारस्परिक सम्बन्ध को सूचित करता है। उद्देश्य या विधेयपद से निरपेक्ष होकर तो वह अपना अर्थात् आख्यातपद का स्वरूप ही खो चुकेगा; क्योंकि निरपेक्ष होने से वह न तो उद्देश्यपद और विधेयपद के सम्बन्ध को और न उद्देश्यपद और अपने सम्बन्ध को सूचित करेगा। पुनः यदि आख्यातपद अन्य पदों से सापेक्ष होकर वाक्य है तो वह कथंचित् सापेक्ष होकर वाक्य है या पूर्णतया सापेक्ष होकर वाक्य। इसमें भी प्रथम मत के अनुसार यदि यह माना जाये कि वह कथंचित् सापेक्ष होकर वाक्य है, तो इससे तो जैन मत का ही समर्थन होगा। पुनः यदि दूसरे विकल्प के अनुसार यह माना जाये कि वह पूर्ण सापेक्ष होकर वाक्य है, तो पूर्ण सापेक्षता के कारण उसमें वाक्यत्व का ही अभाव होगा और वाक्यत्व का अभाव होने से उसके प्रकृत अर्थ अर्थात् आख्यात स्वभाव का ही अभाव होगा, यह अर्द्धवाक्यवत् होगा; क्योंकि पूर्ण सापेक्ष होने के कारण उसे अपना अर्थबोध कराने के लिये अन्य किसी की अपेक्षा बनी रहेगी। अन्य किसी की अपेक्षा रहने से वह वाक्य के स्वरूप को प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि वाक्य तो सापेक्षपदों की निरपेक्ष संहति अर्थात् इकाई है। अतः जैनों के अनुसार कथंचित् सापेक्ष और कथंचित् निरपेक्ष होकर ही आख्यातपद वाक्य हो सकता है। इसका तात्पर्य है कि वह अन्य पदों से मिलकर ही वाक्य स्वरूप को प्राप्त होता है। आख्यातपद वाक्य का चाहे एक महत्वपूर्ण अंग हो, किन्तु वह अकेला वाक्य नहीं है।

यह सत्य है कि अनेक स्थितियों में केवल क्रियापद के उच्चारण से सन्दर्भ के आधार पर वाक्यार्थ का बोध हो जाता है, किन्तु वहाँ भी गौणरूप से अन्य पदों की उपस्थिति तो है। 'खाओ' कहने से न केवल खाने की क्रिया की सूचना मिलती है, अपितु खानेवाले व्यक्ति और खाद्य वस्तु का भी अव्यक्त रूप से निर्देश होता है; क्योंकि बिना खानेवाले और खाद्य वस्तु के उसका कोई मतलब नहीं है। हिन्दी भाषा में 'लीजिए', 'पाइए' आदि ऐसे आख्यातपद हैं, जो एक पद होकर भी वाक्यार्थ का बोध कराते हैं; किन्तु इनमें अन्य पदों का गौणरूप से संकेत तो हो ही जाता है। संस्कृत भाषा में 'गच्छामि' इस क्रियापद के प्रयोग में 'अहं' और 'गच्छति' इस क्रियापद के प्रयोग में 'सः' का गौणरूप से निर्देश तो रहा ही है। क्रियापद का सदैव व्यक्त या अव्यक्त रूप में कर्त्तापद की अपेक्षा तो होती ही है। अतः आख्यातपद अन्य पदों से कथंचित् सापेक्ष होकर ही वाक्यार्थ का अवबोध करता है—यह मानना ही समुचित है और इस रूप में यह मत जैन दार्शनिकों को भी स्वीकार्य है।

(२) पदों का संघात वाक्य है

बौद्ध दार्शनिकों का यह कहना है कि पदों का संघात ही वाक्य है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मात्र पद-समूह संघात नहीं है। मात्र पदों को एकत्र रखने से वाक्य नहीं बनता है। वाक्य बनने के लिए 'कुछ और' चाहिए और यह 'कुछ और' पदों के एक विशेष प्रकार के एकीकरण से प्रकट होता है। यह पदों के अर्थ से अधिक एवं बाहरी तत्त्व होता है। पदों के समवेत होने पर आये हुए इस 'अर्थाधिक्य' को ही संघातवादी वाक्यार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानते हैं। इस प्रकार संघातवाद में वाक्य को पदसमूह के रूप में और वाक्यार्थ को पदों के अर्थसमूह के रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु यहाँ समूह या संघात ही महत्वपूर्ण तत्त्व है क्योंकि वह पदों के अर्थ में कुछ नयी बात को भी जोड़ता है। इस मत के अनुसार पदों के संघात में कुछ एक ऐसा नया तत्त्व होता है जो पदों के अलग-अलग होने पर नहीं होता है। उदाहरण के रूप में 'घोड़ा' 'घास' 'खाता है'—ये तीन पद अलग-अलग रूप में जिस अर्थ के सूचक हैं, इनका संघात या संहति अर्थात् 'घोड़ा घास खाता है' उससे भिन्न अर्थ का सूचक है। इस प्रकार संघातवादी पदों के संघात को ही वाक्यार्थ के अवबोध का मुख्य आधार मानते हैं।

संघातवाद की इस मान्यता की समालोचना करते हुए प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखते हैं कि पदों का यह संघात या संघठन देशकृत है या कालकृत। यदि पदों के संघात को देशकृत अथवा कालकृत माना जाये तो यह विकल्प युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि वाक्य के सुनने में क्रमशः उत्पन्न एवं ध्वंस होने वाले पदों का एक ही देश या एक ही काल में अवस्थित होकर संघात बनाना सम्भव नहीं है। पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वाक्यरूपता को प्राप्त पद वाक्य से भिन्न है या अभिन्न है। वह भिन्न नहीं हो सकता क्योंकि भिन्न रहने पर वह वाक्यांश नहीं रह जायगा और वाक्य के अंश के रूप में उसकी प्रतीति नहीं होगी। पुनः जिस प्रकार एक वर्ण का दूसरे वर्ण से संघात नहीं होता उसी प्रकार एक पद का भी दूसरे पद के साथ संघात नहीं होता है। पुनः यदि संघात अभिन्न रूप में है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है त: वह सर्वथा अभिन्न है या कथंचित् अभिन्न है। यदि सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो संघात संघाती के स्वरूप वाला हो जायेगा, दूसरे शब्दों में पद ही वाक्यरूप हो जायेगा और ऐसी स्थिति में संघात का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। यदि यह संघात कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है तो ऐसी स्थिति में जैन मत का ही समर्थन होगा क्योंकि जैनाचार्यों के अनुसार भी पद वाक्य से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होते हैं। इस रूप में तो यह मत जैनों को भी मान्य हो जायेगा।

(३) संघात में अनुस्यूत सामान्यतत्व (जाति) ही वाक्य है

कुछ विचारकों की मान्यता है कि वाक्य मात्र पदों का संघात नहीं है। वाक्य के समस्त पदों के संघात से होने वाली एक सामान्य प्रतीति ही वाक्य है। इन विचारकों के अनुसार पदों के संघात से एक सामान्य तत्त्व, जिसे वे 'जाति' कहते हैं, उत्पन्न होता है और यह संघात में अनुस्यूत सामान्य तत्त्व ही वाक्य है। वाक्य में पदों को पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रहती है, अपितु वे सब मिलकर एक सामान्य तत्त्व का अर्थबोध देते हैं और यही वाक्यार्थ होता है। इस मत के अनुसार यद्यपि पदों के संघात से ही वाक्य बनता है फिर भी वाक्य से पृथक् होकर उन पदों की अर्थबोध सामर्थ्य को स्वीकार नहीं करता है। यद्यपि वाक्य का प्रत्येक पद अपनी सत्ता रखता है तथापि वाक्यार्थ एक अलग इकाई है और पदों का कोई अर्थ हो सकता है तो वाक्य में रहकर ही हो सकता है; जैसे शरीर का कोई अंग अपनी क्रियाशीलता शरीर में रहकर ही बनाये रखता है स्वतन्त्र होकर नहीं। पद वाक्य के अंग के रूप में ही अपना अर्थ पाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र इस मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यदि जाति या सामान्यतत्व का तात्पर्य परस्पर सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह है, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वह दृष्टिकोण तो स्वयं जैनों को भी स्वीकार्य है। किन्तु यदि जाति को पदों से भिन्न माना जायेगा तो ऐसी स्थिति में इस मत में भी वे सभी दोष उपस्थित हो जायेंगे जो संघातवाद में दिखाये गये हैं क्योंकि जिस प्रकार पदसंघात पदों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होकर ही अर्थबोध प्रदान करता है, उसी प्रकार यह जाति या सामान्य तत्त्व भी पदों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न रहकर ही वाक्यार्थ का अवबोध करा सकता है, क्योंकि सामान्य तत्व या जाति को व्यक्ति (अंश) से न तो पूर्णतः भिन्न माना जा सकता है और न पूर्णतः अभिन्न ही। पद भी वाक्य से न तो सर्वथा भिन्न होते हैं और न सर्वथा अभिन्न ही। उनकी सापेक्षिक भिन्नाभिन्नता ही वाक्यार्थ की बोधक बनती है।

(४) वाक्य अखण्ड इकाई है

वैयाकरणिक वाक्य को एक अखण्ड सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार वाक्य अपने आप में एक इकाई है और वाक्य से पृथक् पद का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जिस प्रकार पद के बनानेवाले वर्णों में पदार्थ को खोजना व्यर्थ है उसी प्रकार वाक्य को बनानेवाले पदों में वाक्यार्थ का खोजना व्यर्थ है। वस्तुतः एकत्व में ही वाक्यार्थ का बोध होता है। इस मत के अनुसार वाक्य में पद और वर्ण का विभाजन समीचीन नहीं है। वाक्य जिस अर्थ का द्योतक है, वह अर्थ पद या पदों के संघात या पद-समूह में नहीं है। वाक्य को एक इकाई मानने में जैन आचार्यों को भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि वे स्वयं वाक्य को सापेक्ष पदों की एक निरपेक्ष इकाई मानते हैं। उनका कहना केवल इतना ही है कि वाक्य को एक अखण्ड सत्ता या निरपेक्ष इकाई मानते हुए भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उनकी रचना में पदों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। अंश से पूर्णतया पृथक् अंशी कल्पना जिस प्रकार समुचित नहीं---उसी प्रकार पदों की पूर्ण उपेक्षा करके वाक्यार्थ का बोध सम्भव नहीं है। वाक्य निरपेक्ष इकाई होते हुए भी सापेक्ष पद समूह से ही निर्मित है। अतः वे भी वाक्य का एक महत्वपूर्ण घटक हैं, अतः अर्थबोध में उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

प्रभाचन्द्र वाक्य के इस अखण्डता सिद्धान्त की समालोचना करते हुए कहते हैं कि वाक्य एक अविभाज्य एवं अपद इकाई है, यह मान्यता एक प्रकार की कपोल-कल्पना ही है क्योंकि पद के बिना वाक्य नहीं होता है, वाक्य में साकांक्ष पदों का होना नितान्त आवश्यक है। वाक्य में पदों की पूर्ण अवलेहना करना या यह मानना कि पद और पदार्थ का वाक्य में कोई स्थान ही नहीं है, एक प्रकार से आनुभविक सत्य से विमुख होना ही है। प्रभाचन्द्र ने इस मत के सम्बन्ध में वे सभी आपत्तियाँ उठायी हैं जो कि स्फोटवाद के सम्बन्ध में उठायी जा सकती हैं। यह मत वस्तुतः स्फोटवाद का ही एक रूप है जो वाक्यार्थ के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित करता है कि पद या उनसे निर्मित वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं, किन्तु स्फोट (अर्थ का प्राकट्य) ही अर्थ का प्रतिपादक है। यदि शब्दार्थ के बोध के सम्बन्ध में स्फोटवाद एकमात्र और अन्तिम सिद्धान्त नहीं है क्योंकि यह इसे स्पष्ट कर पाता है कि पदाभाव में अर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का स्फोट क्यों नहीं हो जाता ? अतः वाक्य को अखण्ड और अनवयव नहीं माना जा सकता। क्योंकि पद वाक्य के अपरिहार्यघटक है और वे शब्दरूप में वाक्य से स्वतन्त्र होकर भी अपना अर्थ रखते हैं, पुनः पदों के अभाव में वाक्य नहीं होता है अतः वाक्य को अनवयव नहीं कहा जा सकता।

(५) क्रमवाद

क्रमवाद भी संघातवाद का ही एक विशेषरूप है। इस मत के अनुसार पद को वाक्य का अपरिहार्य अंश तो माना गया है किन्तु पदों की सहस्थिति की अपेक्षा पदों के क्रम को वाक्यार्थ के लिए अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। क्रम ही वास्तविक वाक्य है। जिस प्रकार वर्ण यदि एक सुनिश्चित क्रम में नहीं हो तो उनसे पद नहीं बनता है, उसी प्रकार यदि पद भी निश्चित क्रम में न हो तो उनसे वाक्य नहीं बनेगा। सार्थक वाक्य के लिए पदों का क्रमागत विन्यास आवश्यक है। पद क्रम ही वस्तुतः वाक्य ही रचना करता है और उसी से वाक्यार्थ का बोध होता है। पदों का एक अपना अर्थ होता है और एक विशिष्टार्थ। पदों का एक विशिष्ट अर्थ उनमें क्रमपूर्वक विन्यास-दशा में ही व्यक्त होता है। पदों का यह क्रमपूर्वक विन्यास ही वाक्य का स्वरूप ग्रहण करता है।

साथ ही क्रमवाद काल की निरन्तरता पर बल देता है और यह मानता है कि काल का व्यवधान होने से पद-क्रम टूट जाता है और पदक्रम के टूटने से वाक्य नष्ट हो जाता है। क्रमवाद में एक पद के बाद आनेवाले दूसरे पद को प्रथम पद का उपकारक स्वीकार किया जाता है। पदों का यह नियत क्रम ही उपचीयमान अर्थात् प्रकट होनेवाले अर्थ का द्योतक होता है।

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र इस मत को संघातवाद से अधिक भिन्न नहीं मानते हैं मात्र अन्तर यह है कि जहाँ संघातवाद पदों की सहवर्तिता पर बल देता है, वहाँ क्रमवाद अपने क्रम पर। उनके अनुसार इस मत में भी वे सभी दोष हैं जो संघातवाद में हैं क्योंकि यहाँ भी देश और काल की विभिन्नता का प्रश्न उठता है—एक देश और काल में क्रम सम्भव नहीं और अलग-अलग देश और काल में पदों की स्थिति मानने पर अर्थबोध में कठिनाई आती है। यद्यपि वाक्य-विन्यास में पदों का क्रम एक महत्वपूर्ण तथ्य है किन्तु यह क्रम साकांक्ष पदों में जो कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न रूप से वाक्य में स्थित हैं, हीं सम्भव है।

(६) बुद्धिगृहीत तात्पर्य ही वाक्य है

कुछ दार्शनिकों की मान्यता है कि शब्द या शब्द-समूह बाह्याकार मात्र है, वाक्यार्थ उसमें निहित नहीं है। अतः वाक्य वह है जो बुद्धि के द्वारा ग्रहित है। बुद्धि की विषयगत एकाग्रता से ही वाक्य बोला जाता है और उसी से वाक्य के अर्थ का ग्रहण होता है। वाक्य का जनक एवं कारण बुद्धितत्त्व है। वक्ता द्वारा बोलने की क्रिया तभी सम्भव है, जब उसमें सुविचारत रूप में कुछ कहने की इच्छा होती है अतः बुद्धि या बुद्धितत्त्व ही वाक्य का जनक होता है। बुद्धि के अभाव में न तो वाक्य का उच्चारण सम्भव है और न श्रोता के द्वारा उनका अर्थग्रहण ही सम्भव है। अतः वाक्य का आधार बुद्धि अनुसंहृति है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनाचार्य प्रभाचन्द्र इस दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए प्रश्न करते हैं कि यदि बुद्धि-तत्त्व ही वाक्य का आधार है तो वह द्रव्यवाक्य है या भाववाक्य। बुद्धि को द्रव्यवाक्य कहना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि द्रव्यवाक्य तो शब्द ध्वनिरूप है, अचेतन है और बुद्धितत्त्व चेतन है अतः दोनों में विरोध है। अतः बुद्धि को द्रव्यवाक्य नहीं माना जा सकता। पुनः यदि यह माने कि बुद्धितत्त्व भाववाक्य है तो फिर सिद्धसाध्यता का दोष होगा। क्योंकि बुद्धि की भाववाक्यता तो सिद्ध ही है। बुद्धितत्त्व को भाववाक्य के रूप में ग्रहण करना जैनों को भी इष्ट है। इस सम्बन्ध में बुद्धिवाद और जैन दार्शनिक एकमत ही हैं। वाक्य के भावपक्ष या चेतनपक्ष को बौद्धिक मानना जैनदर्शन को भी स्वीकार्य है।

(७) आद्यपद (प्रथम पद) ही वाक्य है

कुछ विचारकों की मान्यता है कि वाक्य के प्रथम पद का उच्चारण ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है। इस मत के अनुसार वक्ता का अभिप्राय प्रथमपद के उच्चारण मात्र से ही स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि अन्य पद तो विवक्षा को वहन करनेवाले होते हैं। वाक्यपदीय में कहा गया है कि क्रिया से यदि कारक का विनिश्चय सम्भव है तो फिर कारक के कथन से भी क्रिया का निश्चय सम्भव है। यह सिद्धान्त यद्यपि वाक्यकारक पद के महत्व को स्पष्ट करता है फिर भी पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता। जैनाचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि चाहे वाक्य का प्रथम पद अर्थात् कारकपद हो अथवा अन्तिम पद अर्थात् क्रियापद हो, वे अन्य पदों की अपेक्षा से ही वाक्यार्थ के बोधक होते हैं। यदि एक ही पद वाक्यार्थ के बोध में समर्थ हो तो फिर वाक्य के अन्य पदों की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। दूसरे शब्दों में वाक्य में उनके अभाव का प्रसंग होगा। यह सही है कि अनेक प्रसंगों में प्रथम पद (कारक पद) के उच्चारण से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। उदाहरण रूप में जब राज दीवार की चुनाई करते समय 'ईंट' या 'पत्थर' शब्द का उच्चारण करता है तो श्रोता यह समझ जाता है कि उसे ईंट या पत्थर लाने का आदेश दिया गया है। यहाँ प्रथम पद का उच्चारण सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ का वहन करता है, किन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि वह 'ईंट' या 'पत्थर' शब्द प्रथम पद के रूप में केवल उस सन्दर्भ विशेष में ही वाक्य का स्वरूप ग्रहण करते हैं उससे पृथक् हो करके नहीं। राज के द्वारा उच्चरित पत्थर शब्द 'पत्थर लाओ' का सूचक होगा, जबकि छात्र-पुलिस संघर्ष में प्रयुक्त पत्थर शब्द अन्य अर्थ का सूचक होगा। अतः कारक पद केवल किसी सन्दर्भ विशेष में ही वाक्यार्थ का बोधक होता है, सर्वत्र नहीं। अतः एकान्तरूप से कारक पद को वाक्य मान लेना उचित नहीं है। राम शब्द का उच्चारण किसी सन्दर्भ में वाक्याथ का बोधक हो सकता है, सदैव नहीं। इसलिए केवल आदि पद या कारक पद को वाक्य नहीं कहा जा सकता। केवल 'पद' विशेष को ही वाक्य मान लेना उचित नहीं है, अन्यथा वाक्य में निहित अन्य पद अनावश्यक और निरपेक्ष होंगे और इस स्थिति में उनसे वाक्य बनेगा ही नहीं। पद सदैव साकांक्ष होते हैं और उन साकांक्ष पदों से निर्मित वाक्य ही निराकांक्ष होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(८) साकांक्ष पद ही वाक्य है

कुछ विचारकों के अनुसार वाक्य का प्रत्येक पद वाक्य के अंग के रूप में साकांक्ष होते हुए भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इस मत में प्रत्येक पद का व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया जाता है। इस मत के अनुसार पदों का अपना निजी अर्थ उनके सहमत या समवेत स्थिति में भी रहता है। यह मत वाक्य में पदों की स्वतन्त्र सत्ता और उनके महत्व को तो स्पष्ट करता है। संघातवाद से इस मत की भिन्नता इस अर्थ में है कि जहाँ संघातवाद और क्रमवाद में पद को प्रमुख स्थान और वाक्य को गौण स्थान प्राप्त होता है, वहाँ इस मत में पदों को साकांक्ष मानकर वाक्य को प्रमुखता दी जाती है। यह मत यह मानता है कि पद वाक्य के अन्तर्गत ही अपना अर्थ पाते हैं, उससे बाहर नहीं।

वाक्य के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण

जैन मत भी साकांक्ष पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहता है, किन्तु वह पद और वाक्य दोनों को ही समान बल देता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार न तो पदों के अभाव में वाक्य सम्भव है और न वाक्य के अभाव में पद ही अपने विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन करने में सक्षम होते हैं। पद वाक्य में रहकर ही अपना अर्थ पाते हैं। उससे स्वतन्त्र होकर नहीं। अतः पद और वाक्य दोनों का सापेक्षिक अस्तित्व एवं सापेक्षिक महत्व है। दोनों में से कोई भी एक दूसरे के अभाव में अपना अर्थबोध नहीं करा सकता है। अर्थबोध कराने के लिए पद को वाक्य सापेक्ष और वाक्य को पद सापेक्ष होना होगा। जैन मत में ऊपर वर्णित सभी मतों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार किया जाता है किन्तु किसी एक पक्ष पर अनावश्यक बल नहीं दिया जाता है। उनका कहना यह है कि कोई पद और वाक्य एक दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष होकर अर्थबोध कराने में समर्थ नहीं है। उनकी अर्थबोध सामर्थ्य उनकी पारस्परिक सापेक्षता में ही निहित है। विभिन्न पदों की पारस्परिक सापेक्षता (साकांक्षता) और पद एवं वाक्य की सापेक्षता में ही वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। परस्पर निरपेक्ष पद तथा वाक्य निरपेक्ष पद और पद निरपेक्ष वाक्य की न तो सत्ता ही होती है और न उनमें अर्थबोध कराने की सामर्थ्य ही होती है।

वाक्यार्थबोध सम्बन्धी सिद्धान्त

वाक्य के अर्थ (वाच्य-विषय) का बोध किस प्रकार होता है इस प्रश्न को लेकर भारतीय चिन्तकों में विभिन्न मत पाये जाते हैं। नैयायिक तथा भाट्ट-मीमांसक इस सम्बन्ध में अभिहितान्वयवाद की स्थापना करते हैं। इनके विरोध में मीमांसक प्रभाकर का सम्प्रदाय अन्विताभिधानवाद की स्थापना करता है। हम इन सिद्धान्तों का विवेचन और जैन दार्शनिकों के द्वारा की गई इनकी समीक्षा प्रस्तुत करते हुए हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि वाक्यार्थ-बोध के सम्बन्ध में समुचित दृष्टिकोण क्या हो सकता है?

अभिहितान्वयवाद (पूर्वपक्ष)

कुमारिलभट्ट की मान्यता है कि वाक्यार्थ के बोध में हमें सर्वप्रथम पदों के श्रवण से उन पदों के वाच्य-विषयों अर्थात् पदार्थों का बोध होता है। उसके पश्चात् उनके पूर्व में अज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है और उनकी सम्बद्धता के बोध से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्यार्थ के प्रति पदार्थों का ज्ञान ही कारणभूत है, दूसरे शब्दों में पदों के अर्थपूर्वक ही वाक्यार्थ अवस्थित है।[1] संक्षेप में पदों से अभिधाशक्ति के द्वारा पदार्थ का बोध होता है, फिर वक्ता के तात्पर्य अर्थात् वक्ता द्वारा किये गये विभक्ति प्रयोग के आधार पर उन पदों के पारस्परिक सम्बन्ध (अन्वय) का ज्ञान होता है और इस अन्वयबोध (पदों के सम्बन्ध ज्ञान) से वाक्यार्थ को बोध होता है। यही अभिहितान्वयवाद है। क्योंकि इसमें अभिहित अर्थात् पद द्वारा वाच्य पदार्थ के अन्वय अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इस सिद्धान्त में वाक्यार्थ का बोध तीन चरणों में होता है—प्रथम चरण में पदों को सुनकर उनके वाच्य अर्थात् पदार्थों का बोध होता है उसके पश्चात् दूसरे चरण में उन पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध (अन्वय) का ज्ञान होता है। तब तीसरे चरण में इस अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वाक्य से स्वतन्त्र पदों (शब्दों) का एक अलग अर्थ होता है और पदों के इस अर्थ के ज्ञान के आधार पर ही वाक्यार्थ का निश्चय होता है। दूसरे शब्दों में वाक्यार्थ का बोध पदों के अर्थबोध पर ही निर्भर करता है, पदों के अर्थ से स्वतन्त्र होकर वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदों का वाक्य से एवं दूसरे पदों से निरपेक्ष स्वतन्त्र अर्थ भी होता हैं किन्तु अपना अर्थ नहीं रखता है। वाक्यार्थ पद वाक्य से स्वतन्त्र अपना अर्थ रखता है जब कि वाक्य पद से स्वतन्त्र पदों के वाक्यार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय पर निर्भर करता है। जब तक पदों के अर्थों अर्थात् पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है तब तक वाच्यार्थ का बोध नहीं होता है। वाक्यार्थ के बोध के लिए दो बातें आवश्यक हैं—प्रथम पदों के अर्थ का ज्ञान और दूसरे पदों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान। पुनः पदों के पारस्परिक सम्बन्ध के भी चार आधार हैं—(१) आकांक्षा, (२) योग्यता, (३) सन्निधि और (४) तात्पर्य।

१. आकांक्षा—प्रथम पद को सुनकर जो दूसरे पद को सुनने की जिज्ञासा मन में उत्पन्न होती है—वही आकांक्षा है। पुनः एक पद की दूसरे पद की जो अपेक्षा रहती है वही आकांक्षा है। आकांक्षारहित अर्थात् परस्पर निरपेक्ष—गाय, अश्व, पुरुष, स्त्री आदि अनेक पदों के उच्चारण से वाक्य नहीं बनता है। जब कि साकांक्ष अर्थात् परस्पर सापेक्ष पद ही वाक्य की रचना करते हैं।

२. योग्यता—'योग्यता' का तात्पर्य है कि अभिहित पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में विरोध या बाधा नहीं होना चाहिए अर्थात् उनमें पारस्परिक सम्बन्ध की सम्भावना होना चाहिए। उदाहरणार्थ आग से सींचो—इस पद समुदाय में योग्यता नहीं है क्योंकि आग का सींचने से कोई सम्बन्ध है। अतः ऐसे असम्बन्धियों की योग्यता से रहित पदों से सार्थक वाक्य नहीं बनता है।

---

१. (अ) पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावनावतः ॥ मीमांसाश्लोकवार्तिक वाक्या० १११।
(ब) पदार्थपूर्वकस्तस्माद्वाक्यार्थोयमवस्थितः ॥ " ३३६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. सन्निधि—सन्निधि का तात्पर्य है—एक ही व्यक्ति द्वारा विना लम्बे अन्तराल के पदों का उच्चारण होना। न तो अनेक व्यक्तियों द्वारा विना अन्तराल के अर्थात् एक साथ बोले गये पदों से वाक्य बनते हैं और न एक व्यक्ति द्वारा लम्बे अन्तराल अर्थात् घण्टे-घण्टे भर बाद होनेवाले पदों के उच्चारण से वाक्य बनता है।

४. तात्पर्य—वक्ता के अभिप्राय को तात्पर्य कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार यह भी वाक्यार्थ के बोध की आवश्यक शर्त है। बिना वक्ता के अभिप्राय को समझे वाक्यार्थ का सम्यक् निर्णय सम्भव नहीं होता है। विशेष रूप से तब जब कि वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द द्व्यार्थक हो, जैसे 'सैन्धव', 'नव'। इसी प्रकार जब कोई शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में या व्यंग रूप में प्रयुक्त किया गया हो या फिर वाक्य में कोई पद अव्यक्त रह गया हो। विभक्ति प्रयोग वक्ता के तात्पर्य को समझने का एक आधार है।

संक्षेप में, पदों को सुनने से प्रथम अनन्वित (असम्बन्धित) पदार्थ उपस्थित होते हैं फिर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य अर्थात् विभक्ति-प्रयोग के आधार पर उनके परस्पर सम्बन्ध का बोध होकर वाक्यार्थ का बोध होता है। यही अभिहितान्वयवाद है।

अभिहितान्वयवाद की समीक्षा [1]

जैन तार्किक प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवाद की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि यदि वाक्य को सुनकर प्रथम परस्पर असम्बन्धित या अनन्वित पदार्थों का बोध होता है और फिर उनका पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय ज्ञात होता है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उनका यह अन्वय (सम्बद्धीकरण) किस आधार पर होता है? क्या वाक्य से बाह्य किन्हीं अन्य शब्दों/पदों के द्वारा इनका अन्वय या पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है या बुद्धि (ज्ञान) के द्वारा इनका अन्वय होता है? प्रथम विकल्प मान्य नहीं हैं। क्योंकि सम्पूर्ण पदों के अर्थों को विषय करनेवाला ऐसा कोई अन्वय का निमित्त-भूत अन्य शब्द ही नहीं है। पुनः जो शब्द/पद वाक्य में अनुपस्थित हैं, उनके द्वारा वाक्यस्थ पदों का अन्वय नहीं हो सकता है। यदि दूसरे विकल्प के आधार पर यह माना जाये कि ये बुद्धि के द्वारा अन्वित होते हैं या बुद्धितत्त्व इनमें अन्वय/सम्बन्ध स्थापित करता है तो इससे कुमारिल का अभिहितान्वयवाद का सिद्ध न होकर उसका विरोधी सिद्धान्त अन्विताभिधानवाद ही सिद्ध होता है। क्योंकि पदों के परस्पर अन्वितरूप में देखनेवाली बुद्धि तो स्वयं ही भाव वाक्यरूप है। यद्यपि कुमारिल की ओर से यह कहा जा सकता है कि चाहे वाक्य अपने परस्पर अन्वित पदों से भिन्न नहीं हो क्योंकि वह उन्हीं से निर्मित होता है, किन्तु उसके अर्थ का बोध तो उन अनन्वित पदों के अर्थ के बोध पर ही निर्भर करता है, जो सापेक्ष बुद्धि में परस्पर सम्बन्धित या अन्वित प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में प्रभाचन्द्र का तर्क यह है कि पद अपने धातु, लिंग, विभक्ति, प्रत्यय आदि से भिन्न नहीं है, क्योंकि जब वे कहे जाते हैं तब अपने अवयवों सहित कहे जाते हैं और उनके अर्थ का बोध उनके परस्पर अन्वित अवयवों के बोध

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्र), पृ० ४६४–६५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से होता है, अर्थात् हमें जो बोध होता है वह अन्वितों का होना है। अनन्वितों का नहीं होता है। इसके प्रत्युत्तर में अपने अभिहितान्वयवाद के समर्थन हेतु कुमारिल का यह तर्क दे सकते हैं कि लोक व्यवहार एवं वेदों में वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिए निरंश शब्द/पद का प्रयोग होता है केवल उनकी धातु, लिंग, विभक्ति या प्रत्यय का नहीं; धातु, लिंग, विभक्ति, प्रत्यय आदि तो उनकी व्युत्पत्ति समझाने के लिए उनसे पृथक् किये जाते हैं। एक शब्द एक वर्ष के समान अनवयव (निरंश) होता है, उसके अर्थ को समझने के लिए कल्पना के द्वारा उसके अवयवों को एक दूसरे से पृथक् किया जाता है। कुमारिल के इस तर्क के विरुद्ध प्रभाचन्द्र का कहना है कि जिस आधार शब्द को अपने अर्थबोध के लिए निरंश अखण्ड इकाई माना जा सकता है उसी आधार पर वाक्य को भी निरंश माना जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि वाक्य की संरचना को स्पष्ट करने के लिए शब्दों को (कल्पना में) पृथक किया जाता है, वस्तुतः वाक्य अखण्ड इकाई है। लोक व्यवहार में एवं वेदों में वाक्यों का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि पदार्थों की प्राप्ति या अप्राप्ति के लिए किया जा सके। वाक्य ही क्रिया का प्रेरक होता है, पद नहीं। अतः वाक्य एक इकाई है।

इस प्रकार प्रभाचन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस प्रकार शब्द पद से धातु, लिंग, प्रत्यय आदि आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से अभिन्न होते हैं उसी प्रकार पद भी वाक्य से आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से अभिन्न होता है। पद अपने वाक्य के घटक पदों से अन्तिवत, या असम्बद्ध या अभिन्न होता है और अन्य वाक्य के घटक पदों से अनन्वित, असम्बद्ध या भिन्न (अनन्वित) होता है। द्रव्य वाक्य में शब्द अलग-अलग होते हैं किन्तु भाव वाक्य (बुद्धि) में वे परस्पर सम्बन्धित या अन्वित होते हैं।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चाहे वाक्यों से पृथक् शब्दों का अपना अर्थ होता हो, किन्तु जब वे वाक्य में प्रयुक्त किये गये हों, तब उनका वाक्य से स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं रह जाता है। उदाहरण के रूप में शतरंज खेलते समय उच्चरित वाक्य 'राजा मर गया' या 'मैं तुम्हारे राजा को मार दूँगा' में पदों के वाक्य से स्वतंत्र अपने निजी अर्थ से वाक्यार्थ बोध में कोई सहायता नहीं मिलती है। यहाँ सम्पूर्ण वाक्य का एक विशिष्ट अर्थ होता है जो प्रयुक्त शब्दों/पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों पर बिलकुल ही निर्भर नहीं करता है। अतः यह मानना कि वाक्यार्थ के प्रति अनन्वित पदों के अर्थ ही कारणभूत हैं, न्यायसंगत नहीं है।

अन्विताभिधानवाद[1]

मीमांसा दर्शन के दूसरे प्रमुख आचार्य प्रभाकर के मत को अन्विताभिधानवाद कहा गया है। जहाँ कुमारिल भट्ट अपने अभिहितान्वयवाद में यह मानते हैं कि वाक्यार्थ के बोध में पहले पदार्थ अभिहित होता हो और उसके बाद उनके अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है— वहाँ प्रभाकर के अन्विताभिधानवाद में यह मानते हैं कि अन्वित पदार्थों का ही अभिधा शक्ति से बोध होता है। वाक्य में पद परस्पर सम्बन्धित होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

---

१. देखें—काव्यप्रकाश।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनके पारस्परिक सम्वन्ध के ज्ञान (अन्वय) से वाक्यार्थ का बोध होता है। वाक्य से प्रयुक्त पदों का सामूहिक एक समग्र अर्थ होता है। वाक्य से पृथक् उनका कोई अर्थ नहीं होता है।

इस सिद्धान्त में पद से पदार्थ वोध के पश्चात् उनके अन्वय को न मानकर वाक्य को सुनकर सीधा अन्वित पदार्थों का ही बोध माना गया है। इसलिए इस सिद्धान्त में तात्पर्य–आख्या–शक्ति की भी आवश्यकता नहीं मानी गई है। इस मत के अनुसार पदों को सुनकर संकेत ग्रहण केवल या अनन्वित पदार्थ में नहीं होता हैं, अपितु किसी के साथ अन्वित या सम्वन्धित पदार्थ में ही होता है। अतएव अभिहित का अन्वय न मानकर अन्वित का अभिधान मानना चाहिए, यही इस मत का सार है। यह मत मानता है कि वाक्यार्थ वाक्य ही होता है, तात्पर्य शक्ति से वाद को प्रतीत नहीं होता है।

उदाहरण के रूप में ताश खेलते समय उच्चरित वाक्य—'ये ईंट चलो' के अर्थबोध में प्रथम पदों के अर्थ का वोध फिर उनके अन्वय से वाक्यार्थ का वोध नहीं होता है अपितु सीधा ही वाक्यार्थ का वोध होता है क्योंकि यहाँ ईंट शब्द ईंट का वाचक न होकर ईंट की आकृति से युक्त पत्ते का वाचक है और चलना शब्द गमन क्रिया का वाचक न होकर पत्ता डालने का वाचक है। इस आधार पर अन्विताभिधान की मान्यता है कि वाक्यार्थ के वोध में पद परस्पर अन्वित प्रतीत होते हैं। प्रत्येक पूर्ववर्ती पद अपने परवर्ती पद से अन्वित होकर ही वाक्यार्थ बोध कराता है अतः वाक्य को सुनकर अन्वितों का ही अभिधान (ज्ञान) होता है।

यद्यपि यह सिद्धान्त यह मानता है कि पद अपने अर्थ का स्मारक (स्मरण करनेवाला) होता है किन्तु वाक्यार्थ के वोध में वह अन्य पदों से अन्वित (सम्बद्ध) होकर ही अर्थबोध देता है अपना स्वतन्त्र अर्थबोध नहीं देता है।

अन्विताभिधानवाद की समीक्षा[1]

प्रभाचन्द्र अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध निम्न आक्षेप प्रस्तुत करते हैं—

प्रथमतः यदि यह माना जाता है कि वाक्य के पद परस्पर अन्वित अर्थात् एक दूसरे से सम्बन्धित होकर ही अनुभूत होते हैं अर्थात् अन्वित रूप में ही उनका अभिधान होता है तो फिर प्रथम पद के श्रवण से वाक्यार्थ का बोध हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में अन्य पदों का उच्चारण ही व्यर्थ हो जायेगा। साथ ही प्रथम पद को वाक्यत्व प्राप्त हो जायेगा अथवा वाक्य का प्रत्येक पद स्वतन्त्र रूप से वाक्यत्व को प्राप्त कर लेगा। क्योंकि पूर्वान्तिर पदों के परस्पर अन्वित होने के कारण एक पद के श्रवण से ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध हो जायेगा। प्रभाचन्द्र के इस तर्क/विरोध में यदि अन्विताभिधानवाद की ओर से यह कहा जाये कि अविवक्षित (अवांछित) पदों के व्यवच्छेद (निषेध) के लिए अन्य पदों का उच्चारण व्यर्थ नहीं माना जा सकता है तो उनका प्रत्युत्तर यह होगा कि ऐसी स्थिति में अन्वित प्रथम पद के द्वारा जो प्रतिपत्ति (अर्थबोध) हो चुकी है, वाक्य के अन्य पदों के द्वारा मात्र उसकी पुनरुक्ति

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड ३/१०१ पृ० ४५९-४६४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होगी अतः पुनरुक्ति का दोष तो होगा ही। यद्यपि यहाँ अपने बचाव के लिए अन्विताभिधान-वादी यह कह सकते हैं कि प्रथम पद के द्वारा जिस वाक्यार्थ का प्रधान रूप से प्रतिपादन हुआ है अन्य पद उसके सहायक के रूप में गौण रूप से उसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। अतः यहाँ पुनरुक्ति का दोष नहीं होता है किन्तु जैनों को उनकी यह दलील मान्य नहीं है।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की यह मान्यता भी समुचित नहीं है कि पूर्व पदों के अभिधेय अर्थों से अन्तिम पद के उच्चारण से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सम्बन्ध में जैनतार्किक प्रभाचन्द्र का कहना है कि जब सभी पद परस्पर अन्वित है तो फिर यह मानने का क्या आधार है कि केवल अन्तिम पद के अन्वित अर्थ की प्रतिपत्ति से ही वाक्यार्थ का बोध होता है और अन्य पदों के अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है।

प्रभाकर अपने अन्विताभिधानवाद के पक्ष में यह तर्क दे सकते हैं कि उच्चार्यमान पद का अर्थ अभिधीयमानापद (जाना गया) से अन्वित न होकर गम्यमान अर्थात् पदान्तरों से गोचरीकृत पद से अन्वित होता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक पूर्व-पद पद अपने उत्तरपद से अन्वित होता है। अतः किसी एक पद से ही वाक्यार्थ का बोध होना सम्भव नहीं होगा। उनकी इस अवधारणा की समालोचना में जैनों का तर्क यह है कि प्रत्येक पूर्वपद का अर्थ केवल अपने उत्तरपद से अन्वित होता है ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि अन्वय/सम्वद्धता सापेक्ष होती है अतः उत्तरपद भी पूर्वपद से अन्वित होगा। अतः केवल अन्तिम पद से ही वाक्यार्थ का बोध इस अन्विताभिधानवाद सिद्धांत की दृष्टि से तो तर्क-संगत नहीं कहा जा सकता है।

इस सम्वन्ध में मीमांसक प्रभाकर ने कहा है कि पदों के दो कार्य होते हैं प्रथम—अपने अर्थ का कथन करना और दूसरा पदांतर के अर्थ में गमक व्यापार अर्थात् उनका स्मरण कराना। अतः अन्विताभिधानवाद मानने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए। किन्तु जैनों की दृष्टि में उनका यह मानना तर्क-संगत नहीं है, क्योंकि पद-व्यापार से अर्थ-वोध समान होने पर भी किसी को अभिधीयमान और किसी को गम्यमान मानना उचित नहीं है।

पुनः प्रभाचन्द्र का प्रश्न यह है कि बुद्धिमान व्यक्ति पद का प्रयोग पद के बोध के लिए करते हैं या वाक्यार्थ बोध के लिए। पद के अर्थ बोध के लिए तो कर नहीं सकते क्योंकि पद प्रवृत्ति का हेतु नहीं है। यदि दूसरा विकल्प कि पद का प्रयोग वाक्य के अर्थबोध के लिए करते हैं यदि यह माना जावे तो इससे अन्विताभिधानवाद की ही पुष्टि होगी। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य प्रभाचन्द्र कहते हैं कि 'वृक्ष' पद के प्रयोग से शाखा, पल्लव आदि से युक्त अर्थ का बोध होता है उस अर्थ बोध से 'तिष्ठति' (खड़ा है) इत्यादि पद वाच्य स्थान आदि विषय का सामर्थ्य से बोध होता है। स्थान आदि के अर्थबोध में 'वृक्ष' पद की साक्षात् प्रवृत्ति नहीं होने से उसे उस अर्थ-बोध का कारण नहीं माना जा सकता है। यदि यह माना जाए की वृक्षपद 'तिष्ठति' पद के अर्थ-बोध में परम्परा से अर्थात् परोक्षरूप से कारण होता है तो मानना इसलिए समुचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह भी मानना होगा कि हेतु वचन की साध्य की प्रतिपत्ति में प्रवृत्ति होती है और ऐसी स्थिति में अनुमान-ज्ञान भी शाब्दिक कहलायेगा जो कि तर्कसंगत नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुनः मीमांसक प्रभाकर यदि यह कहें कि हेतुवाचक शब्द से होने वाली हेतु की प्रतीति ही शब्द-ज्ञान है, शब्द से ज्ञात हेतु के द्वारा जो साध्य का ज्ञान होता है उसे शाब्दिक ज्ञान न मानकर अनुमान ही मानना होगा अन्यथा अतिप्रसंग दोष होगा तो जैन दार्शनिक प्रत्युत्तर में कहेंगे कि फिर वृक्ष शब्द से स्थानादि की प्रतीति में भी अतिप्रसंग दोष तो मानना होगा। क्योंकि जिस प्रकार हेतु शब्द का व्यापार अपने अर्थ (विषय) की प्रतीति कराने तक ही सीमित है उसी प्रकार वृक्ष शब्द को भी अपने अर्थ की प्रतीति तक ही सीमित मानना होगा।

दूसरी आपत्ति यह है कि विशेष्यपद विशेष्य को विशेषण-सामान्य से, या विशेष-विशिष्ट से या विशेषण-सामान्य और विशेष (उभय) से अन्वित कहता है। प्रथम विकल्प अर्थात् विशेष्य विशेषण सामान्य से अन्वित होता है यह मानने पर विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है—क्योंकि विशेष्य पद का सामान्य-विशेषण से अन्वित होने पर विशेष-वाक्यार्थ का बोध सम्भव नहीं होगा। दूसरा विकल्प मानने पर निश्चयात्मक-ज्ञान नहीं होगा—क्योंकि (मीमांसकों के अनुसार) शब्द से जिसका निर्देश किया गया है, ऐसे प्रतिनियत विशेषण से अपने उक्त विशेष्य में अन्वय करने में संशय उत्पन्न होगा क्योंकि विशेष्य में दूसरे अनेक विशेषण भी सम्भव हैं अतः अपने इस विशेष्य में अमुक विशेषण ही अन्वित है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकेगा। यदि पूर्वपक्ष अर्थात् मीमांसक प्रभाकर की ओर से यह कहा जाये कि वक्ता के अभिप्राय से प्रतिनियत विशेषण का उस विशेष्य में अन्वय हो जाता है तो यह कथन भी समीचीन नहीं है क्योंकि जिस पुरुष के प्रति शब्द का उच्चारण किया गया है उसे तो वक्ता का अभिप्राय ज्ञात नहीं होता है अतः विशेषण का निर्णय सम्भव नहीं होगा। यदि यह कहा जाये कि वक्ता को अपने अभिप्राय का बोध होता है अतः वह तो प्रतिनियत विशेषण का निश्चय कर ही लेगा। किन्तु ऐसा मानने पर रूप में कथन करना अनावश्यक होगा क्योंकि शब्द का कथन दूसरों का अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिए होता है स्वयं अपने लिए नहीं। तीसरा विकल्प अर्थात् विशेष्यपद विशेष्य को उभय से अन्वित कहता है, यह मानने पर उभयपक्ष के दोष आवेंगे अर्थात् न तो विशिष्ट वाक्यार्थ का बोध होगा और न निश्चयात्मक-ज्ञान होगा।

इसी प्रकार की आपत्तियाँ विशेष्य की क्रियापद और क्रिया-विशेषण से अन्वित मानने के सम्बन्ध में भी उपस्थित होगी। पुनः पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसक प्रभाकर यदि यह कहे कि पद से पद के अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है और फिर वह वाक्यार्थ का निश्चय करता है किन्तु ऐसा मानने पर तो रूपादि के ज्ञान से गंधादि का निश्चय भी मानना होगा, जो कि तर्कसंगत नहीं माना जा सकता है। अतः अन्वित अभिधानवाद अर्थात् पदों से पदान्तरों के अर्थों से अन्वित अर्थों का ही कथन होता है इसलिए पद के अर्थ की प्रतीति से वाक्य के अर्थ की प्रतीति होती है ऐसा प्रभाकर का मत श्रेयष्कर नहीं है।

वस्तुतः अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों की एकांगी है। जैन दार्शनिक अभिहितान्यवाद की इस अवधारणा से सहमत है कि पदों का शब्द के रूप में वाक्य से स्वतन्त्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ भी होता है किन्तु साथ ही वे अन्विताभिधानवाद से सहमत होकर यह भी मानते हैं कि वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद अपने अर्थबोध के लिए परस्पर सापेक्ष होता है अर्थात् वे परस्पर अन्वित (सम्वन्धित) होते हैं और सम्पूर्ण वाक्य के श्रवण के पश्चात् उससे हमें जो अर्थबोध होता है उसमें पद परस्पर अन्वित या सापेक्ष ही प्रतीत होते हैं, निरपेक्ष नहीं है—क्योंकि निरपेक्ष पदों से वाक्य की रचना ही नहीं होती है। जिस प्रकार शब्द के अर्थबोध के लिए वर्णों की सापेक्षता आवश्यक है, उसी प्रकार वाक्य के अर्थबोध के लिए पदों की सापेक्षता/सम्वन्धितता आवश्यक है। जैनाचार्यों के अनुसार परस्पर सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह वाक्य है। अतः वाक्यार्थ के बोध में पद सापेक्ष अर्थात् परस्परान्वित ही प्रतीत होते हैं।

यद्यपि इस समग्र विवाद के मूल में दो भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ कार्य कर रही हैं। अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य पद सापेक्ष है। वे वाक्य में पदों की सत्ता को महत्वपूर्ण मानते हैं। जवकि अन्विताभिधानवाद में पदों का अर्थ वाक्य सापेक्ष है वाक्य से स्वतन्त्र न तो पदों की कोई सत्ता ही है और न उनका कोई अर्थ ही है। वे पदों के अर्थ को वाक्य सापेक्ष मानते हैं। अभिहितान्वयवाद में पद, वाक्य की महत्वपूर्ण इकाई है जवकि अन्विताभिधानवाद में वाक्य ही महत्वपूर्ण एवं समग्र इकाई है, पद गौण है यही दोनों का मुख्य अन्तर है जबकि जैन दार्शनिक दोनों के ही परस्पर सापेक्ष और वाक्यार्थ के बोध में आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार वे इन दोनों मतों में समन्वय स्थापित करते हैं और कहते हैं कि वाक्यार्थ के बोध में पद और वाक्य दोनों की ही महत्वपूर्ण भूमिका है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कामन्दकीय नीतिशास्त्र में आर्थिक विचार

(अनुमानतः ४०० ई० सन् से ८०० ई० सन्)

नलिन विलोचन+

प्राचीन भारतीय नीति विषयक आचार्यों में कामन्दक का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। नीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण कामन्दक ने आर्थिक विचारों का भी यथावत् निरूपण किया है। वस्तुतः यह कहना असंगत न होगा कि उन्होंने आर्थिक विचारों को जन्म ही नहीं दिया, वरन् समाज में उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए अनुशासन भी दिया।

कामन्दक का कहना है कि किसी भी सत्ता को समुचित ढंग से चलाने के लिए राजा की महती आवश्यकता है। यदि राज्य के भार को वहन करने वाला राजा उपस्थित नहीं है, तो प्रजा की स्थिति अत्यधिक दयनीय हो जाती है। उसके अनुसार वार्ता अर्थात् अर्थशास्त्र पर आधारित सारी प्रजा योग्य राजा के न होने पर हतप्रभ हो जाती है और धीरे-धीरे राज्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है[१]। कामन्दक के विचारों से यह सत्य स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने आर्थिक तंत्र का आधार राजा और राज्य को ही माना है, यहाँ पर यह कहना असंगत न होगा कि आचार्य कामन्दक पूर्ण रूप से कौटिल्य से प्रभावित हैं। जिस तरह से कौटिल्य प्रजा के सम्पूर्ण आर्थिक क्रिया-कलापों पर राज्य का नियन्त्रण आवश्यक मानते हैं, उसी प्रकार कामन्दक ने भी राजा और राज्य को अर्थतन्त्र का आधार माना है। उसने राजा को धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की समृद्धि का अधिकारी और वाहक बतलाया है[२]। उनके अनुसार, जो राजा धर्म का पालन करता है, वह अधिक समय तक पृथ्वी का पालन कर सकता है। परन्तु जो राजा धर्म का पालन नहीं करता है और प्रजा को कष्ट देता है, उसका सम्पूर्ण अस्तित्व समाप्त हो जाता है, धर्म से ही राज्य की वृद्धि होती है और उससे राष्ट्र, दुर्ग, कोष एवं बल की प्राप्ति होती है[3]।

कामन्दक के अनुसार धर्म से अर्थ की प्राप्ति होती है और अर्थ से काम की[४]। अतः कामन्दक ने धर्म के पालन पर विशेष बल दिया, आचार्य कामन्दक के इस विचार से पता चलता

+ शोधछात्र, बिहार विश्वविद्यालय।

१. कामन्दकीय नीतिसार सर्ग– १, श्लोक नं० १४, सर्ग– ६, श्लोक नं० ३,

२. डॉ० रामनरेश त्रिपाठी, प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार, पृष्ठ—२३६,

३. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–१, श्लोक–१६-१७।

४. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–१, श्लोक–४१-४९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि उन्होंने धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों को प्रमुखता दी है। कामन्दक द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के लिए धर्म, अर्थ एवं काम का परिज्ञान आवश्यक माना गया है।

कामन्दक के विचारानुसार, अर्थशास्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिए प्राचीन विद्याओं की जानकारी प्राप्त करना अत्यधिक आवश्यक है, अतएव उन्होंने विद्या तथा उसके महत्व पर अत्यधिक बल दिया है। उन्होंने आन्विक्षिकी, त्रयी, वर्ता तथा दंडनीति को विद्या का विभिन्न प्रकार बतलाया है,[1] लेकिन उन्होंने इन सबों में दण्डनीति को अधिक महत्व प्रदान किया है। कामन्दक ने भी वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, जैसा कि अन्य पूर्ववर्ती विचारकों ने किया है और समस्त आर्थिक क्रियाओं का विभाजन वर्ण-व्यवस्था के आधार पर किया है। आचार्य कामन्दक ने ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य तथा शूद्र चारों के अलग-अलग कर्म बतलाये हैं[2]। वस्तुतः प्राचीन भारत में वर्ण-विभाजन का सिद्धान्त श्रम-विभाजन का ही प्रारम्भिक स्वरूप था और इससे समाज की अथिक अवस्था को सुदृढ़ बनाने में पर्याप्त सहायता मिलती थी। इस सन्दर्भ में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार करके अपने वर्ण की राजनीतिक एवं सामाजिक हितों की पूर्ति की कोशिश की। उन्होंने इसी कारण कठोर नियमों का उल्लेख भी किया है। कामन्दक ने राजा और ब्राह्मणों के आर्थिक हितों की पूर्ति हेतु रूढ़िवादी वर्ण-व्यवस्था के सिद्धन्तों की व्याख्या की अर्थोपार्जन की दृष्टि से ब्राह्मणों ने चार आश्रम की व्यवस्था की थी, उस पर कामन्दक ने भी अधिक बल दिया। वर्णों के अनुसार वर्णाश्रम धर्मों का विवेचन भी उन्होंने ही किया है[3]। डॉ० रामनरेश त्रिपाठी की यह धारणा है कि अर्थोपार्जन की दृष्टि से चार आश्रमों को जन्म देना अति आवश्यक था[4]। कामन्दक ने यह निर्देश दिया कि ब्रह्मचारी भिक्षावृत्ति से, गृहस्थ कृषि, अध्ययन, अध्यापन आदि क्रियाओं से अर्थोपार्जन करें। प्रत्येक के जीविकोपार्जन के नियम अलग-अलग बनाये गये थे। लेकिन इन सभी आश्रमों में कामन्दक ने गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ माना है।

यद्यपि कामन्दक ने दण्ड-नीति को सभी विद्याओं में प्रमुखता दी है, फिर भी उन्होंने वार्त्ता का महत्व पूर्ववर्ती विचारकों की तुलना में अधिक दिया है। "वार्त्ता" शब्द का मूल है वृत्ति अर्थात् जीविका। वार्त्ताशास्त्र के अन्तर्गत कामन्दक ने हिरण्य, वस्त्र, धान्य, वाहन आदि अनेक प्रकार की उत्पादक वस्तुएँ रखी हैं। वार्त्ता को संसार का मूल कहा गया है। यह राजाओं के लिए अवश्य पठनीय थी, ताकि उन्हें इसका व्यावहारिक ज्ञान रहे। समाज के कल्याण के लिए वार्त्ता का इतना महत्व था कि कामन्दक ने ऐसी सलाह दी है कि जो लोग वार्त्ता में कुशल हों, उन्हें किसी साधन का अभाव नहीं रहने दिया जाय। कौटिल्य और मनु वार्त्ता में कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को समाविष्ट करते हैं, किन्तु कामन्दक ने इन सबके

---

१. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–१, श्लोक२,३।
२. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–२, श्लोक–१९,२१।
३. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–२, श्लोक–३५।
४. डॉ० रामनरेश त्रिपाठी, प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार, पृष्ठ–२३७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अलावा महाजनी को भी इसमें समाविष्ट किया। कामन्दक द्वारा वार्त्ता को महत्व दिये जाने का कारण नितांत व्यवहारिक प्रतीत होता है, जिसका काम था—व्यापारियों, कृषिस्वामियों, पशुपालकों, शिल्पियों, उद्यमियों, राजपुरुषों और खेतिहरों को रास्ता दिखाना। इस अर्थ में वार्त्ता सर्वाङ्गपूर्ण अर्थशास्त्र थी और प्राचीन भारतीय विद्याओं में इसका महत्वपूर्ण स्थान था। जैसाकि कामन्दक द्वारा इस पर दिये गये जोर से प्रकट होता है।

कामन्दक ने अर्थ के संग्रह का नाम ही कोष बतलाया है, उनके अनुसार राज्य की सारी क्रियाएँ कोष अर्थात् अर्थ पर ही निर्भर करती हैं, धार्मिक कार्यों के लिए सेवकों, श्रमिकों, कर्मचारियों आदि के पालन-पोषण के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है।[1] आपत्ति-काल में भी राष्ट्र का वही रूप में सुरक्षित रहता है। कामन्दक के अनुसार धन की आवश्यकता सैन्य-संचालन में भी होती है। क्योंकि आंतरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की सुरक्षा के लिए सेना की आवश्यकता पड़ती है। कामन्दक के इन विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कोष (आय) की वृद्धि पर अत्यधिक बल दिया है। दूसरे अर्थों में हम कह सकते हैं कि आचार्य कामन्दक ने इस संदर्भ में कौटिल्य का ही अनुसरण किया है।

कामन्दक ने धन की महत्ता पर विशेष प्रकाश डाला है। उनके अनुसार धन का ही समाज में सम्मान किया जाता है। इसके अभाव में विद्वान् से विद्वान् व्यक्ति का भी तिरस्कार कर दिया जाता है। उनका कहना है कि जो व्यक्ति धन का इच्छुक है और उसके प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है, उसी का जन्म लेना सार्थक है। यद्यपि कामन्दक ने धनी व्यक्ति को समाज में विशिष्ट स्थान प्रदान किया है, फिर भी उन्होंने गरीबों को हेय दृष्टि से नहीं देखा है। उन्होंने राजा को यह निर्देश दिया है कि जो जीविका का साधन खोजमे तथा किसी कार्य को सम्पन्न करने में असमर्थ है, उसका पालन-पोषण राजा को करना चाहिए। राजा के कर्त्तव्य को निर्धारित करते हुए कामन्दक ने यह सुझाया है कि राजा को चाहिए कि प्रत्येक वर्ग तथा उसकी वृत्ति के अनुसार कार्य का बँटवारा करें। काल, स्थान, पात्र आदि का सम्यक् विचार कर यह समाज के हर व्यक्ति के लिए अर्थोपार्जन की व्यवस्था करें[2]।

आचार्य कामन्दक ने अपने आर्थिक विचारों में भूमि को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है, उनका कहना है कि यदि भूमि अच्छी है, तो राष्ट्र भी अच्छा होगा, क्योंकि भूमि के विकास पर ही राष्ट्र का विकास निर्भर करता है, भूमि के द्वारा ही फसलें, खानें, रत्नादि धातुओं की प्राप्ति होती है। इसी से वनों में विभिन्न प्रकार की औषधियाँ तथा वृक्षों से प्राप्त आय राष्ट्र की सम्पन्नता और समृद्धि की ओर बढ़ाती है[3]। कामन्दक के इन विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि वे भूमि को अधिकाधिक उर्वरा बनाने के पक्षधर थे, साथ-साथ उन्होंने धातु निष्कर्षण तथा भूमि के गर्भ में छुपे हुए अन्य वस्तुओं को खुदाइयों द्वारा प्राप्त करने पर बल दिया है। इस प्रकार कामन्दक ने राष्ट्रीय आय का महत्वपूर्ण साधन भूमि को माना है।

---

१. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–१, श्लोक—६१–६२।
२. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–५, श्लोक–६२–६४।
३ कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–४, श्लोक–४८–५०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति कामन्दक ने भी राष्ट्रीय सम्बर्द्धन हेतु आय के अनेक साधन बतलाये हैं। उनका कहना है कि शुद्ध शिल्पकार, वैश्य, धार्मिक, धनी आदि भी वर्णों के लोगों को राष्ट्र के लिए अपने उत्पादन का कुछ भाग देना चाहिए[1]। वस्तुतः कामन्दक द्वारा अपने उत्पादन का कुछ भाग राज्य को देने का तात्पर्य यह है कि सभी वर्ग के लोग राज्य को कर दें। यद्यपि कामन्दक ने कौटिल्य की तरह विभिन्न प्रकार के करारोपण की चर्चा की है, फिर भी उन्होंने किसानों, व्यापारियों एवं शिल्पियों की सम्पन्नता को शासन का आवश्यक कार्य-क्षेत्र माना है। कामन्दक ने करारोपण के बारे में बताया है कि प्रजा से उचित काल तथा उचित ढंग से ही राजा को कर लेना चाहिए। जिस प्रकार से गाय का पालन किया जाता है और समय आने पर ही उसका दूध दूहा जाता है, उसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा के साथ व्यवहार करना चाहिए। जिस प्रकार पौधों को सींच-सींचकर बड़ा किया जाता है किन्तु उनसे फल प्राप्ति की कामना समय-समय पर ही की जाता है, उसी प्रकार उन्होंने राजा से भी अपेक्षा की है[2]।

कामन्दक ने व्यक्तिगत एवं समष्टिगत दोनों प्रकार से आर्थिक विचारों का निरूपण किया है। व्यक्तिगत आय का किस प्रकार एकत्रित करना चाहिए और किन-किन मध्यों में उनका उपयोग करना चाहिए, इसका विस्तृत विवरण आचार्य कामन्दक ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने दैनिक उपयोग में आने वाली वस्तुओं के लिए कोष्ठोगार के निर्माण पर भी जोर दिया है। उनका तो यहाँ तक मत है कि कोष्ठोगार के बिना व्यक्ति एक क्षण भी जिंदा नहीं रह सकता[3]। उनके मतानुसार धन-संग्रह किस प्रकार किया जाय और किस प्रकार इसका व्यय किया जाय, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

कामन्दकीय नीतिसार में अपनी जीविका चलाने वाले श्रमजीवि अर्थात् श्रमिकों के धनोपार्जन सम्बन्धी नियम भी आचार्य कामन्दक ने बतलाया है। उनका कहना है कि जो कर्मशीलता को प्रधान मानकर जीविकोपार्जन करते हैं, उनकी वृत्ति ही श्रेष्ठ कही जा सकती है। कामन्दक ने भी कुशल एवं अकुशल दो प्रकार के श्रमिकों का उल्लेख किया है। वस्तुतः श्रमजीवि सम्बन्धित कामन्दक के विचारों से यह प्रकट होता है कि पूर्व मध्यकाल में श्रमजीवि वर्ग नाना प्रकार के उद्योग में लगा रहता था। श्रमजीवियों के परीश्रम से उत्पादित वस्तुएँ राष्ट्रीय आय का एक प्रमुख साधन थी। कामन्दकीय नीतिसार में भिन्न-भिन्न स्थानों में इसके संकेत से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। पूर्व मध्यकाल में कुशल श्रमिकों की अत्यधिक माँग थी और वे विभिन्न प्रकार के कार्यों में लगे रहते थे। वे पृथक-पृथक ढंग से अनेक व्यवसायों से अपनी जीविका चलाते थे। किरात, भिक्षु, दास, पाकहार आदि अनेक कुशल श्रमिक कार्य के बदले में प्राप्त मजदूरी से ही अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। कामन्दक ने अनेक प्रकार के कुशल श्रमिकों का उल्लेख करते हुए तत्सम्बन्धी नियमों का प्रतिपालन किया है। उन्होंने

---

१. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–४, श्लोक–५२–५४।

२. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–५, श्लोक ८३–८४।

३, कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–८, श्लोक–७६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राज्य सेवा के योग्य व्यक्तियों का विवरण देते हुए, उसके विशिष्ट गुणों का भी संकेत दिया है[१]। कामन्दक ने सेवकों के प्रति राजा के कर्त्तव्यों का विवरण भी दिया है[२]। कामन्दक के अनुसार राजा की यह जिम्मेदारी है कि वह कोष में इतना धन रखे जिससे कि श्रमिकों को उचित वेतन दिया जा सके[3]।

कौटिल्य ने उत्पादन के साधनों में साहस को भी एक साधन माना है, लेकिन कामन्दक ने अपनी नीतिसार में इस साहस को उत्साह के रूप में वर्णित किया है। कामन्दक के अनुसार किसी भी वस्तु के उत्पादन में उत्साह की आवश्यकता होती है, उनका मत है कि उत्साह से वृद्धि उत्पन्न होती है और बुद्धिपूर्वक किये गये उद्योग में निश्चय ही फल की प्राप्ति होती है[४]। इस प्रकार कामन्दक ने धन की प्राप्ति के लिए उत्साह को आवश्यक माना है।

कामन्दक के उपरोक्त आर्थिक विचारों में पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों से विशेष नवीनता नहीं देखने को मिलती है, इन्होंने भी अन्य पूर्ववर्ती विचारकों की भाँति वार्ता को प्रमुख ध्यान दिया है और इनका अभिमत रहा है कि वार्ता के बिना राज्य का संचालन कदापि सम्भव नहीं है। वस्तुतः आचार्य कामन्दक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, विशेषकर वृहस्पति और कौटिल्य के आर्थिक विचारों को ही अधिक विकसित किया तथा उन्हें व्यवहारिक बनाने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में प्रो० रामशरण शर्मा ने ठीक ही कहा है कि कामन्दक कौटिल्य का ऋण स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है[५]। उसने उसकी सामग्री को इतनी अच्छी तरह से आत्मसात् किया है कि उधार ली गई सामग्री मूल रूप से अधिक सुव्यवस्थित रूप से सामने आयी है[६]।

लेकिन यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र में जिस प्रकार के आर्थिक विचारों का निरूपण किया है वे समाज के तथाकथित उच्च और सम्पन्न वर्गों के हितों के अनुरूप ही थे। वस्तुतः उसने ब्राह्मणों द्वारा स्थापित सामाजिक व्यवस्था को अपने आर्थिक विचारों द्वारा और पुष्ट करने का प्रयत्न किया। आचार्य कामन्दक द्वारा अर्थशास्त्र का आधार धर्मशास्त्र को मानना ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थिति को बनाये रखने का प्रयत्न ही प्रतीत होता हैं, दूसरी तरफ अर्थतन्त्र का आधार राजा और राज्य को मानना क्षत्रियों को सर्वोच्च स्थिति को बनाये रखने का द्योतक है। यद्यपि कामन्दक ने शिल्पकारों या राजकीय सेवकों या अन्य प्रकार के कर्मचारियों को राजा द्वारा उचित वेतन दिये जाने पर बल दिया है, फिर भी उनका यह विचार कि सभी वर्गों के लोगों को अपनी आय का कुछ भाग राजा को देना चाहिये, (चाहे उसकी आमदनी कितनी भी कम क्यों न हो और उनका भरण-पोषण मुश्किल से हो क्यों न होता हो) इसी तथ्य को दर्शाता है कि उन्होंने सम्पन्न व्यक्तियों के हितों को ही प्रमुखता दी।

———

१. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–५, श्लोक–१२-१३।
२. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–१३, श्लोक–४८।
३. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–१३, श्लोक–३१-३२।
४. कामन्दकीय नीतिसार, सर्ग–१३, श्लोक–३-४।
५. प्रो० रामशरण शर्मा, पूर्व मध्यकालीन समाज और अर्थव्यवस्था पर प्रकाश। ६. वही०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारनाथ की जैन प्रतिमाएँ

ओम प्रकाश पाण्डेय

सारनाथ का प्राचीन इतिहास बुद्ध के आगमन से ही विशेष महत्व का माना जाता है तथा काशी का अंग भी है। यह नगर धार्मिक सांस्कृतिक होने की वजह से सभी सम्प्रदाय का विवरण मिलता है। सारनाथ के पास सिंहपुर नामक ग्राम से जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिससे इस धर्म के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। काशी जो सनातन धर्म की नगरी है, जहाँ पर ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के साथ ही साथ अन्य देवी-देवताओं की परम्परा विद्यमान रही। सारनाथ की पुरातात्विक साक्ष्यों से यहाँ की जैन कला का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

सारनाथ की जैन कला जो मध्य-काल की है। इस कला का प्रारम्भिक विकास प्राचीन है। इन तीर्थस्थलों में सर्वप्राचीन प्रतिमा बिहार के लोहानीपुर से एक मस्तकहीन जिन प्रतिमा प्राप्त हुई जो मौर्यकाल की मानी जाती है। जिसे काशीप्रसाद जायसवाल[1] द्वारा प्रकाशित की गई थी। इस प्रतिमा का हाथ और सिर खण्डित है। प्रतिमा के वक्षस्थल जैन तीर्थंकरों की भाँति है तथा इस पर पालिश (ओप) भो विद्यमान है। शुंगकाल की कलात्मक कीर्ति अभी तक अप्राप्य है। प्रारम्भिक कुषाणकाल के मथुरा से मिले आयाग[2] पट्टों पर क्वचित् तीर्थंकर प्रतिमा के दर्शन होने लगते हैं, लेकिन इसी युग के मध्य में तीर्थंकर प्रतिमाओं की संख्या और प्रकारों में प्रर्याप्त अन्तर होने लगता है।

गुप्तकाल सभी धार्मिक सहिष्णुता का युग था, इस युग में सभी वर्ग की मूर्तियों का निर्माण हुआ जो शिल्प-कला की दृष्टि से उत्तम है। इस काल की निर्मित प्रतिमाएँ जो नग्न मुद्रा, आजानबाहु, ध्यान मुद्रा में स्थित होना, हथेली एवं तलवों पर लांछन चक्र रहना, भौंहों के मध्य उर्णा आदि जैन मूर्तियों की विशेषताएँ हैं। इस काल की मूर्तियाँ जो भारतीय कला के इतिहास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। धर्म के नियम, ज्ञान प्राप्त करके उसे व्यवहार में लाने को ही सम्यक् ज्ञान कहते हैं, जिसका प्रारूप चौबीस तीर्थंकरों के मूर्तियों में प्राप्त होता है[3]। मथुरा कला इस धर्म का बड़ा केन्द्र था जहाँ से इस काल के अनेक आयाग

---

१. जायसवाल, काशी, जैन इमेजेज ऑफ मौर्या पिरिएड, जे० वी० ओ० आर० एस०, १९३७, पृ० १३०–३२; बनर्जी, ए० पी० मौर्यान् स्कल्पचर फ्राम लोहानीपुर, जे० वी० ओ० आर० एस०, १९४०, पृ० १२०।

२. अग्रवाल, वा० श०; मथुरा आयाग पट्ट, ज० उ० प्र० हि० तो०, भाग १४, पृष्ठ ५८।

३. शाह, यू० पी०, जैन कांट्रिब्यूशन टू इण्डियन आर्ट, राजबली पाण्डेय स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ २९७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पट्ट प्राप्त हुए हैं, जिस पर तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ या अन्य कोई पूज्य आकृति जो इस धर्म से सम्बन्धित है, इन आयागपट्टों[1] को मन्दिरों में रखा जाने लगा। इस तरह से कुषाणकाल में ही इस परम्परा का विशेष रूप से विकास हुआ, जिसका विवरण साहित्य[2] में मिलता है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण[3] में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में जैन तीर्थंकरों में नग्नाचार्य रहा करते थे। इसी काल की कलात्मक विकास की रूपरेखा को गुप्त-काल में और चमत्कार बनाया गया, किन्तु सारनाथ से आयागपट्ट प्राप्त हैं ऐसा प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हो पाया है।

सारनाथ के पास सिंहपुर (सिंहपुरी) जो उत्तर-पश्चिम में स्थित हैं, जहाँ से ११ वें जैन तीर्थंकर श्रेयांश नाथ का जन्मस्थान माना जाता है, इनके पिता इक्ष्वाकुवंश के राजकुमार विष्णु और माता विष्णुदेवी (वेणुदेवी) सिंहपुर[4] के निवासी थे। जैन परम्परा के अनुसार बालक के जन्म से सम्पूर्ण राष्ट्र श्रेयकर हुआ इसलिए इस बालक का नाम श्रेयांश पड़ा। इस स्थान से और भी जैन तीर्थंकरों की खण्डित प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जो अस्पष्ट हैं। सारनाथ में ही सिंहतुर का जैन मन्दिर स्थापित है जहाँ पर श्रेयांग को अभी भी पूजा की जाती है। इस प्रतिमा का वर्ण सुनहरा गेंडा एवं गरुड लांछन है, और भी जैन प्रतिमाएँ जो वाराणसी से मिली हैं इस शैली से मेल खाती हैं, इन प्रतिमाओं में पार्श्वनाथ एवं सुपार्श्वनाथ जो तेइसवें तीर्थंकर थे, इनकी प्रतिमाएँ वाराणसी से प्राप्त हुई, इनमें सुपार्श्वनाथ का सुनहरा वर्ण एवं स्वस्तिक लांछन चिह्न है, पार्श्वनाथ का नीला वर्ण एवं सर्प फण लांछन है। पार्श्वनाथ की शासनदेवी शक्ति पद्मावती है जो मन्दिर में स्थापित है। इसका विशेष परिचय हस्तिमल[5] द्वारा दिया गया हैं। पार्श्व आसनस्थ कायोत्सर्ग मुद्रा में ज्ञान और शतवर्ष की अवस्था निर्वाण पद प्राप्त होने का संकेत देते हैं। सारनाथ कला की एक महावीर की प्रतिमा जो छठीं शती ई० की भारत कला भवन[6] में सुरक्षित है, प्रतिमा विश्वपद्म अलंकरण से युक्त

---

१. चन्दा आ० पी०, आ० रि०, १९२५–२६, पृष्ठ १८०; कुमारस्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृष्ठ ३०, चि० २१।

२. वृहत्संहिता, ५७, ४५।

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्य्योर्हतां देवः॥

३. उक्तिव्यक्तिप्रकरण, ४०, १०।

४. उत्तराध्ययनसूत्र, पृष्ठ १०३।

द्वीपेऽस्मिन् भारते सिंहापुराधीशोनरेश्वरः।
इक्ष्वाकुवंशविख्यातो विष्णुनामाऽस्य वल्लभा॥

५. हस्तिमल, जैन धर्म का मौलिक सिद्धान्त, पृष्ठ २८१–८२, घोष ए० (सं०); जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर भा० १, पृष्ठ १८४।

६. भारत कला भवन (वाराणसी), क्रमांक सं० १६१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक ऊँची पीठिका पर दोनों पैर एक पर एक रखे ध्यानमुद्रा में बैठे हैं, पीठिका के मध्य में धर्मचक्र[1] और उसके दोनों तरफ छोटी सिंह की आकृति बनी है, ये महावीर की लांछन चिह्न का द्योतक है। महावीर के प्रतिमा के सिंह आकृति के निकट ध्यान मुद्रा में तीर्थंकरों की दो छोटी मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं, तीर्थंकर मूर्ति में सिंहासन के सूचक सिंह का अंकन सदैव मूर्ति छोरों पर किया गया है। अतः इस चक्र के दोनों तरफ सिंह आकृतियाँ यहाँ सिंहासन के स्थान पर महावीर के लांछन का सूचक है। प्रतिमा में महावीर के साथ प्रभामण्डल पार्श्ववर्ती चामर-धर सेवकों एवं उड्डीयमान मालाधारों का अंकन स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। महावीर तीर्थंकर का केश गुच्छक के रूप में मुख-मुद्रा पर योगी ओजस्विता मन्दस्मित और शान्ति का भाव व्यक्त है। वाराणसी के राजघाट से ७ वीं शती ई० की नेमिनाथ की भी प्रतिमा प्राप्त हुई थी, जो कला-भवन[2] संग्रहालय में सुरक्षित है। मूर्ति ध्यान मुद्रा में सिंहासन पर आसीन लांछन शंख जो स्पष्ट नहीं है किन्तु मूर्ति के नीचे भाग में यक्षी अम्बिका का अंकन के पहचान का आधार नेमिनाथ सम्भव हैं। इनके साथ धर्मचक्र सिंहासन चामरधारी पद्मालंकृत प्रभामण्डल मालाधर का अंकन स्पष्ट होता है। इस तरह से इस काल में जैन कला का विकास हुआ होगा।

गुप्तकाल की भाँति मध्यकाल में भी जैन कला का पूर्णतः विकास माना जाता है। सारनाथ से इस काल की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिसमें अधिकांश खण्डित हैं फिर भी इनके शारीरिक बनावट के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। सारनाथ से ८ वीं से १२ वीं शताब्दी ई० में इस धर्म की मूर्तियों का उल्लेख है तथा प्राप्त भी हुई है, इनके खण्डित होने का कारण कोई आकस्मिक घटना घटित होने का अनुमान लगता है।। ओर्टले[3] महाशय को सभी उत्खनन से प्राप्त हुई थी, मूर्तियों में कुछ के खण्डित छत्र भी मिले हैं। गाहडवाल युग में श्वेताम्बर और दिगम्बर तीर्थंकरों का प्रभाव मूर्तियों के प्रकाश में आने से होता है। वाराणसी के भेलूपुर क्षेत्र में कुछ तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं जो मन्दिरों में स्थापित हैं। लखनऊ संग्रहालय[4] में एक जैन प्रतिमा है जो काशी के राजघाट से प्राप्त हुई थी यह लगभग ७ वीं शताब्दी ई० की है जो अजितनाथ की मूर्ति निर्वस्त्र और कायोत्सर्ग मुद्रा में हाथ को लटकाए खड़े हैं, तीर्थंकर महावीर की भाँति इनका भी लांछन गज है। प्रभामण्डल पर प्रतिहार्य का अभाव है। सारनाथ से ९ वीं-१० शती ई० की जैन तीर्थंकर विमलनाथ की प्रतिमा जो स्थानीय संग्रहालय[5] में सुरक्षित है, इसमें विमलनाथ का सिर खण्डित है, ये जैन धर्म के तेरहवें तीर्थंकर माने गये हैं इनका लांछन चिह्न वाराह बना है। विमलनाथ का वर्ण सुनहरा

---

१. शर्मा, बी० एन०, जैन प्रतिमाएँ, पृष्ठ ९३।
२. भारत कला भवन, संख्या २१२।
३. आ० स० रि०, १९०४–३, पृष्ठ १००।
४. लखनउ राज्य संग्रहालय, सं० ४९–१९९।
५. सारनाथ संग्रहालय सं ३२६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है । इनका जन्मस्थान काम्पिल्यपुर[1] तथा निर्वाण स्थान सम्मेद शिखर है। मूर्ति पद्म पर कायोत्सर्ग मुद्रा में पीठिका पर निर्वस्त्र खड़े हैं एवं पीठिका पर लांछन उत्कीर्ण है । पार्श्ववर्ती चामरधरों के अतिरिक्त अन्य कोई सहायक[2] आकृति नहीं है । इस मूर्ति का प्रतिमा शास्त्रीय उल्लेख त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित[3] मे मिलता है । इस काल की कुछ अन्य प्रतिमाओं में शान्तिनाथ एवं अजितनाथ की भी खण्डित प्रतिमाएँ प्राप्त हैं, किन्तु मूर्तियाँ इतनी खण्डित हो चुकी हैं कि उनके सम्बन्ध में प्रकाश डालना असम्भव है. वैसे शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर हैं, जिनका लांछन मृग है. अजितनाथ द्वितीय तीर्थंकर माने गये हैं, जिनका लांछन हाथी[4] है । इन प्रतिमाओं को दयाराम साहनी[5] मात्र नाम से ही सम्बोधित किए हैं ।

इस तरह से सारनाथ एवं उसके आस-पास की बिखरी हुई जैन मूर्तियों का भी उल्लेख किया गया है । सारनाथ के सिंहपुर के श्रेयांशनाथ की प्रतिमाओं का विधिवत् विवरण दिया गया है । इस मूर्ति के सम्बन्ध में विद्वानों ने भी अपनी सहमति दी है, जैन कला में इसका बहुत महत्व रखा गया है । विमलनाथ एवं उनके साथ और खण्डित जैन प्रतिमाओं के प्राप्त होने से ९ वीं–१० वीं शती ई० के धार्मिक प्रभाव स्पष्ट होता है कि मध्यकाल में भी इस धर्म की विशेष महत्ता रही होगी ।

———

१. घोष, भाग १, वही, पृष्ठ ६६; जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृष्ठ २१६–१७ ।

२. तिवारी मारुतिनन्द प्रसाद, जैन प्रतिमा विज्ञान, पृष्ठ १०६, चि० १८ ।

३. त्रि० श० पु० च०, ४।३।४८ ।

४. जोशी, नी० पु०, वही, पृष्ठ २१६–१७ ।

५. साहनी, सारनाथ म्यूजियम केटलाग, पृष्ठ २३७ नं० जी०, ६१–६२ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन सरस्वती की एक अनुपम प्रतिमा का कलात्मक सौन्दर्य

डा० फूलचन्द जैन प्रेमी*

लाडनूं नगर (जिला–नागौर, राजस्थान) का दिगम्बर जैन बड़ा मंदिर मूर्तिकला की दृष्टि से काफी समृद्ध एवं प्राचीन मन्दिर है। इसमें अनेक तीर्थंकर प्रतिमायें, देवी प्रतिमायें तथा तोरणद्वार आदि ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जिन्हें कला जगत् में जितनी प्रसिद्धि मिलनी चाहिये थी, नहीं मिल सकी। इस मंदिर की जैन सरस्वतीमूर्ति को ही लें, जो कलात्मकता, भव्यता एवं सौम्यता आदि गुणों में अद्वितीय मूर्ति कही जा सकती है, किन्तु इसके विषय में लोगों को बहुत ही कम जनकारी है। मूर्तिकला के क्षेत्र में जैन सरस्वती की विभिन्न लक्षणों एवं मुद्राओं में प्राचीन से प्राचीन और अर्वाचीन से अर्वाचीन मूर्तियों के उदाहरण हैं। किन्तु अभी तक पल्लु (बीकानेर) से प्राप्त सरस्वती को दोनों प्रतिमायें ही प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक बीकानेर के संग्रहालय में तथा दूसरी राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में संग्रहीत है। किन्तु लाडनूं के इस मंदिर में प्रतिष्ठित जैनसरस्वती मूर्ति की भावपूर्ण मोहक मुखमुद्रा एवं कलाकार की अद्भुत कला का संयोजन देखकर दर्शक अपने आपको धन्य मान लेता है। दर्शक के मुख से यही वाक्य निकलता है कि यदि इस मूर्ति को प्रचारित किया जाता तो इसकी गणना उत्कृष्ट कला के अन्यतम उदाहरणों के रूप में होती।

भारतीय कला धार्मिकता से ओतप्रोत है। उसमें आध्यात्मिकता को गहरी छाप है। श्रेष्ठ मूर्तियों के जितने उदाहरण देखते हैं, सभी में एक पवित्र लावण्य और निर्मल धारा प्रवाहित होती दिखाई देती है। यही कारण है कि जब कभी भारतीय शिल्पकारों ने नारी को अपने शिल्प का विषय बनाया, तब अधिकतर उसे माँ के रूप में प्रदर्शित किया।

वस्तुतः भारतीय देवियों में सरस्वती को सदा माता का सच्चा स्वरूप प्रदान किया जाता है। जैनधर्म में जिनवाणी, वाग्देवी तथा श्रुतदेवता के रूप में सरस्वती की मान्यता प्राचीनकाल से ही प्रचलित है। आगमिक ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी के रूप में सरस्वती को उसका प्रतीक बनाया गया और उसकी उपासना प्रारम्भ हुई तथा पवित्र आगमिक ज्ञान को प्रतीकात्मक रूप देने के लिए ज्ञान (श्रुत) की देवी सरस्वती की प्रतिमा बनाई गई। ज्ञान की ज्योति सब ओर प्रकाश देती है अतः सरस्वती भी ज्ञान रूपी प्रकाश की देवी है। सरस्वती का श्वेत रूप जीवन की पवित्रता का द्योतक है।

आचार्य हेमचन्द्र ने सरस्वती के वाक्, ब्राह्मी, भारती, गौ, गी, वाणी, भाषा और श्रुतदेवी—ये नाम बताये हैं। इन नामों के अनुरूप गुणों का संयोजन करके मूर्तिकारों ने सर-

---

* अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वती की विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियाँ बनाई। जैन कला में सोलह विद्या देवियों के अंकन की भी परम्परा है। पर श्रुतदेवी के रूप में अलग से सरस्वती की मूर्ति बनाने की परम्परा काफी प्राचीन प्रतीत होती है। चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की यक्षी सिद्धायिका के निरूपण में भी पुस्तक और वीणा के अंकन में सरस्वती का प्रभाव देखा जा सकता है। जैन परम्परा की सरस्वती की मूर्तियों के अवतक ज्ञात सबसे प्राचीन उदाहरणों में मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त लेखयुक्त मूर्ति है जो कुषाणकालीन मानी जाती है।

लाडनूं के इस मन्दिर में प्रतिष्ठित सरस्वती की मूर्ति चूंकि बारहवीं शती के मध्यकाल की है किन्तु ज्ञान और शिल्प को प्रभावी सौंदर्य की एक गहरी संवेदना के साथ मिश्रित करके इस मूर्ति का अंकन किया गया लगता है। श्वेत संगमरमर के एक बड़े पाषाणफलक पर उत्कीर्ण साढ़े तीन फुट ऊँची यह खड्गासन मूर्ति दर्शकों के मन को आकर्षित करती है। सरस्वती का यह श्वेत रूप जीवन की पवित्रता का द्योतक है। भगवती सरस्वती पद्मपीठ पर त्रिभंग मुद्रा में खड़ी हैं। इस मुद्रा में तनिक भंगिमा के साथ अंगयष्टि अनुपम सौन्दर्य की प्रतीक है। अत्यधिक प्रशान्त मुख तथा पीछे अनेक किरणों से युक्त अलङ्कारिक प्रभामण्डल सम्पूर्ण आकृति में ऐक्य, निर्मलता और ओज है। शिर के ऊपर का अलङ्कार खचित चौकोर एवं ऊँचा करण्डमुकुट (शिरोभूषण) धारण किये हैं जो कि नुकीला एवं शिखरयुक्त है। जिसमें जगह-जगह मोती आदि जड़े हुए प्रदर्शित हैं। प्रभामण्डल के ऊपर क्रमशः दो अलंकृत अर्द्धवृत्ताकार घेरा है। पाषाणफलक के अग्रभाग में बीचोंबीच पद्मासन एवं ध्यानस्थ मुखमुद्रा में एक लघु जिन प्रतिमा है। देवी के ऊपरी दोनों हाथों के पास दोनों कनों पर उड़ते हुये दो मालाधर उत्कीर्ण हैं जो अपने हाथों में माला सम्हाले हुये हैं। इनकी भक्तिभावपूर्ण मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता है मानो देवी के पूजार्थ आकाश से अभी-अभी अवतरित हुए हों।

देवी के दोनों कानों के ऊपरी भाग में तीन लड़ियों वाले झुमके तथा नीचे के भाग में गुंथे हुए बड़े-बड़े कुण्डल हैं। चूंकि करण्डमुकुट से शिर ढंका हुआ है फिर भी कानों के आस-पास की केशसज्जा बड़ी ही सुन्दर है। सिर के पीछे बायीं ओर केशराशि बड़े से जूड़े के रूप में व्यवस्थित है। गले में अतिसेर युक्त ग्रैवेयक एवं प्रलम्बहार आदि विविध हार, माला आदि कण्ठाभरण धारण किये हैं। वक्ष पर पाँच लड़ियों वाला मुक्ताहार दोनों पुष्ट स्तनों के ऊपर से गहरी नाभि के पास तक लटक रहा है, जिसकी बगली फुन्दे दायीं ओर से पीछे की तरफ झूलते हुए दर्शाये गये हैं। कटिभाग में अलंकृत चौड़ा कटिबन्द तथा मोतियों की जालयुक्त मेखला (करधनी) धारण किये हुए हैं, जिससे बिना तहों वाला अधोवस्त्र (धोती) आबद्ध है। सामने कमर में जहाँ अधोवस्त्र कसा हुआ है उसके घुमावदार दो फुंदने दोनों ओर बड़ी बारीकी से दिखाये गये हैं। अधोवस्त्र कमर से वनमाला के पास तक अलग-अलग दोनों पैरों पर कई लहरियों के रूप में उत्कीर्ण किया गया है। दोनों जंघाओं पर मोतियों की लड़ियों, झालरों एवं सुनियोजित अलंकृत लटकनों को देखने से उस समय में प्रचलित नारी के विविध आभूषणों की समृद्ध परम्परा का ज्ञान होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवी की चार भुजायें हैं, जिनमें मंगलसूचक उपकरण हैं। सरस्वती के चार हाथों की कल्पना भी जैन आगमों के प्रथमानुयोग, द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग और करणानुयोग रूप चार अनुयोगों के आधार पर की गई है। बायीं ओर के ऊपरी हाथ में रेशमी डोर से कलात्मक ढंग से बँधे हुये ताड़पत्रीय शास्त्र की लम्बी पाण्डुलिपि है जो इस बात का प्रतीक है कि वस्तुतः शास्त्रों के स्वाध्याय से ही ज्ञान की उपासना होती है। दूसरे हाथ में कमण्डलु की तरह कलश, जलकुम्भ या कुण्डिका है। कुम्भ ज्ञान के कोष का प्रतीक है। सरस्वती विद्या की देवी होने के कारण कुम्भ को देवी का प्रतीक माना गया। दाहिनी ओर के ऊपरी हाथ में अच्छी तरह गुंथा हुआ टहनीयुक्त एक बड़ा सा पद्मगुच्छक है। खिले हुए श्वेतकमल का यह पद्मगुच्छक विद्या की पवित्रता, सौरभता, सार्वभौमिकता तथा प्रसन्नता का प्रतीक है। सरस्वती का जहाँ कहीं भी निवास होता है, वहाँ पर ये गुण स्वयमेव वर्तमान रहते हैं। इसी पद्मगुच्छक (हंसयुक्त मृणाल-दण्ड) के मध्य में सामने परस्पर एक दूसरे को देखते हुए हंसयुगल उत्कीर्ण हैं। जप-ध्यान के प्रसाद से ही ज्ञान की साधना होती है अतः उसके प्रतीक के रूप में दायीं ओर के नीचे वाले हाथ में अक्षमाला उत्कीर्ण है। काल के प्रभाव से इस माला के कुछ मनके (दानें) टूट चुके हैं।

चारों भुजायें विविध आभूषणों से अलंकृत हैं इनमें चौड़े एवं तिकोने कलात्मक भुज-बन्ध (बाजूबन्द) तथा कलाई में मोती जटित चूड़ियाँ, कंगन एवं कलाईबन्द आदि आभूषण यथेष्ट मात्रा में हैं। हाथों की लम्बी-लम्बी पतली अंगुलियों में अंगूठियाँ प्रदर्शित हैं। पैरों में दो लड़ियों वाली पायलें तथा पैरों के अंगूठों एवं अंगुलियों में बिछुड़ी बखूबी से अंकित की गई हैं। कुशल मूर्तिकार ने कौशल्यपूर्वक अच्छे से अच्छे छोटे-बड़े सभी प्रकार के आभूषणों के अंकन की ओर ध्यान देकर कला को अमरता प्रदान की है। ओष्ठ, वक्षस्थल, कटि-प्रदेश आदि के अंकन में कलाकार ने बड़ी ही सूक्ष्मदृष्टि का परिचय दिया है।

देवी की गरिमामय हावभाव, कमनीय चेहरा तथा सुशिल्पित शरीर तत्कालीन स्त्री-सौन्दर्य को हमारी आँखों के सामने पूरी तरह प्रदर्शित करते हैं। मूर्तिकार के उत्साह और सुरुचि के पक्ष में जितना कहा जाये कम है। क्योंकि यह उस महान् शिल्पी की कृति है जिसका प्रयोजन था—ज्ञान की सुन्दरतम मूर्ति को आकार प्रदान करना तथा दर्शकों की आँखों को उल्लास देना।

गोलाकार वेलबूटों से युक्त देवी की पादपीठ के नीचे बीचो-बीच देवी का चिह्न हंस बड़ी ही सावधान मुद्रा में उत्कीर्ण है। सभी पक्षियों में हंस को सबसे अधिक विवेकी पक्षी माना जाता है। बिना ज्ञान के विवेक दुर्लभ है, इसलिए हंस को ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के चिह्न के रूप में स्वीकार किया गया। पादपीठ के दोनों ओर अन्य दो-दो देवियाँ खड़ी हैं। दायें तथा बायीं ओर आगे की देवियाँ क्रमशः बांसुरी एवं बीणा बजा रही हैं। दोनों ही त्रिभंग मुद्रा में खड़ी हैं। शिर अनावृत्त है और केशसज्जा सुन्दर है। घुटनों से भी नीचे तक लटकती हुई वनमालायें दोनों को अपने में घेरे हुये हैं। दोनों ही समान रूप से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

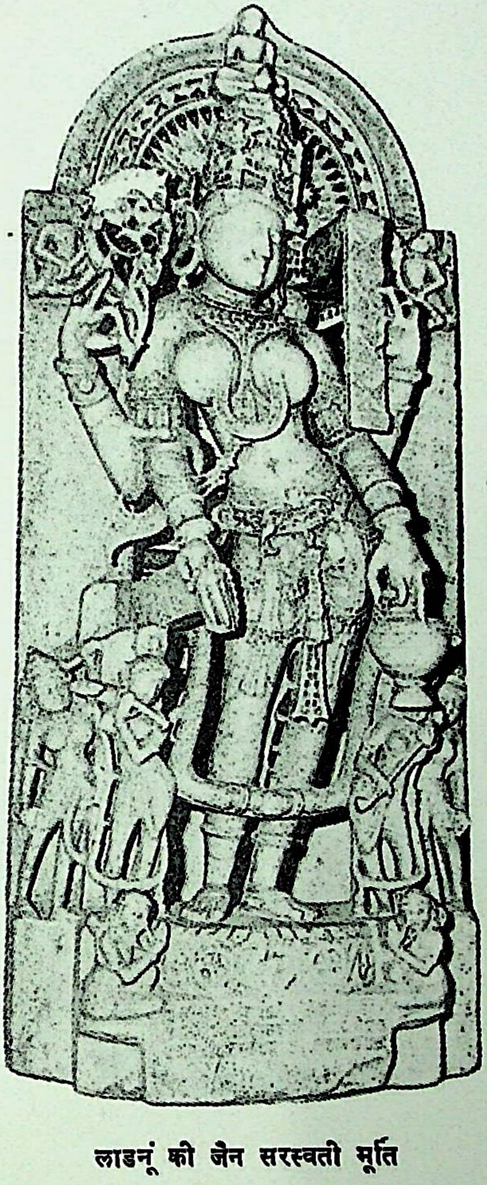

लाडनूं की जैन सरस्वती मूर्ति

(पृ० 52 के सामने)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविध एवं पर्याप्त सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हैं। इन्हीं देवियों के पार्श्व में नृत्यमुद्रा में चमर-धारी देवियाँ हैं। एक हाथ में चमर ढोल रही हैं तथा दूसरा हाथ कटि पर रखा हुआ है। ये दोनों भी काफी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हैं। घुमावदार ऊँचा किरीट-मुकुट धारण किये हैं। मोतियों की माला, हार, कुण्डल, कंकण, भुजबंद तथा पैरों में पायल पहने हुए हैं। कटि में मोतियों की लड़ियों से साड़ी (धोती) कसी हुई अंकित हैं।

पादपीठ पर नीचे जहाँ हंस अंकित है उसके दायें कोने पर दाढ़ी युक्त पुरुष तथा बायें कोने पर जूड़ा बाँधे स्त्री आकृति अंकित हैं। दोनों ही करबद्ध रूप में वन्दना की मुद्रा में बैठे हैं। दोनों के मुख पर सरस्वती के चरणों में अपना समर्पणभाव व्यक्त हो रहा है। इससे ऐसा लगता है कि ये इस मूर्ति के दानदाता (निर्माता) पति-पत्नी रूप श्रावक-युगल हैं।

भारत में स्वतंत्र उदाहरण के रूप में जैन सरस्वती की जितनी भी खड्गासन मूर्तियाँ देखने में आयी हैं प्रायः सभी में इस तरह के श्रावक-युगल प्रदर्शित किये गये हैं।

इस प्रकार परिकरयुक्त सरस्वती की यह मूर्ति निःसन्देह विलक्षण आकार में तराशी गई एक उत्कृष्ट कलाकृति है।

एक कहावत प्रसिद्ध है कि—"कवि की जीह्वा में सरस्वती रहती है तो शिल्पी के हाथों में।" इसे ही चरितार्थ करने हेतु किसी अज्ञात नामा शिल्पी को सजावट के प्रेम ने देवी को विकसित कमलासन पर तराशने के लिए विवश किया।

इस मूर्ति की अनेक विशेषताओं में से एक यह भी है कि पादपीठ पर उत्कीर्ण हंस के नीचे सामने वाले सपाट भाग में तीन पंक्तियों का स्पष्ट लेख है, जिसमें मूर्ति के प्रतिष्ठित होने का समय, दिगम्बर जैन परम्परा में सम्बद्ध माथुर संघ दानदाता (निर्माता) आदि के विवरणों के साथ "सरस्वती" शब्द का उल्लेख है। जबकि इस प्रकार के अन्य उदाहरणों में शायद ही स्पष्ट और पूर्ण लेख उल्लिखित हों। लेख इस प्रकार है:—प्रथम पंक्ति संवत् १२१९ वैशाख सुदी ३,शुक्रे ॥ श्री माथुर संघे ॥ द्वितीय पंक्ति—आचार्य श्री अनन्तकीर्ति भक्त-श्रेष्ठी बहुदेव पत्नी तृतीय पंक्ति—आशा देवी सकुटुम्ब सरस्वतीम् प्रणमति ॥ शुभमस्तु ॥

इस लेख से ज्ञात होता है कि श्री माथुर संघ के आचार्य श्रीअनन्तकीर्ति के भक्त श्रावक सेठ वासुदेव की पत्नी आशादेवी सपरिवार सरस्वती की सभक्ति वन्दना करती हैं। लेख के अन्त में सभी के कल्याण की कामना की गई है।

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकवि पुष्पदन्त का भाषात्मक अवदान

डा० प्रेम सुमन जैन*

महाकवि पुष्पदन्त अपभ्रंश-साहित्य के बहुश्रुत एवं मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनकी तीनों रचनाएँ महापुराण, जसहरचरिउ एवं णायकुमारचरिउ साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से ही समृद्ध नहीं हैं, अपितु उनमें भारतीय भाषाओं की प्रचुर सामग्री भी है। पुष्पदन्त के तीनों ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित होने के कारण महाकवि की शब्द-सम्पत्ति विद्वानों के समक्ष उपलब्ध हो चुकी है। उसके विशेष अध्ययन से भारतीय भाषाओं के इतिहास में कई नये तथ्य जुड़ने की सम्भावना बनी है। डा० पी० एल० वैद्य,[1] डा० हीरालाल जैन[2] एवं डा० देवेन्द्र कुमार जैन[3] की पाण्डित्यपूर्ण भूमिकाओं एवं परिशिष्टों की सामग्री में पुष्पदन्त द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश के कुछ शब्दों के भाषात्मक स्वरूप पर चिन्तन किया गया है। इन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों के साथ प्राप्त टिप्पणों में भी कुछ भाषात्मक सामग्री उपलब्ध होती है[4]। डा० श्रीमती रत्ना श्रेयान् ने अपने शोध-प्रबन्ध में महापुराण में उपलब्ध देश्य शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।[5] इन सब सामग्री के आधार पर पुष्पदन्त के भाषात्मक अवदान की कुछ बानगी यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के लिये वैयाकरणों ने संस्कृत भाषा की संरचना को आधार माना है। उसके स्वरूप को सामने रखकर प्राकृत एवं अपभ्रंश के स्वरूप को समझा एवं समझाया जाता रहा है। यह स्वभाविक भी है। क्योंकि प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों में संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। पुष्पदन्त की रचनाओं को भी बिना संस्कृत भाषा एवं व्याकरण के ज्ञान के नहीं समझा जा सकता है। किन्तु पुष्पदन्त के भाषा ज्ञान का कैनवास (क्षेत्र) विस्तृत था।

---

* अध्यक्ष, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर।

१. वैद्य, पी० एल०; महापुराण ऑफ पुष्पदन्त, भाग १–३, बम्बई, १९३७–४१, भूमिका।

२. जैन, हीरालाल; णायकुमारचरिउ, वाराणसी, १९७२, (हि० सं०) भूमिका, वाराणसी।

– जैन, हीरालाल; जसहरचरिउ, वाराणसी, १९७२, (दि० सं०), भूमिका, शब्दकोश।

३. जैन, देवेन्द्रकुमार; महापुराण, (हिन्दी अनुवाद) भाग १–४, दिल्ली, १९८४।

४. महापुराण एवं णायकुमारचरिउ के कुछ प्रतियों में प्राप्त टिप्पण।
डा० जैन के अनुसार प्रभाचन्द्र पण्डित ने ये टिप्पण १०५५ ई० में लिखे थे।

५. श्रेयान्, रत्ना नागेश; 'ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ महापुराण ऑफ पुष्पदन्त', अहमदाबाद, १९६९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्होंने संस्कृत को आधार में रखते हुए भी लोक भाषाओं के शब्दों का भरपूर प्रयोग किया है। दशवीं शताब्दी भारतीय भाषाओं का समृद्धकाल कहा जा सकता है। उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत में प्रचलित भाषाओं के ही नहीं, अपितु फारसी और अरबी के शब्दों से भी पुष्पदन्त का साक्षात्कार था। आवश्यकतानुसार इन सब का प्रयोग उन्होने अपने ग्रन्थों में किया है। कुछ शब्द तो ऐसे हैं, जो पुष्पदन्त की रचनाओं के द्वारा पहली बार प्रकाश में आये हैं। न केवल प्राकृत, अपभ्रंश, देश्य शब्दों के कोशों के लिए पुष्पदन्त ने शब्द-सम्पदा प्रदान की है, अपितु संस्कृत कोश में भी उन्होंने कई अपरिचित शब्द प्रदान किये हैं। इन सब का संकलन एवं मूल्यांकन किया जाना अभी शेष है। पुष्पदन्त की कुछ भाषात्मक उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं—

१. जसहरचरिउ में लोक भाषा के तत्व अधिक हैं तथा संस्कृत के अप्रचलित शब्द भी इसमें अधिक मिलते हैं। यथा—

अंगचाअ (४. ९. ९.) अंग + त्याग = कार्योत्सर्ग
अणलिय (३. ३०. ९) अन + अलीक = सत्य
अणिट्ठिअ (४. ९. १२) अ + निष्ठित = शेष (असमाप्त)
अणुमग्गयर (२. ६. ८) अनु + मार्गचर = अनुचर
अपेअ (४. १४. ९) अ + पेत = गया हुआ
अभग्ग (टिप्पण) अ + भग्न = यथावत्
अरमाहर (१. २. ९) अरमा = अलक्ष्मी (दारिद्र)
+ हर = नाशक = धनी
अविवंक (१. १५. ६) अ + वि + वक्र = अतिसरल
आविज्जिअ (३. ८. १३) आ + वर्जित = सम्मानित
पिडवण (१. ९. ६) पितृ + वन = श्मशान

२. पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में संस्कृत के कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जो उनके समय प्रचलित तो थे, किन्तु उनके अर्थों में परिवर्तन होने लगा था। ये शब्द यद्यपि संस्कृत के तद्भव शब्द हैं किन्तु भिन्न अर्थ को प्रकट करने वाले हैं।[६] यथा—

कट्टु	=	कठोर	<	कष्ट	=	तकलीफ
करकं	=	भिक्षापात्र	<	करकं	=	कटोरा
कुंभिणी	=	पृथ्वी	<	कुंभिन	=	हाथी
खेड	=	देरी	<	क्षेप	=	बीतना
खेलण	=	खिलौना	<	क्रीड़ा	=	खेल

६. वही, पृ० ५४ आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णीव	=	चन्द्रमा	<	नृप	=	राजा
पंक	=	पाप	<	पंक	=	कीचड़
परई	=	परसों	<	प्रग्रे	=	प्रातः
मोग्गर	=	वेला का फूल	<	मुद्गर	=	कली

३. कुछ ऐसे शब्द भी महापुराण में प्रयुक्त हैं, जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से मानी जा सकती है, किन्तु वे लोक में बहु प्रचलित होने के कारण देशी शब्दों की कोटि में गिने जाते हैं। इन्हें अर्ध देशी शब्द कहा जा सकता है। यथा—

अलयद्द	<	अलगर्द	=	जलसर्प
अवड	<	अवट	=	कुँआ
आहुट्ठह	<	अर्ध चतुष्ट	=	साढ़े तीन
घियोरी	<	घृतपूर	=	मिष्ठान्न (घेवर)
थोरा	<	स्थूर	=	अधिक
घाड	<	घ्रा	=	संतोष (घापना)
पल्ली	<	पद्र	=	गाँव
भल्ल	<	भद्र	=	अच्छा (भला)
सलोना	<	स+लवण	=	सुन्दर

४. अपभ्रंश साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है—देशी शब्दों का प्रयोग। प्राकृत साहित्य से भी अधिक देशी शब्दों का प्रयोग अपभ्रंश साहित्य में हुआ है। शायद इसीलिये कई अपभ्रंश कवियों ने अपनी रचनाओं की भाषा को 'देशीभाषा' कहा है।[७] विद्वानों ने देशी शब्द की परिभाषा आदि के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन किया है।[८] वस्तुतः जो शब्द लोक में प्रचलित होने के कारण रूढ़ हो जाते हैं और उनका साहित्य में प्रचलित मानक भाषा से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता उन्हें देशी शब्द कहा गया है। प्रयोग और अर्थ के आधार पर इन देशी शब्दों की कुछ कोटियाँ भी बन सकती है। पुष्पदन्त ने अपने ग्रन्थों में प्रायः सभी प्रकार के देशी शब्दों का प्रयोग किया है। महापुराण में शुद्ध देशी शब्द लगभग ६०० हैं। इन सबकी विवेचना श्रीमती डा० रत्ना श्रेयान् ने अपने ग्रन्थ में की है।[९] कुछ शब्द इस प्रकार हैं :—

---

७. शास्त्री, देवेन्द्रकुमार; अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, दिल्ली, १९७२, पृ० ११–१२।

८. पिशेल, आर०; कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ प्राकृत लेंग्वेजेज, वाराणसी, पैरा ९।

९. श्रेयान्, रत्ना, वही, पृ० १९ आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अल्लिव	=	देना	अरणाल	=	कमल
इज्जा	=	माँ	कण	=	तीर
कप्पड़	=	कपड़ा	करोड़	=	बैल
कुड़िया	=	टुकड़ा	खीच्च	=	खिचड़ी
घार	=	पतंग	चुमभर्ली	=	कपड़े की कुंडी
घुड्ड	=	शीघ्र	तुंगी	=	रात्रि
पूण	=	हाथी	पूस	=	तोता
मंडल	=	कुत्ता	राली	=	झगड़ा
संच	=	रूपरेखा (सांचा)	सिव	=	जल

जसहरचरिउ एवं णायकुमार चरिउ में भी ऐसे सैकड़ों देशी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से केवल भाषाशास्त्र के इतिहास का ही पता नहीं चलता है, अपितु संस्कृति के कई तथ्य भी उजागर हो जाते हैं। जिस प्रकार पाणिनि के व्याकरणों में प्रयुक्त शब्दों के आधार पर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने "पाणिनिकालीन भारतवर्ष" नामक पुस्तक लिखी है, उसी प्रकार पुष्पदन्त द्वारा प्रयुक्त देशी शब्दों के आधार पर "दशवीं शताब्दी का भारत" की संरचना की जा सकती है।

५. पुष्पदन्त को भाषा का जादूगर कहा जा सकता है। क्योंकि उन्होंने अपने काव्यों में प्रसंगों के अनुसार भाषा का प्रयोग किया है। यदि कोई व्यक्ति अपभ्रंश आदि भाषा का जानकार नहीं भी है और वह पुष्पदन्त के काव्यों में वर्णित युद्ध के वर्णनों को सुने तो उसको रोमांच हो जायेगा। पुष्पदन्त के साहित्य में ऐसे सैकड़ों शब्द हैं, जो वस्तु के स्वभाव को अपनी ध्वनि से ही व्यक्त कर देते हैं। ऐसे ध्वन्यात्मक शब्दोंमें से कुछ द्रष्टव्य हैं[१०] :—

कडयडन्त	=	हड्डियों का कड़कड़ाना
किलकिलन्त	=	योद्धाओं का खिलखिलाना
खणखणन्त	=	तलवारों का खणखणाना
टणटणटणन्त	=	घण्टियों का टनटनाना
गड़गड़न्त	=	बादलों का गड़गड़ाना
के-के	=	मोर की आवाज
गुम-गुम	=	भौरों का गुंजन
मे-मे	=	मैंड़ों की आवाज
हिलि-हिल	=	घोड़ों का हिनहिनाना

६. महाकवि पुष्पदन्त यायावर थे। उन्होंने उत्तर से दक्षिण भारत का भ्रमण किया था। उनका अधिकांश समय दक्षिण भारत में व्यतीत हुआ। अतः उन्होंने जिन देशी

१०. पाण्डेय, राजनारायण; महाकवि पुष्पदन्त, जयपुर, १९७८, पृ० २७४-२७५।

.८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्दों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया है उनमें से अधिकांश द्रविड़ भाषाओं के शब्द हैं। उनका आज भी कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मराठी आदि भाषाओं में प्रयोग होता है। डा० रत्ना श्रेयान् ने ऐसे कई तुलनात्मक सन्दर्भ अपने ग्रन्थ में दिये हैं। एक स्वतन्त्र अध्ययन का यह विषय होना चाहिये कि पुष्पदन्त के पूर्व इन दक्षिण भारतीय भाषाओं के शब्दों के प्रयोग की क्या स्थिति थीं तथा पुष्पदन्त ने उनके प्रयोग और विकास में क्या योगदान दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्पदन्त ने बहुत से शब्दों को लोक से उठाकर उन्हें साहित्य में प्रयोग कर अमर कर दिया है। यथा—

अक्क	=	माँ	कन्नड़
ओलग्ग	=	सेवा करना	कन्नड़
कुरर	=	भेड़	कन्नड़
डोंबी	=	डोंब स्त्री	कन्नड़
णेसर	=	सूर्य	कन्नड़
पिल्लय	=	छोटा प्राणी	कन्नड़
पुल्ली	=	सिंह	कन्नड़
अड्डा	=	दर्पण	तेलुगु
कडप्प	=	समूह	फलप्पु
करूल	=	बालों की लट	कुरूल
चिच्ची	=	आग	चिच्चु
बोंडी	=	शरीर	पोंडी
मेरा	=	सीमा	मेरइ (मेड़)

७. पुष्पदन्त द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का एक महत्त्वपूर्ण उपयोग यह किया जा सकता है कि उसमें वे शब्द खोजे जा सकते हैं जो माध्यकालीन आर्य भाषाओं में आज भी प्रयुक्त होते हैं। मराठी, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाओं में कुछ ऐसे शब्द आज हमें प्राप्त होते हैं, जिनके अर्थ प्रचलित नहीं हैं। ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति करना कठिन हो रहा है। विद्वान् संस्कृत के शब्द कोशों या व्याकरण शास्त्र में उनकी व्युत्पत्ति खोजने की खींचतान करते हैं, जबकि वे शब्द प्राकृत अपभ्रंश से इन भाषाओं में आये हैं।[११] अतः उनकी व्युत्पत्ति और अर्थ प्राकृत, अपभ्रंश तथा देशी शब्दों के भण्डार में ही मिल सकेंगे। यह क्षेत्र स्वतन्त्र और गहन अध्ययन की अपेक्षा रखता है। पुष्पदन्त के जसहरचरित में प्रयुक्त कुछ शब्दों का क्षेत्रीय भाषाओं से साम्य द्रष्टव्य है :—

मराठी

कच्चोल	=	पात्र	>	कचोलें	गंजोल्लिय	=	क्षुद्रव्य	>	गांजलेले
खुरुप्प	=	शस्त्रविशेष	>	खुरपें	घुम्म	=	भ्रमण	>	घुमणें

११. जैन, प्रेम सुमन; प्राकृत अपभ्रंश एवं अन्य भारतीय भाषाएँ, बम्बई, १९७४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्तय	=	व्याघ्र	>	चित्ता	झड़प्पण	=	आक्रमण	>	झड़प
झूर	=	खेदकरना	>	झुरणें	डोर	=	धागा	>	दोर
थरहर	=	कांपना	>	थरथरणें	थोट्ट	=	छिन्नहस्त	>	थोटा
हडाविय	=	दूर करना	>	हटविलेलें					

राजस्थानी[१२]

अप्पणव	=	अपना	>	आपणो
कंचुलिअ	=	स्तनवस्त्र	>	कांचली
काणि	=	आंखविहीन	>	कांणी
कोट्ठ	=	कोठा	>	कोठो
घल्ल	=	डालना	>	घालणा
घोड	=	अश्व	>	घोडो
पियारअ	=	प्रियतर	>	पियारो
लोण	=	मक्खन	>	लोण
वाड	=	निवासस्थान	>	वाड़ो

८. राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्थान को प्राकृत और अपभ्रंश की शब्दावली के ज्ञान के बिना नहीं समझा सकता है।[१३] अकेले पुष्पदन्त ने हिन्दी को लगभग २०० शब्द प्रदान किये हैं। कई शब्दों की परम्परा तो इससे बहुत प्राचीन है। पुष्पदन्त के अपभ्रंश के कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं, जो आज भी हिन्दी में प्रचलित हैं। यथा—

अज्जिया	>	आजी (पिता की माँ)	गलख	>	गल्ला
आसवार	>	असवार (घुड़सवार)	गिल्ल	>	गीला
कक्कर	>	कंकर	झुट्ठ	>	झूठ
कयार	>	कचरा (कवाड़)	टोप्पी	>	टोपी
कुकुरी	>	कूकरी (कुतिया)	तेरउ	>	तेरा
कल्लाल	>	कलाल (मद्य-विक्रेता)	दूण	>	दूना
खुंट	>	खुंटा	पत्थर	>	पत्थर
खेलिर	>	खिलाड़ी			

९. यद्यपि अधिकांश विद्वान् यह मानकर चलते हैं कि प्राकृत और अपभ्रंश एक भाषा के दो रूप हैं, किन्तु भाषात्मक गठन, शब्द सम्पत्ति एवं अर्थ-वैचित्र्य की दृष्टि से अपभ्रंश एक स्वतन्त्र भाषा है। प्राकृत के आधार पर वह विकसित अवश्य हुई है, किन्तु उसने अपनी अलग पहिचान बनाई है। पुष्पदन्त के काव्यों ने अपभ्रंश को एक नया रूप

१२. जैन, प्रेम सुमन; "राजस्थानी भाषा में प्राकृत-अपभ्रंश के प्रयोग" नामक लेख, आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ, पूना, १९७५, खण्ड ४, पृ० ८५।

१३. जैन, जगदीशचन्द्र; "प्राकृत और हिन्दी" नामक लेख, प्रोसीडिंग ऑफ प्राकृत सेमिनार, पूना, १९७३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रदान किया है। डा० हीरालाल जैन ने णायकुमारचरिउ की भाषा पर विचार करते हुए उसकी ४१ विशेषताएँ स्पष्ट की हैं। उनमें से अधिकांश प्राकृत की भी हैं। किन्तु कुछ विशेषताएँ केवल अपभ्रंश में ही मिलती हैं। एक स्थान पर नागकुमार व्यालमट्ट को शीघ्रता से शत्रु पर विजय करने के लिए भेजना चाहता है। तब वह कहता है—तुम शीघ्र जाओ और तुरन्त भूमि दिलवा दो—

जज्जाहि बप्प देदेहि महि।
ससुरहो रिऊ मारिवि लच्छि सहि। (६. १२. ११)

यहाँ जज्जाहि और देदेहि में शब्दों का द्वित्व शीघ्रता के लिए किया गया है।

१०. पुष्पदन्त ने अपनी रचनाओं में अपभ्रंश के कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग भी किया है, जो प्राकृत शब्दकोशों में उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः अपभ्रंश के शब्दकोश के लिए पुष्पदन्त ने कितने ही नये शब्द प्रदान किये हैं। यथा—

अलिघाइ	=	सरलता	घणघण	=	बहुत
अलयद्द	=	जल का साँप	चिण्णाअ	=	खाया हुआ
कम्पण	=	भाला, कटार	जलचर	=	शंख
कल	=	स्वाद लेना	णित्तण	=	कामदेव
कुसेसय	=	कमल	णिवावण	=	शान्त होना
कब्बुर	=	स्वर्ण	तारिणिणाह	=	समुद्र
कालि	=	रात्रि	पयंघण	=	वस्त्र
केल	=	शराब का ग्लास	लाल	=	मजाकिया
खुद्दहीर	=	चन्द्रमा	वल्लूर	=	सूखा मांस
खणरूइ	=	प्रकाश	विण	=	बीनना
खेउ	=	देरी	सवलहण	=	मुर्दा जलाना
गलमोडी	=	गले का टेढ़ापन	सरहि	=	समुद्र

अपभ्रंश साहित्य के अब इतने ग्रन्थ प्रकाश में आ गये हैं कि अपभ्रंश कोश का निर्माण किया जा सकता है। डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री १०–१५ वर्षों से इस कार्य में संलग्न हैं। किन्तु साधनों के अभाव में किसी एक व्यक्ति की सामर्थ्य का यह काम नहीं है। किसी समर्थ संस्था एवं विद्वानों की टीम को अपभ्रंश कोश के कार्य में लगकर शीघ्र प्रकाशित करना चाहिये। किन्तु तबतक विद्वानों को व्यक्तिगत अध्ययन के आधार पर ऐसे शब्दों की सूची (काड्‌स) बनाते रहना चाहिये, जो उन्हें शब्दकोशों में न मिलें। यह सामग्री अपभ्रंश शब्दकोश के निर्माण में पर्याप्त सहायक होगी। हमारे विभाग की "अपभ्रंश अनुसन्धान योजना" स्कीम के अन्तर्गत अपभ्रंश के प्रकाशित ग्रन्थों के शब्दकोश निर्माण की योजना कार्यरत है। स्वयम्भू-कोश, पुष्पदन्त-कोश एवं रइधू-कोश आदि स्वतन्त्र एवं छोटे कार्य भी शीघ्र किये जा सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

११. पुष्पदन्त की भाषा का चमत्कार उनके विभिन्न वर्णनों में देखने को मिलता है।[१४] किन्तु वह काव्य-सौष्ठव का विषय होने के कारण यहाँ विवेचन नहीं है। महाकवि के द्वारा प्रयुक्त लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे अवश्य ही उनके भाषात्मक अवदान में वृद्धि करते हैं। थोड़े शब्दों में सूक्ष्म अर्थ को भरना पुष्पदन्त की विशेषता रही है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

लोकोक्तियाँ

१—ण सुहाइ उलूयहो उइउ माणु। (म० पु० १. ८. ५)

—उल्लू को सूर्योदय नहीं सुहाता।

२—जो रसन्तु वरिसइ सो णवघणु। (म० पु० २. १४. ७)

—जो रस की वर्षा करे, वह बादल।

३—भरियउं पुण्ड रित्तिउ होइ। (म० पु० ३९. ८. ५)

—जो भरता है, वह खाली भी होता है।

४—हयलु वि गज्जई णियय घरि। (म० पु० ५६. ७. १३)

—अपने घर पर सभी गरजते हैं।

मुहावरे

अडइ रुण्णु=अरण्य रोदन (ण० च० ४. ३. १३)

पय दुद्धइ सप्पहो=साँप को दूध पिलाना (ज० च० १. १९. १०)

वायरण वियारणु जडहैं जिह=जैसे मूर्ख का व्याकरण पढ़ना (म० पु० ६२. ११. ४.)

कट्ठ कणएँ जडिउउ=काठ में सोना जड़ना (म० पु० ७४. ११. ४)

अट्ठाविउ सुत्तउ सीहु कोण=सोते सिंह को जगाना (म० पु० १२. १७)

भुअकंउ छणयंदहु सारमेउ=पूर्णिमा के चाँद पर कुत्ते का भोंकना (म० पु० १. ८)

इस प्रकार महाकवि पुष्पदन्त का भाषात्मक ज्ञान वैविध्यपूर्ण एवं पर्याप्त समृद्ध है। उनकी रचनाओं में भारतीय भाषाओं की विपुल सामग्री उपलब्ध हैं। उसे देखते हुए यही लगता है कि पुष्पदन्त ने णायकुमारचरिउ (१. १. ३–१०) में सरस्वती वन्दना करते समय जो कहा था कि सरस्वती शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलंकारों से युक्त हैं, लीलायुक्त कोमल सुबन्त और तिङन्त पदों की दात्री है, महाकाव्य रूपी भवन में संचरण करती है, बहुत से हाव-भाव के विभ्रमों से युक्त है, सुप्रशस्त अर्थ से आनन्द उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञान-विज्ञान से परिपुष्ट है, समस्त देश भाषाओं का व्याख्यान करने वाली है और संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के लक्षणों को प्रकट करती है—जिसका नाम व्याकरण वृत्ति से विख्यात है, वह सरस्वती मुझ पर प्रसन्न हों :—

१४. श्री रंजन सूरिदेव "महापुराण की काव्य भाषा", जैन-विद्या, अप्रैल, १९८५, पृ० ४३–४९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुविहालंकारें विप्फुरंति, लीलाकोमलइं पयाइं दिंति।
महकव्व पिहेलणि संचरंति, वहुहाव माव विब्भम घरंति।
सुपसत्थें अत्थें दिहि करंति, सव्वइं विण्णाणइं संभरंति।
णीसेसदेसमासउ चवंति, लक्खइं विसिट्ठइं दक्खवंति।
वायरणवित्ति पायडियणाम, पसियउ महु देवि मणोहिराम ॥

महाकवि का यह कथन उनकी भाषा-समृद्धि पर चरितार्थ हो जाता है। वास्तव में सरस्वती उनपर प्रसन्न हुई हैं, तभी वे अपभ्रंश भाषा के विविध रूप अपनी कृतियों में प्रस्तुत कर सके हैं।[१५]

१५. (क) भाटिया, कैलाश; "पुष्पदन्त की भाषा" नामक लेख, महावीर जयन्ती स्मारिका, १९६२।

(ख) मिश्र, सुदर्शन; "पुष्पदन्तकृत महापुराण की भाषा", वैशाली रिसर्च बुलेटिन नं० ५, १९८६, पृ० १०२–१०७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत भाषा की उत्पत्ति और प्राकृत अभिलेखों का महत्त्व

प्रो० डा० चन्द्रदेव राय*

मनुष्य के मस्तिष्क में जब विचार उठे होंगे, तभी भाषा भी आयी होगी। पाणिनि ने लिखा है—

"आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥"
—पाणिनीय शिक्षा श्लोक–६

"अर्थात् आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को समझ कर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करती है। मन शरीर की अग्नि-शक्ति पर जोर डालता है और वह शक्ति वायु को प्रेरित करती है, जिससे शब्द-वाक् की उत्पत्ति होती है।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के विकास के साथ-साथ वाणी का भी विकास हुआ है। अतएव आदिकाल में यदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर मनुष्य समाज का विकास हुआ होगा, तो संभव है कि भिन्न-भिन्न भाषाएँ आरम्भ से विकसित हुई हों। यदि एक ही स्थान पर सुसंगठित रूप में मनुष्य समुदाय का आविर्भाव माना जाय तो आरम्भ में एक भाषा का अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। अतः स्थान और काल भेद से ही भाषाओं में वैविध्य उत्पन्न होता है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य की भाषा सृष्टि के आरम्भ से ही निरन्तर प्रवाह रूप में चली आ रही है, पर इस प्रवाह के आदि और अन्त का पता नहीं है। नदी की वेगवती धारा के समान भाषा का वेग अनियन्त्रित रहता है। अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान में भाषाओं की जो विभिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है, वह कितनी प्राचीन है और न यही कहा जा सकता है कि मानव सृष्टि का विकास पृथ्वी के किस विशिष्ट स्थान में हुआ है।

आज से अरबों वर्ष पहले पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। कई प्रक्रियाओं से गुजरने के बाद उस पर पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं का प्रादुर्भाव हुआ। उनके प्रादुर्भाव होने के लाखों वर्ष बीत जाने के बाद आदि मानव की उत्पत्ति हुई। प्रारम्भ में मनुष्य पहाड़ों और जंगलों में उसी प्रकार नंगे शरीर घूमते थे जिस प्रकार जंगली जानवर घूमते और स्वेच्छाचर करते

*रीडर, संस्कृत–प्राकृत विभाग, हरप्रसाद दास जैन महाविद्यालय, आरा,
(मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहते हैं। किन्तु धीरे-धीरे मनुष्य और अन्य जानवरों में अन्तर आता गया, क्योंकि ईश्वर की कृपा से मनुष्य के पास कुछ ऐसी चीजें थीं, जो अन्य जानवरों से उसे अलग कर रही थीं। उसके पास एक छोटा-सा मस्तिष्क था, जिसके माध्यम से वह कुछ सोच-विचार कर सकता था। लाखों वर्षों तक उसे हिंसक पशुओं से द्वन्द्व युद्ध करना पड़ा। कभी वे इन्हें मारकर खा जाते, तो कभी ये उन्हें। धीरे-धीरे बुद्धिवल के कारण मनुष्य की ही विजय होती गयी।

प्रारम्भ से मनुष्य की अभिव्यक्ति का माध्यम संकेत और जानवरों की तरह चिल्लाना ही था। जिस प्रकार गाय और बैल "में" और "वा" कहकर डकारते-चिल्लाते हैं, उसी तरह आदि मानव भी चिल्लाते थे। उनके बच्चे भी माँ-बाप को पुकारने के लिए जानवर की तरह "माँ" "वा" "में" "में" आदि शब्दों का जोर से चिल्लाकर प्रयोग करते थे। प्यास लगने पर "प"–"प" बोलना और भूख लगने पर 'बे" "बे" "वो" "वो" आदि बोलना तथा बोलने से अधिक संकेत करना यही अभिव्यक्ति का माध्यम बना। किसी ध्वनि का वे शीघ्र अनुकरण करते थे और दूसरे को सुनाते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे कुछ शब्दों का निर्माण हुआ। वृक्ष से पत्ते गिरने पर "पत्" "पट्" आदि शब्द मुँह से निकाले गये। इस प्रकार किसी भी पत्ते के लिए "पत्", पत्त या आगे चलकर "पत्र" शब्द का प्रयोग हुआ। उसी प्रकार "सर-सर", "फर-फर", "झर-झर" "टन-टन", "टर-टर" टी-टी आदि ध्वनिसूचक शब्दों का निर्माण हुआ होगा। मनुष्य की उत्पत्ति के लाखों वर्षों के बाद उसे बोलने के लिए टूटी-फूटी भाषा मिल गयी, जिसके माध्यम से वह अपना विचार अभिव्यक्त कर सकता था। इस उपलब्धि की प्राप्ति किए भी आज लाखों वर्ष हो चुके होंगे। सम्पूर्ण ब्रह्मावर्त या आगे चलकर आर्यावर्त की यही स्थिति रही होगी।

उक्त भाषा चूंकि प्रकृति से ही प्राप्त हुई थी। अतः आगे चलकर वह प्रकृत भाषा कहलायी। जैसे-जैसे समय बीतता गया; अधिक से अधिक शब्दों का निर्माण होता गया, किन्तु उस समय संज्ञा या क्रिया में अधिक अन्तर नहीं था। संज्ञा को ही क्रिया के रूप में प्रयोग कर देते थे। उस समय व्याकरण का भी पता नहीं था। लोग जो कुछ बोलते थे, वही भाषा थी। उस समय साहित्य निर्माण का तो सवाल ही नहीं उठता था। परन्तु हजारों हजार वर्षों के बाद भाषा में धीरे-धीरे अन्तर आने लगा। जनसाधारण की भाषा और ज्ञानवान् लोगों की भाषा में अन्तर स्पष्ट दिखलायी देने लगा। जनसाधारण जैसे-तैसे बोल लेता था पर सुसभ्य और ज्ञानवान् लोग व्यवस्थित ढंग से बोलते थे। वैसे भी ज्ञानवान् और सुसभ्य लोगों को देव तथा जनसाधारण को जन या मानव कहा जाने लगा था। आततायियों और दुष्टों को दानव कहा जाता था। आगे चलकर बोलने में भी काफी अन्तर आ जाने के कारण सुसभ्य लोगों की भाषा "देवभाषा" तथा जनसाधारण की भाषा "मानुषी भाषा" कहलाने लगी।

पुनः कई हजार वर्षों के बाद ज्ञानवान् और सुसभ्य लोगों में भी दो वर्ग बन गये— जिनमें शारीरिक बल और पौरुष अधिक दिखाई देने लगा, वे शासक बने तथा देवता ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहलाते रहे; किन्तु जिन्हें ज्ञानार्जन और तप में अधिक रुचि थी, वे ऋषि-मुनि बन गये। ऋषियों ने त्याग की जीवन अपनाया। उन्होंने जंगलों में कुटिया बनाकर ज्ञानार्जन करना प्रारम्भ किया। उनका कठोर श्रम ही तप हुआ तथा ज्ञान प्राप्ति ही ईश्वर प्राप्ति का साधन बना। जो जितना ही ज्ञानार्जन के क्षेत्र में आगे बढ़ते; उनपर भगवान् उतना ही प्रसन्न होते थे। आज भी जो ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में जितने आगे हैं, लक्ष्मी और नारायण उतने ही निकट हैं। उस समय देवताओं ने शासन का भार सम्हाला तथा दुष्ट दानवों से ऋषियों और जनसाधारणों की रक्षा की। देवासुर संग्राम और चण्डिका देवी का प्रादुर्भाव उन्हीं काल खण्डों में हुआ। हमारे आर्यावर्त में सभ्यता का तीव्र विकास तथा आर्थिक प्रगति को देखकर बाहर के लोग जलते थे। हमारी समृद्धि को देखकर तथा दुष्ट स्वभाव के कारण वे हम पर बार-बार आक्रमण करते थे। यही कारण था कि आक्रमणकारियों को राक्षस कहा जाने लगा। बार-बार आक्रमण के बावजूद हमारे ऋषियों ने अपनी तपस्या जारी रखी। ज्ञानार्जन के क्षेत्र में उनका कठोर श्रम चलता रहा। वेद, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि विभिन्न महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण उन्हीं कालखण्डों में हुआ। इस प्रकार पचासों हजार वर्ष निकल गये, किन्तु सम्पूर्ण आर्यावर्त में दो ही भाषा प्रचलित रही— देवभाषा और मानुषी भाषा। देवभाषा को आगे चलकर संस्कृत नाम दिया गया, क्योंकि उसमें संस्कार पड़ा था। मानुषी भाषा स्वाभाविक रूप से फूटकर निकली थी, अतः उसे प्राकृत नाम से पुकारा गया। महाकवि वाल्मीकि के समय तक लोग संस्कृत को देवभाषा और प्राकृत को मानुषी भाषा ही कहते थे। परन्तु उनके समय तक आते-आते संस्कृत द्विजाति मात्र की भाषा मानी जाने लगी थीं। वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में हनुमान् जब सीता की पता लगाते हुए लंका की अशोक वाटिका में पहुँचते हैं; तब चिन्ता होती है कि उन्हें कैसे टोका जाय, क्योंकि सीता से इनका पूर्व परिचय तो है ही नहीं। यदि द्विजाति की तरह संस्कृत में बात करेंगे, तो मायावटी रावण समझकर सीता भय खाने लगेंगी—

यदि वाचं प्रादास्यामि द्विजाति इव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥
(वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड–५/१८)

ऐसी स्थिति में सर्वभाषाविद् हनुमान् निर्णय करते हैं कि सीता को संस्कृत (देवभाषा) में न टोककर मानुषी (प्राकृत) भाषा में ही टोका जाय: किन्तु उस समय तक मानुषी भाषा के भी भौगोलिक कारणों से अनेक रूप दिखलाई देने लगे थे। अतः हनुमान् ने उत्तर भारत की मानुषी भाषा या विदेह जनपद की मानुषी भाषा में ही सीता से बात की होगी—

वाल्मीकि रामायण - सुन्दर काण्ड, सर्ग–१०, श्लोक १०–१९

आगे चलकर मानुषी विभिन्न प्राकृत भाषाओं में परिवर्तित होने लगी। कहीं महाराष्ट्री तो कहीं शौरसेनी, कहीं गौड़ी तो कहीं विदर्भी, कहीं पालि तो कहीं मागधी, अर्द्धमागधी या अन्य प्राकृत भाषा का विभिन्न नामकरण होता गया। फिर प्राकृत भाषाओं से

९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अलग-अलग अपभ्रंश भाषाएँ बनीं, जिनसे आधुनिक भाषाओं का धीरे-धीरे प्रादुर्भाव हो गया।

प्राकृत अभिलेखों का सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक महत्त्व

प्राकृत भाषा का अभिलेखीय साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राप्त अभिलेखों भाषा, इतिहास, भूगोल और साहित्य की दृष्टि से संस्कृत भाषा के अभिलेखों की अपेक्षा कई बातों में विशिष्ट है। उपलब्ध अभिलेखीय साहित्य में (प्राकृत) भाषा के अभिलेख ही सबसे अधिक प्राचीन है। प्रारम्भ से ई० सन् की चौथी शती तक के समस्त अभिलेख प्रायः प्राकृत में ही है। इन अभिलेखों में किसी व्यक्ति विशेष का केवल यशोगान ही निबद्ध नहीं है बल्कि मानवता के पोषक सिद्धांत अंकित हैं। हमारा विश्वास है कि इस प्रकार असाम्प्रदायिक और विश्वसनीय साहित्य संसार में बहुत कम मिलेगा। प्राकृत अभिलेखों में साहित्य के अनेक विधाओं के बीज वर्तमान हैं।

दूसरी बात यह है कि साहित्य की व्यवस्थित अध्ययन की परम्परा सबसे अधिक शिलालेखों में सुरक्षित रहती है। अतः अभिलेखीय साहित्य का किसी भी प्रकार संशोधन और परिवर्तन सम्भव नहीं है। शिलालेखों पर उत्कीर्ण साहित्य समय के शाश्वत प्रवाह में तदवस्थ रहता है। यही कारण है कि शिलालेखों का अध्ययन किसी भी भाषा और साहित्य की परम्परा के नितान्त आवश्यक होता है।

प्राकृत में सबसे प्राचीन अभिलेख प्राकृत—मौर्यकालीन है, जिसका सर्वेक्षण हमने अपने शोध-प्रबन्ध में किया है। इसके पश्चात् प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के अभिलेख ई० पू० २६९ में राज्याभिषेक के बारह वर्ष पश्चात् गिरनार, कालसी, धौली, जौगढ़ एवं मानसेहरा आदि स्थानों पर उत्कीर्ण कराये गये हैं। इन शिलालेखों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके द्वारा सम्राट् अशोक ने प्रजा में "अहिंसा" के प्रति आस्था जागृत करने का प्रयास किया है। समाज में सदाचार, सुव्यवस्था एवं निश्छल प्रेम उत्पन्न करने का प्रयास भी इन अभिलेखों में पाया जाता है। त्याग, आत्मसंयम एवं राग-रहित प्रवृत्ति को जागृत करने के लिए क्षमादेश प्रचारित किये गये हैं। अशोक ने कलिंग के अभिलेखों में कहा हैं—"मेरी प्रजा मेरे बच्चों के समान है और मैं चाहता हूँ कि सबको इस लोक तथा परलोक में सुख एवं शान्ति मिले।" अशोक के अभिलेखों से उपलब्ध होने वाले तथ्य निम्न प्रकार हैं :—

१. मौर्य साम्राज्य पश्चिमी भाग में अफगानिस्तान से उड़ीसा तक तथा हिमालय की तराई से नेपाल की तराई का स्तम्भ लेख सम्मनदेई तथा कालसी के लेख मद्रास प्रान्त के एरगुड़ी तक व्याप्त था क्योंकि शिलालेखों की सीमा क्षेत्र उपर्युक्त ही है। अशोक के द्वितीय तथा तेरहवें अभिलेख में राजाओं की जो नामावली आयी है, उससे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

२. मौर्यकालीन शासन व्यवस्था का चिरज्ञान भी अशोक के अभिलेखों से प्राप्त किया जा सकता है। पाँचवें धर्म-स्तम्भ लेख में धर्म माहात्म्य नये कर्मचारी की नियुक्ति का वर्णन है। तीसरे में रज्जुक प्रादेशिक तथा युक्त नामक पदाधिकारियों को प्रजाहित के लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राज्य में परिभ्रमण करने की आज्ञा दी गयी है। चतुर्थ स्तम्भ अभिलेख में अशोक ने स्वयं रज्जुक के विभिन्न कार्यों का निर्देश किया है। उसने प्रजा के हितचिन्तन पर विशेष बल दिया है। अभिलेखों से स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र, कौशाम्वी, तक्षशिला, उज्जैनी, तोसल्ली, स्वर्णगिरि नामक प्रान्तों में शासन विभक्त किया था। अशोक के अष्टम अभिलेख में आए हुए वाक्य—"सम्वोधित तेनेसा धर्म यात्रा" मिलता है। इससे स्पष्ट है कि उसने बौद्ध धर्म में प्रवेश कर धर्म-यात्रा आरम्भ की और प्रथम जन्म स्थान लुम्बुनी पहुँचा। तत्पश्चात् ज्ञान प्राप्त के स्थान बोधगया भी गया। सम्वोधि धर्म माता से बोधगया तीर्थयात्रा का संकेत प्राप्त होता है। अन्य स्थानों के सम्बल में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है, पर सारनाथ का स्तम्भ लेख तथा धर्मराज का स्तम्भ लेख निर्माण अशोक की सारनाथ तीर्थयात्रा को प्रमाणित करता है। सारनाथ स्तम्भ लेख में संध-भेद के प्रसंग में पाटलीपुत्र का नाम उल्लिखित है।

३. अभिलेखों में जनता के प्रधान कर्तव्यों का भी विवेचना किया गया है। बताया गया है कि माता-पिता की सेवा, प्राणियों के प्राणों का आदर, विद्यार्थियों को आचार्य की सेवा एवं जातिभाइयों के साथ उचित व्यवहार करना चाहिये। दूसरों के धर्म और विश्वासों के साथ सहानुभूति रखने का निर्देश करते हुए द्वादश अभिलेख में लिखा है— "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी विविध दान और पूजा से गृहस्थ तथा संन्यासी सभी सम्प्रदाय वालों का सत्कार करते हैं, किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते हैं, जितने इस बात की कि इन सम्प्रदायों में सार वृद्धि हो। सम्प्रदायों के "सार" की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर उसका मूल वाक् संयम है। अर्थात् लोक के बल ही सम्प्रदाय को आदर और दूसरों की निन्दा न करे।" तृतीय अभिलेख में बताया है कि माता-पिता की सेवा करना, मित्र, परिचित एवं स्वजातीय ब्राह्मण को दान देना अच्छा है। कम खर्च करना और कम संयम करना भी हितकर है।

४. यात्रियों की सुख-सुविधा का निरूपण करते हुए सम्पन्न अभिलेख में बताया गया है कि सड़कों पर मनुष्य और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवायें, आम्र वाटिकाएँ लगवायें, आधे-आधे कोस पर कुएँ खोदवायें, सराय बनवायें और जहाँ-तहाँ मनुष्यों तथा पशुओं के उपकार के लिए तालाब खोदवायें। रोगी मनुष्य और पशुओं की व्यवस्था का प्रतिपादन द्वितीय अभिलेख में किया गया है। उस समय मनुष्य तथा पशुओं के लिए चिकित्सा का पूरा प्रबन्ध था।

५. द्वितीय स्तम्भ लेख में धर्म के सार्वजनिक स्वरूप का विवेचन किया है। धर्म का यह रूप किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं है, मानव रूप किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं है, मानव मात्र का है। बताया गया है—"अपासिनवे बहूक याने दया दान सचे य सोचये"— पाप से दूर रहना, वहुत अच्छे कल्याण के कार्य करना तथा दया, दान, सत्य एवं शौच का पालन करना धर्म है।

६. जीवन में अहिंसा को उतारने के लिए आहार पान की शुद्धि का भी निर्देश किया गया है। मांस-मदिरा का त्याग कर शुद्ध शाकाहारी बनने की ओर संकेत किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मौर्यों के उत्तराधिकारी शुगवंशी पुष्पमित्र ने अपने को कोशलाधीश कहा है। जिसका अर्थ है कि वह उत्तर कोशल का शासक था, जिसकी राजधानी अयोध्या और त्रिपुरी (जबलपुर) थी। दक्षिण भारत के शासक सातवाहन नरेशों के जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, गोवर्धन-नासिक जय स्कन्धवार के रूप में उल्लिखित है। गौतमी पुत्र सातकर्णि के विजय प्रसंग में प्रदेश तथा नदियों के नाम आये हैं। सातकर्णि सूमकालीन खारवेल ने हाथी गुम्फा अभिलेख में कलिंग नगर का नाम आया है। उड़ीसा के जैनधर्म का प्रवेश शिशुनाग वंशी राजा नन्दवर्द्धन के समय में ही था तथा खारवेल के पूर्व भी उदयगिरि पर्वत पर अर्हन्तों के मन्दिर थे। सम्राट् सम्प्रति के समय में वहाँ वादिवंश का राज्य था। इसी वंश में जैन सम्राट् खारवेल हुआ, जो उस समय का चक्रवर्ती राजा था। उसका एक अभिलेख उड़ीसा के भुवनेश्वर तीर्थ के पास उदयगिरि पर्वत के एक गुफा में खुदा मिला है, जो हाथी गुम्फा के नाम से खुदा प्रसिद्ध है। उसमें प्रतापी राजा खारवेल के जीवन वृतान्तों का वर्णन है। अभिलेख से ज्ञात होता है कि खारवेल ने मगध पर दो बार चढ़ाई की और वहाँ के राजा बहसतिमित्र को पराजित किया। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने पुष्पमित्र और बहसतिमित्र को एक अनुमान किया है। शुंगवंशी अग्निमित्र के सिक्के के समान ठीक उसी रूप का सिक्का बहसतिमित्र का मिलता है।

दक्षिण आन्ध्र वंशी राजा सातकर्णि खारवेल का समकालीन था। अभिलेख से ज्ञात होता है कि सातकर्णि की परवाह न कर खारवेल ने दक्षिण में एक बड़ी भारी सेना भेजी, जिसने दक्षिण के कई राज्यों को परास्त किया। सुदूर दक्षिण के पण्डित राजा के यहां से खारवेल के पास बड़े बहुमूल्य उपहार आते थे। उत्तर से लेकर दक्षिण तक समस्त भारत में उसकी विजय पताका फहरायी।

खारवेल एक वर्ष विजय के लिए प्रस्थान करता था तो दूसरे वर्ष महल आदि बनवाता, दान देता तथा प्रजा के हित के लिए कार्य करता था। उसने अपनी पैंतीस लाख प्रजा पर अनुग्रह किया था। विजय यात्रा के पश्चात् राजसूर्य यज्ञ किया औद बड़े-बड़े ब्राह्मणों को दान किया। उसने एक बड़ा जैन सम्मेलन बुलाया था, जिसमें भारत भर के जैनपति तपस्वी, ऋषि और पण्डित सम्मिलित हुए थे। जैन संघ ने खारवेल को खेमेराजा, भिक्षुराजा और धर्मराजा की पदवी प्रदान की थी। यह अभिलेख ई० पू० १५०-१०० के लगभग का है। ऐतिहासिकों का मत है कि मौर्यकाल की वंश परम्परा तथा काल गणना की दृष्टि से इसका महत्त्व अशोक के शिलालेखों से भी अधिक है। देश में उपलब्ध अभिलेखों में यही एक ऐसा अभिलेख है, जिसमें वंश तथा वर्ष संख्या का स्पष्ट उल्लेख है। प्राचीनता की दृष्टि से यह अशोक के बाद का अभिलेख माना जाता है। इसमें तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था और राज्य व्यवस्था का सुन्दर चित्रण है। सत्रह पँक्तियों का यह अभिलेख इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से बेजोड़ है। भारतवर्ष का सर्वप्रथम उल्लेख इसी अभिलेख की १० वीं पँक्ति में भारतवस-भारतवर्ष के रूप में मिलता है।

भारत में दानपत्र और ताम्रपत्रों की परम्परा भी प्राचीन काल से चली आ रही है। मौर्यकालीन गया जिले में स्थित बरार पर्वत का गुहालेख दान सबसे प्राचीन उदाहरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। ई० पू० सदियों में साँची वेदी पर वंश के दानकर्ता का नाम खुदा है। नासिक लेख में उषमदत्त द्वारा दान का उल्लेख मिलता है। उसने ३००० काषपिण श्रेणियों के बैंक के सूद पर जमा किये थे। उस आय से भिक्षुओं के भोजन और जीवन का प्रबन्ध किया जाता था। उसने ब्राह्मण कन्याओं के विवाह करने के लिए भी दान दिया।

प्राकृत अभिलेखों में इतिहास और पुरातत्त्व सम्बन्धी प्रचुर सामग्री है। अशोक, कनिष्क, खारवेल, गौतमी पुत्र-सातकर्णि, नईपान, रुद्र दामन, पुलमामी, वाकाटक आदि के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री मिलती है। अशोक के धर्मलेख मौर्य साम्राज्य की विशेषता प्रकट करते हैं। अशोक के अभिलेखों से ही उसके पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य की शक्ति का अनुमान होता है। यों तो उसके लेख प्रायः सम्पूर्ण भारत पर विस्तृत साम्राज्य की जानकारी कराते हैं। परन्तु त्रयोदश लेख में कलिंग विजय की बात कही गयी है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि कलिंग को छोड़कर हिमालय से मद्रास तक का प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य ने जीता था। इस प्रकार प्राकृत अभिलेखों में इतिहास का प्रचुर सामग्री निहित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द-अद्वैतवाद का समालोचनात्मक विश्लेषण : जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में

डा० लालचन्द जैन*

शब्द-अद्वैत भारतीय-दर्शन का महत्वपूर्ण अद्वैत-सिद्धान्त है। इसके पोषक व्याकरणाचार्य 'भर्तृहरि' हैं। वैयाकरणों के दार्शनिक सिद्धान्त शैव-सिद्धान्त के अन्तर्गत आते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शैव दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय व्याकरण-दर्शन का अनुयायी है, जिसका प्रमुख सिद्धान्त शब्द-अद्वैत है। इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन छठी शती के विद्वान् भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भारतीय दार्शनिक-ग्रन्थों[1] में भी इसका पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख किया गया है।

ब्रह्म-अद्वैतवाद की तरह शब्द-अद्वैतवाद में भी बाह्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता मान्य नहीं है। शब्द-अद्वैतवाद का अर्थ है—ऐसा सिद्धान्त जो यह मानता हो कि शब्द ही परम तत्त्व एवं सत्य है। यह दृश्यमान समस्त जगत् इसी का विवर्तमात्र है। इसी परम-तत्त्व रूप शब्द को उन्होंने ब्रह्म कहा। अतः इनका सिद्धान्त शब्द-ब्रह्म-अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

वाक् के भेद एवं स्वरूप

भर्तृहरि ने अपने सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए वाक् के तीन भेद बतलाये हैं[2]—वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती। विद्यानन्द के अनुसार नागेश आदि नव्यवैयाकरणों ने वाक् के

---

* प्राकृत शोध-संस्थान, वैशाली।

१. (क) भट्ट जयन्त : न्यायमञ्जरी, पृ० ५३२।
  (ख) कमलशील : तत्वसंग्रहपंजिका, ५, कारिका १२८, पृ० ८५-८६।
  (ग) स्वामी विद्यानन्द : तत्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय। तृतीय आह्निक, सूत्र २०, पृ० २४०।
  (घ) अभयदेव सूरि : सन्मतितर्कप्रकरणटीका, तृतीय विभाग, गा०६, पृ० ३७९-८०
  (ङ) आ० प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र, १/५, पृ० १३९-१४२।
  (च) – वही – : प्रमेयकमलमार्तण्ड, १/३, पृ० ३९।
  (छ) वादिदेव सूरि : स्याद्वादरत्नाकर, १/७, पृ० ८८-९८।
  (ज) यशोविजय : शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका, पृ० ३८०।

२. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
  अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥
  —भर्तृहरिः वाक्यपदीय, १/१४४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार प्रकार माने हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा[1]। भर्तृहरि ने पश्यन्ती का वही स्वरूप बतलाया है, जो नव्य-वैयाकरणों ने सूक्ष्मा का बतलाया है। इन भेदों का स्वरूप भी शब्द-अद्वैतवादियों ने प्रतिपादित किया है[2]।

वैखरी—मनुष्य, जानवर आदि बोलने वाले के कंठ, तालु आदि स्थानों में प्राणवायु के फैलने से ककारादि वर्णों को व्यक्त करने वाली स्थूल वाणी वैखरी वाक् कहलाती है। इस कथन से स्पष्ट है कि वैखरी का सम्बन्ध हर प्रकार की व्यक्त ध्वनियों के साथ है[3]।

मध्यमा—यह वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्म होती है। इसका व्यापार अन्तरंग होता है। प्राणवायु का अतिक्रमण कर अन्तरंगजल्परूप जो वाक् है, वह मध्यमावाक् कहलाती है। मध्यमा वाणी उस अवस्था में होती है, जब वक्ता के शब्द बोलने के पहले भीतर ही होते हैं[4]। चिन्तन करना मध्यमा का कार्य है। श्रुत में प्रविष्ट होकर उसका विषय बनने वाली वाक् मध्यमावाक् का स्वरूप है।

पश्यन्ती—यह मध्यमा से सूक्ष्म होती है। भर्तृहरि ने पश्यन्ती को सूक्ष्यतम बतलाया है। उन्होंने कहा है कि पश्यन्ती वर्ण, पद आदि क्रम से रहित (प्रतिसंहृत), अविभागरूप, चला (क्योंकि शब्दाभिव्यक्ति में गति है), अचला (क्योंकि अपने विशुद्ध रूप में निःस्पंद रहती है), स्वप्रकाश तथा संविद्रूप होती है[5]। भर्तृहरि ने इसे परब्रह्मस्वरूपिणी कहा है। यह अक्षर, शब्द, ब्रह्म और परावाक् भी कहलाती है।

पश्यन्ती में वाच्य-वाचक का विभाग प्रतीत नहीं होता। इसके अनेक भेद होते हैं, जैसे—परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभास, संसृष्टार्थप्रत्यवभास और प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभास[6]।

सूक्ष्मा (परावाक्)—नागेश आदि नव्य-वैयाकरणों ने सूक्ष्मा को ज्योतिस्वरूपा,

---

१. चतुर्विधा हि वाग्वैखरी–मध्यमा–पश्यन्ती–सूक्ष्मा चेति।

विद्यानन्द : श्लोकवार्तिक, अध्याय १, ३, पृ० २४०।

और भी देखें—उपाध्याय बलदेव : भारतीयदर्शन, पृ० ६४९।

२. वैखरी-शब्दनिष्पत्ती मध्यमा श्रुतिगोचरा।
द्योतितार्था च पश्यन्ती–सूक्ष्मा–वागनपायिनी।

—कुमारसम्भव टीका, उद्धृत, प्र० क० मा०, पृ० ४२।

३. स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी-वाक्-प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥

४. प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते।

५. 'अविभागाऽनुगा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा'।
और भी द्रष्टव्य—स्या० र० पृ० ९०।

६. संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते विवर्तदशायां तु वैखर्यात्मनाभेदः।

—हेलाराज : वाक्यपदीय, ३, ११, उद्धृत बलदेव उपाध्याय भा०, पृ० ६४९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शाश्वती, व्यापका, दुर्लक्ष्या और काल के भेद से स्पर्शरहित बतलाया है[1]। यह सबके अन्तरंग में प्रकाशित होती है। सूक्ष्मवाणी में सम्पूर्ण जगत् व्याप्त होने से संसार शब्दमय कहलाता है। सूक्ष्मा सम्पूर्ण ज्ञानों में व्याप्त रहती है। इसके बिना पश्यन्ती नहीं हो सकती, पश्यन्ती के बिना मध्यमा और मध्यमा के बिना वैखरी वाणी नहीं हो सकती। इसलिए सूक्ष्मा सभी वाणियों की आद्य जननी कहलाती है।[2] सम्पूर्ण संसार इसी का विवर्त मात्र है।

शब्दब्रह्म का स्वरूप

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्दब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए निम्नांकित विशेषण दिये हैं[3]—

(क) शब्दब्रह्म अनादिनिधन है

शब्दब्रह्म की पहली विशेषता यह है कि वह उत्पत्ति और विनाश से रहित है। जिसकी न कभी उत्पत्ति होती है और न विनाश, वह अनादिनिधन कहलाता है। शब्दब्रह्म उत्पत्ति एवं विनाशरहित है, इसलिये उसे अनादिनिधन कहा गया है।

(ख) शब्दब्रह्म अक्षररूप है

शब्दब्रह्म अक्षररूप है, क्योंकि उसका क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता। दूसरे शब्दों में शब्दब्रह्म कूटस्थ नित्य है। दूसरी बात यह है कि अकारादि अक्षर कहलाते हैं। शब्दब्रह्म इन अकारादि अक्षरों का निमित्त कारण है, इसलिए वह अक्षररूप कहा गया है। अकारादि अक्षरों की उत्पत्ति शब्दब्रह्म के बिना नहीं हो सकती। शब्दब्रह्म के अक्षररूप से यह भी सिद्ध होता है कि वह वाचकरूप है।

(ग) शब्दब्रह्म अर्थरूप से परिणमन करता है

शब्द-अद्वैतवादियों ने शब्दब्रह्म का स्वरूप बताते हुए यह भी कहा है कि वह अर्थरूप से विवर्तित होता है। अर्थात्, घट-पटादि जितने भी पदार्थ हैं, वे सब उसी शब्दब्रह्म के पर्याय हैं। घटादि पदार्थों का कारण शब्दब्रह्म है, जो घटादिरूप से प्रतीत होने लगता है। इससे सिद्ध है कि शब्दब्रह्म 'वाच्य' भी है।

---

१. स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा-वागनपायिनी।
तया व्याप्तं जगत्सर्वं ततः शब्दात्मकं जगत् ॥
और भी देखें : स्या० र० पृ० ९०।

२. तत्वार्थश्लोकवार्तिक, १/३—श्लोक, ९३—९४, पृ० २४०।

३. (क) अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रियाजगतो यतः ॥ भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १/१

(ख) प्रभाचन्द्रः प्र० क० मा०, १/३, पृ० ३९।

(ग) वादिदेव सूरिः स्याद्वादरत्नाकर, १/७, पृ० ९०।

(घ) नाशोत्पादासमालीढं ब्रह्मशब्दमयं परम्।
यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते ॥ शान्तरक्षितः तत्वसंग्रह, का० १२८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(घ) शब्दब्रह्म जगत् की प्रक्रिया है

घट-पट आदि भेद-प्रभेद रूप जो यह दृश्यमान् जगत् है, वह शब्दब्रह्ममय है। अर्थात्, शब्दब्रह्म से भिन्न जगत् की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ शब्दब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं।

समस्त जगत् शब्दब्रह्ममय है

शब्द-अद्वैतवादियों ने इस सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्ममय बतलाया है, क्योंकि विश्व उसका विवर्त है। संसार के सभी पदार्थ शब्दाकार-युक्त हैं, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो शब्दाकार युक्त न हो।[1]

दूसरी बात यह है कि जो जिस आकार से अनुस्यूत होते हैं, वे तद्रूप होते हैं। जैसे घट, सकोरा, दीया आदि मिट्टी के आकार से अनुगत होने के कारण मिट्टीरूप ही होते हैं। संसार के सभी पदार्थ शब्दाकार से अनुस्यूत हैं, अतः सम्पूर्ण जगत् शब्दमय है। इस प्रकार अनुमान-प्रमाण से शब्द-अद्वैतवादी जगत् को शब्दब्रह्ममय सिद्ध करते हैं।[2]

केवलान्वयी अनुमान के अतिरिक्त केवल व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा भी उन्होंने जगत् को शब्दब्रह्ममय सिद्ध किया है[3]। यथा—अर्थ शब्द से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि वे प्रतीति अर्थात् ज्ञान में प्रतीत होते हैं। जो प्रतीति में प्रतीत होते हैं, वे उससे भिन्न नहीं होते, जैसे—शब्द का स्वरूप। अर्थ की प्रतीति भी शब्द ज्ञान के होने पर होती है। इसलिए अर्थ शब्दब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से शब्दब्रह्म की सिद्धि होती है।

ज्ञान भी शब्द के बिना नहीं होता

समस्त जगत् का शब्दब्रह्मरूप सिद्ध करने के बाद शब्द-अद्वैतवादी कहते हैं कि संसार के सभी ज्ञान शब्दब्रह्मरूप हैं। उनका तर्क है कि समस्त ज्ञानों की सविकल्पता का कारण भी यही है कि वे शब्दानुविद्ध अर्थात् शब्द के साथ अभिन्नरूप से संलग्न हैं। ज्ञानों की वाग्रूपता शब्दानुविद्धत्व (शब्द से तादात्म्य संबन्ध) के कारण हैं[4]। शब्दानुविद्धत्व के बिना उनमें प्रकाशरूपता ही नहीं बनेगी। तात्पर्य यह है कि ज्ञान शब्द संस्पर्श रूप है, इसलिए वे सविकल्पक और प्रकाशरूप हैं। यदि ज्ञान को शब्द-संस्पर्श से रहित माना जाय तो वे न तो सविकल्प (निश्चयात्मक) हो सकेंगे और न प्रकाशरूप[5]। फलतः न तो ज्ञान वस्तुओं को प्रकाशित कर सकेगा और न उनका निश्चय कर सकेगा।

अतः ज्ञान में जो वाग्रूपता है, वह नित्या (शाश्वती) और प्रकाश-हेतुरूपा है। ऐसी वाग्रूपता के अभाव में ज्ञानों का और कोई रूप अर्थात् स्वभाव शेष नहीं रहता। यह

---

१. प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र, १/५, पृ० १८९।

२. वही।

३. वही, पृ० १४१—१४२।

४. वही, पृ० १४०; प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, पृ० ३९।

५. शब्दसम्पर्कपरित्यागे हि प्रत्ययानां प्रकाशरूपताया एवाभावप्रसक्तिः।
—स्याद्वादरत्नाकर, १/७, पृष्ठ ८८—८९।

१०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जितना भी वाच्य-वाचक तत्व है, वह सब शब्दरूप ब्रह्म का ही विवर्त अर्थात् पर्याय है। वह न तो किसी का विवर्त है और न कोई स्वतन्त्र पदार्थ है।

शब्दब्रह्म-अद्वैतवाद की समीक्षा

भारतीय चिन्तकों ने शब्दब्रह्म-अद्वैतवाद पर सूक्ष्म रूप से चिन्तन कर उसका निराकरण किया है। प्रसिद्ध नैयायिक जयन्त भट्ट[1] वौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित और उसके टीकाकार कमलशील[2], प्रमुख मीमांसक कुमारिल भट्ट की कृतियों[3] में विशेषरूप से शब्द-अद्वैतवाद का निराकरण विविध तर्कों द्वारा किया गया है। जैन दर्शन के अनेक आचार्यों ने इस सिद्धान्त में विविध दोष दिखाकर उसकी तार्किक मीमांसा की है। इनमें वि० ९वीं शती के आचार्य विद्यानन्द[4], वि० ११वीं शती के आचार्य अभयदेव सूरि[5], वि० ११-१२वीं शती के प्रखर जैन तार्किक प्रभाचन्द्र[6], वि० १२वीं शती के नैयायिक वादिदेव सूरि[7] और वि० की १८वीं शती के जैन नव्यशैली के प्रतिपादक यशोविजय[8] का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी के आधार पर इस सिद्धान्त का निराकरण किया जा रहा है।

शब्दब्रह्म की सत्ता साधक प्रमाण नहीं है

शब्द-अद्वैतवादियों ने शब्दब्रह्म का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह तर्क की कसौटी पर सिद्ध नहीं होता। क्योंकि, शब्द-अद्वैतवादियों ने उसे एक परमतत्त्व माना है। जैन तर्कशास्त्रियों का मत है कि 'शब्द' प्रमेय है और प्रमेय के अस्तित्व की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है[9]। आचार्य विद्यानन्द, अभयदेव सूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेव सूरि आदि जैन तर्कशास्त्रियों का कथन है कि यदि शब्दब्रह्म साधक कोई प्रमाण होता है, तो उसकी सत्ता मानना ठीक था, लेकिन कोई भी प्रमाण ऐसा नहीं है, जिसके द्वारा उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती[10]। आचार्य

---

१. न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ५३१।

२. तत्वसंग्रह, कारिका १२९—१५२, पृष्ठ ८६—९६।

३. मीमांसाश्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, श्लोक १७६।

४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय, तृतीय आह्निक, सूत्र २०, पृष्ठ २४०–२४१, श्लोक ८४–१०३।

५. सन्मतितर्क—प्रकरणटीका, पृष्ठ ३८४—३८६।

६. (क) न्यायकुमुदचन्द्र १/५, पृष्ठ १४२—१४७।
(ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, १/३, पृष्ठ ३९—४६।

७. स्याद्वादरत्नाकर, १/७, पृष्ठ ९२—१०२।

८. शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका।

९. प्रमाणाधीना हि प्रमेयव्यवस्था। अभयदेव सूरि, सन्मतितर्कप्रकरणटीका, पृ० ३८४

१०. (क) न चैवंभूतब्रह्मसिद्धये प्रमाणमुपलभ्यते ...।
—वही, तृतीय विभाग, गा० ६, पृ० ३८४
(ख) शब्दब्रह्मणः सद्भावे प्रमाणाभावात्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्यानन्द आदि जैन न्यायशास्त्रियों का तर्क है कि यदि शब्दब्रह्म साधक कोई प्रमाण है, तो प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों में से कोई एक हो सकता है [१]। शब्दब्रह्म-अद्वैतवादियों से वे प्रश्न करते हैं कि वे उपर्युक्त तीन प्रमाणों में से किस प्रमाण से शब्दब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। इन आचार्यों ने इसकी विस्तार से समीक्षा की है।

शब्दब्रह्म के अस्तित्व का निराकरण करते हुए तत्वसंग्रहकार शान्तरक्षित की भाँति जैन दार्शनिक आ० विद्यानन्द, अभयदेव सूरि, प्रभाचन्द्र और वादिदेव सूरि कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण शब्दब्रह्म का साधक नहीं है। प्रभाचन्द्राचार्य और वादिदेव सूरि शब्द-अद्वैतवादियों से प्रश्न करते हैं कि यदि वे प्रत्यक्ष प्रमाण को शब्दब्रह्म का साधक मानते हैं, तो यह बतलाना होगा कि निम्नांकित प्रत्यक्ष में से किस प्रत्यक्ष से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है[२]।

(क) इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से ? अथवा,

(ख) अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ? अथवा,

(ग) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ?

(क) इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म का साधक नहीं है

आचार्य विद्यानन्द तत्वार्थश्लोकवार्तिक में कहते हैं कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष प्रमाण से शब्दब्रह्म की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि शब्दाद्वैतवादियों ने इन्द्रियप्रत्यक्ष को स्वप्नादि अवस्था में होनेवाले प्रत्यक्ष की भाँति मिथ्या माना है [३]। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमेय रूप सम्यग् शब्द का साधक कैसे हो सकता है ? इस प्रकार सिद्ध है कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म का साधक नहीं है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि शब्द अद्वैतवादियों ने शब्दब्रह्म का जैसा स्वरूप प्रतिपादित किया है, वैसा किसी को इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत नहीं

---

३. (क) तद्धि शब्दब्रह्मनिरंशमिन्द्रियप्रत्यक्षादनुमानात्स्वसंवेदनप्रत्यक्षादागमाद्वा न प्रसिद्धः ···। विद्यानन्दः तत्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय १, तृतीय आह्निक, सू० २०, पृ० २४०।

(ख) तथा हि तत्सद्भावः प्रत्यक्षेण प्रतीयतानुमानेनागमेन वा।

—वादिदेवसूरि : स्याद्वादरत्नाकर, १/७, पृ० ९८

४. (क) यतस्तत्सद्भावः किमिन्द्रियप्रभवप्रत्यक्षतः प्रतीयेत्, अतीन्द्रियात्, स्वसंवेदनाद्वा ?—प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४२

(ख) यदि प्रत्यक्षेण, तत्किमिन्द्रियप्रभवेणातीन्द्रियेण वा। स्या० र०, १/७, पृ० ९८

१. ब्रह्मणो न व्यवस्थानमक्षज्ञानात् कुतश्चन।
स्वप्नादाविव मिथ्यात्वत्तस्य साकल्पतः स्वयम् ॥

—विद्यानन्द : त० श्लो० वा०, १/३, सूत्र २०, कारिका ९७, पृ० २४०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता। सन्मतितर्कप्रकरण[1] टीका में अभयदेवसूरि और प्रमेयकमलमार्तण्ड[2] में प्रभाचन्द्र कहते हैं कि इन्द्रियाँ वर्तमानकालवर्ती, सम्मुखस्थित मूर्तिक (स्थूल) पदार्थों को ही जानती हैं। इन्द्रियजन्य-प्रत्यक्ष सूक्ष्म शब्दब्रह्म नहीं हो सकता। यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष उसका साधक होता तो आज भी उसकी प्रतीति सभी को होनी चाहिये थी, लेकिन किसी को इसकी प्रतीति नहीं होती। अतः सिद्ध है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म का साधक नहीं है।

शब्दब्रह्म का सद्भाव किस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से होता है

इन्द्रिय प्रत्यक्ष को उसका साधक मानने पर प्रभाचन्द्र और वादिदेवसूरि एक यह भी प्रश्न शब्द-अद्वैतवादियों से पूछते हैं कि स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों में से किस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से शब्दब्रह्म का सद्भाव प्रतीत होता है ? दो ही विकल्प हो सकते हैं;[3]

(क) श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से ? अथवा,

(ख) श्रोत्रेन्द्रिय से भिन्न अन्य किसी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से ?

श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म का साधक नहीं है

श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को शब्दब्रह्म का साधक मानना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष केवल शब्द को ही विषय करता है। दूसरे शब्दों में श्रोत्र का विषय शब्द है। अतः शब्द के अतिरिक्त वह अन्य किसी को नहीं जान सकता। यही कारण है कि श्रोत्रेन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष अपने विषय से भिन्न संसार के समस्त पदार्थों में अन्वित रूप से रहने वाले शब्दब्रह्म को जानने में असमर्थ है[4]। अनुमान-प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि शब्दब्रह्म

---

१. न तावत् प्रत्यक्षं तथावस्थितब्रह्मस्वरूपावेदकम् नीलादिव्यतिरेकेण तत्रापरस्य ब्रह्म-स्वरूपस्याप्रतिभासनात्।

—अभयदेवसूरि : सन्मतितर्कप्रकरणटीका, विभाग २, का० ६, पृ० ३८४।

२. न खलु यथोपवर्णितस्वरूपं शब्दब्रह्मस्वरूपं शब्दब्रह्म प्रत्यक्षतः प्रतीयते, सर्वदा प्रति-नियतार्थस्वरूपग्राहकत्वेनैवास्य प्रतीतेः।

—प्रभाचन्द्राचार्य : प्रमेयकमलमार्तण्ड, १/३, पृ० ४५।

तुलना कीजिये—

न तत्प्रत्यक्षतः सिद्धमविभागमभासनात्।

× × ×

—शान्तिरक्षितः तत्वसंग्रह, कारिका, १४७।

३. (क) तथाविधस्य चास्यसद्भावः श्रोत्रभवप्रत्यक्षात्।
इतरेन्द्रियजनितास्प्रत्यक्षाद्वा प्रतीयेत्।

—प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४२।

(ख) वादिदेवसूरि : स्या० र०, १/७, पृ० ९८।

४. – वही –

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। यथा—"जो जिसका विषय नहीं होता, वह उससे अन्वित रहने वाले को कभी भी जानने में समर्थ नहीं हो सकता। जैसे—चक्षु-ज्ञान रसनेन्द्रिय से नहीं जाना जाता। चूंकि समस्त संसार के सभी पदार्थों में अन्वित रूप से रहने वाला शब्दब्रह्म श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, अतः श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष भी उपरिवत् उसका साधक नहीं हो सकता।"[१] श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी यदि शब्द-अद्वैतवादी श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को शब्दब्रह्म का साधक मानेंगे तो समस्त इन्द्रियों से सभी पदार्थों के ज्ञान का प्रसंग आयेगा, जो किसी को मान्य नहीं है। अतः सिद्ध है कि श्रोत्रेन्द्रियजनित प्रत्यक्ष शब्दब्रह्म का साधक नहीं है।

शब्द श्रोत्रेतरेन्द्रिय का विषय नहीं है

श्रोत्रेन्द्रिय-भिन्न इन्द्रिय से जन्य प्रत्यक्ष भी शब्दब्रह्म का साधक नहीं है, क्योंकि शब्द उन इन्द्रियों का विषय नहीं है[२]। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा शब्दब्रह्म की प्रतीति नहीं हो सकती।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भी शब्दब्रह्म का साधक नहीं है

इन्द्रिय प्रत्यक्ष की भाँति अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा भी शब्दब्रह्म की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द-अद्वैतवाद में अतिन्द्रिय प्रत्यक्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती[३]। इसके उत्तर में शब्द-अद्वैतवादियों का कहना है कि अभ्युदय और निःश्रेयस फल वाले धर्म से अनुगृहीत अन्तःकरण वाले योगीजन उस शब्दब्रह्म को देखते हैं। अतः उनके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से शब्दब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। इसके प्रत्युत्तर में प्रभाचन्द्राचार्य एवं वादिदेवसूरि कहते हैं कि ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि शब्दब्रह्म को छोड़कर अन्य कोई परमार्थभूत योगी नहीं है, जो उसे देखता हो। दूसरी बात यह है कि शब्दब्रह्म के अतिरिक्त पारमार्थिक रूप से योगी मानने पर योगी, योग और उससे उत्पन्न प्रत्यक्ष इन तीन तत्त्वों को मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से अद्वैतवाद का अभाव हो जायेगा[४]।

---

१. यद् यदगोचरो न तत्तेनान्वितत्वं कस्यचित् प्रतिपत्तुं समर्थम् यथा चतुर्ज्ञानं रसेन, अगोचरश्च तदाकारनिकटः श्रोत्रज्ञानस्येति।
—न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४२।
(ख) स्या० र०, १/७, पृ० ९८।

२. (क) स्या० र०, ७/६, पृ० ९८।
(ख) न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४२।

३. नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षात्; तस्यैवात्राऽसंभवात्।
(क) प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, पृ० १४२।
(ख) वादिदेवसूरि : स्याद्वादरत्नाकर, १/७, पृ० ९९।

४. – वही –

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक प्रश्न के प्रत्युत्तर में जैन तर्कशास्त्री यह भी कहते हैं कि योग्यावस्था में शब्दब्रह्म स्वयं आत्मज्योतिरूप से प्रकाशित होता है। यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की कल्पना करने पर भी योगावस्था, ज्योतिरूप और स्वयं प्रकाशन इन तीन को सत्ता सिद्ध होने से द्वैत की सिद्धि और अद्वैत का अभाव सिद्ध होता है[1]।

शब्द-अद्वैतवादियों को एक वात यह भी स्पष्ट करनी चाहिए कि योग्यावस्था में आत्मज्योतिरूप से प्रकाशित होने के पूर्व शब्दब्रह्म आत्मज्योतिरूप से प्रकाशित होता है कि नहीं[2] ? यदि शब्दब्रह्म योग्यावस्था के पूर्व आत्मज्योतिरूप से प्रकाशित होता है, यह माना जाय तो समस्त संसारी जीवों को विना प्रयत्न के मोक्ष हो जायेगा, क्योंकि शब्द–अद्वैत–सिद्धान्त में ज्योतिरूप ब्रह्म का प्रकाश हो जाना ही मोक्ष कहा गया है। अयोग्यावस्था में इस प्रकार के ज्योतिस्वरूप ब्रह्म के प्रकाशित हो जाने पर सबका मुक्त हो जाना युक्तिसंगत है। लेकिन ऐसा कभी हो नहीं सकता। अतः सिद्ध है कि योग्यावस्था के पूर्व आत्मज्योति का प्रकाश नहीं होता है[3]।

अव यदि उपर्युक्त दोष से वचने के लिये यह माना जाय कि योग्यावस्था के पूर्व आत्मज्योतिरूप से प्रकाशित नहीं होता है, तो इसका कारण वतलाना चाहिये कि वह क्यों नहीं प्रकाशित होता ? यहाँ भी विकल्प होते हैं कि क्या वह शब्दब्रह्म है कि नहीं[4] ? यदि शब्द-अद्वैतवादी यह मानें कि वह अयोग्यावस्था में नहीं रहता, तो उसे नित्य नहीं मानना चाहिये, क्योंकि वह कभी होता है और कभी नहीं होता। यह नियम है कि जो कदाचित् अर्थात् कभी-कभी होता है, वह नित्य नहीं होता, जैसे—अविद्या। ज्योतिस्वरूप ब्रह्म भी अविद्या की तरह कभी-कभी होता है अर्थात् योग्यावस्था में होता है और अयोग्यावस्था में नहीं होता। अतः वह भी अविद्या की तरह अनित्य है। इस प्रकार ब्रह्म और अविद्या का द्वैत भी सिद्ध होता है। अतः शब्द-अद्वैत-सिद्धान्त खण्डित हो जाता है[5]।

अब यदि यह माना जाय कि अयोग्यावस्था में शब्दब्रह्म आत्मज्योतिरूप से प्रकाशित नहीं होता, फिर भी वह है, तो अभयदेवसूरि की भाँति न्यायकुमुदचन्द्र में प्रभाचन्द्र और

---

१. – वही –

२. (क) किं च, योग्यावस्थायां तस्य तद्रूपप्रकाशनेन ततः प्राक् तद्रूपं प्रकाशते न वा?
(ख) अभयदेव सूरि : सन्मतितर्कप्रकरण टीका, तृतीय काण्ड, पृ० ३८५।
(ग) तत्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ७४।

३. (क) तत्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ७४।
(ख) सन्मतितर्कप्रकरणटीका, तृतीय काण्ड, पृ० ३८५।

४. अथ न प्रकाशते, तदा तत्किमस्ति, न वा?
—प्रभाचन्द्र, न्या० कु० च०, पृ० १४२

५. —वही—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्याद्वादरत्नाकर में वादिदेव प्रश्न करते हैं—शब्द-अद्वैतसिद्धान्ती बतायें कि शब्दब्रह्म होने पर भी क्यों नहीं प्रकाशित होता ? यहाँ भी दो विकल्प हो सकते हैं [1] :

(क) ग्राहक का अभाव होने से वह प्रकाशित नहीं होता ? अथवा,

(ख) अविद्या के अभिभूत होने से ?

यह मानना ठीक नहीं है कि ग्राहक (ज्ञान) का अभाव होने से वह प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि शब्द-अद्वैत-सिद्धान्त में शब्द-ब्रह्म ही ग्राहक रूप है और ग्राहकत्व शक्ति उसमें सदैव रहती है। तात्पर्य यह है कि शब्दब्रह्म में ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं—ऐसा शब्द-अद्वैतवादी मानते हैं। इसलिये जैन तर्कशास्त्रियों का कहना है कि जब शब्दब्रह्म में ग्राहकत्व शक्ति सदैव विद्यमान रहती है, तो उसे अयोग्यावस्था में प्रकाशित होना चाहिये [2]। अतः शब्द-अद्वैतवादियों का यह तर्क ठीक नहीं है कि ग्राहक (ज्ञान) का अभाव होने से वह प्रकाशित नहीं होता।

अविद्या से अभिभूत होने से ब्रह्म होते हुए भी अयोग्यावस्था में वह प्रकाशित नहीं होता—यह विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि विचार करने पर अविद्या का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में विशुद्ध रूप से अविद्या पर विचार कर उसका निराकरण किया है। वे प्रश्न करते हैं कि अविद्या ब्रह्म से भिन्न है कि अभिन्न [3] ? यदि अविद्या ब्रह्म से भिन्न है, तो जिज्ञासा होती है कि वह वस्तु (वास्तविक) है अथवा अवस्तु [4] (अवास्तविक) ? स्याद्वादरत्नाकर और शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका में भी इसी शैली के अनुसार अविद्या का निराकरण किया गया है।

अविद्या वस्तु नहीं हो सकती

शब्दब्रह्म से भिन्न मानकर अविद्या को अवस्तु नहीं माना जा सकता, क्योंकि अवस्तु वही होती है, जो अर्थक्रियाकारी न हो। अविद्या शब्दब्रह्म की भाँति अर्थक्रियाकारी है, इसलिए उसे अवस्तु नहीं माना जा सकता। यदि अर्थक्रियाकारी होने पर भी उसे अवस्तु

---

१. (क) अथास्ति कस्मान्न प्रकाशते—ग्राहकाभावात् अविद्याभिभूतत्वाद्वा ?
—प्रभाचन्द्र (न्या०कु०च०), १/५, पृ० १४२

(ख) वादिदेवसूरि—१/७, पृ० ९९।

२. ···· ब्राह्मण एव तद्ग्राहकत्वात्, तस्य च नित्यतया सदा सत्वात्।
—वादिदेवसूरि, १/७, पृ० ९९

३. (क) सा हि ब्रह्मणो व्यतिरिक्ता, अव्यतिरिक्ता वा ?
—प्रभाचन्द्र : न्यायकुमुदचन्द्र, १/५, पृ० १४२

(ख) सा हि शब्दब्रह्मणः सकाशाद्भिन्ना भवेदभिन्ना वा।
—वादिदेवसूरि, स्या०र०, २/७, पृ० ९९

(ग) यशोविजय : शा०वा०स०टी०, पृ० २३७।

४. —वही—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माना जाता है, तो शब्दब्रह्म को भी अवस्तु मानना पड़ेगा। प्रभाचन्द्र के मतानुसार अर्थ-क्रियाकारी होने पर उसे अवस्तु कहा जाता है, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि अवस्तु अर्थ-क्रिया का दूसरा नाम है [1]।

अविद्या को अर्थक्रियाकारी न मानने से एक दोष यह भी आता है कि वह वस्तु रूप न हो सकेगी और ऐसा न होने पर शब्द-अद्वैतवादियों का यह कथन 'अविद्या कलुषत्व की तरह हो जाती है' नहीं वन सकेगा [2]।

अविद्या के अवस्तु होने पर एक दोष यह भी आता है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में समानता नहीं रहती, क्योंकि आकाश में असत् (मिथ्या) प्रतिभास का कारणभूत अन्धकार (तिमिर) वस्तुरूप है और अविद्या अवस्तुरूप। जब अविद्या अवस्तु है, तो वह विचित्र प्रतिभास का कारण कैसे बन सकती है। एक स्वभाव वाली दो वस्तुओं में दृष्टान्त और दार्ष्टान्त वन सकता है। वास्तविक और अवास्तविक पदार्थों में दृष्टान्त और दार्ष्टान्त नहीं वन सकता[3]।

अतः शब्द-अद्वैतवादियों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि 'जिस प्रकार तिमिर से उपहृत जन विशुद्ध-आकाश को नाना प्रकार को रेखाओं से व्याप्त मान लेता है, उसी प्रकार यह अनादि-निधन-शब्दब्रह्म निर्मल और निर्विकार है, किन्तु अविद्या के कारण (अविद्यारूपी तिमिर से उपहत नर) उसे घट-पटादि कार्य के भेद में प्रादुर्भाव और विनाशवाला अर्थात् भेद-रूप में देखता है।"

शब्दब्रह्म से भिन्न अवस्तुस्वरूप अविद्या के वशीभूत होकर नित्य, अनाधेय और अतिशय रूप शब्दब्रह्म भेदरूप से प्रतिभासित होता है, यह कथन भी तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि अवस्तु के वशीभूत होकर वस्तु अन्य रूप नहीं हो सकती [4]। प्रभाचन्द्र, अभयदेव [5] और

---

१. तत्कारित्वेऽप्यस्या अवस्तु इति नामान्तरकरणे नाममात्रमिव भिद्येत्।
—न्या०कु०च०, १/५, पृ० १४३

२. (क) कथमेवम् 'अविद्यया कलुषत्वमिवापन्नम्' इत्यादि वचो घटेत ?
—न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४३।

(ख) स्या० र०, १/७, पृ० ९९।

३. (क) प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४५।
(ख) प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४३।
(ग) वादिदेवसूरि : स्या० र०, १/५, पृ० ९९।

४. न चा लाधेपा प्रहेयातिशयस्य ब्रह्मणः तद्वशात् तथाप्रतिभासो मुक्तोतिप्रसङ्गात नाप्यवस्तुवशाद् वस्पुनोन्यथाभावो भवति, अतिप्रसङ्गाच्च।
—प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, पृ० १४३।

५. न च • • • • ब्रह्मणि तस्या अकिञ्चित्करत्वात् • • • •।
—सन्मति तर्क प्र० टीका, तृतीय विभाग, पृ० ३८५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और वादिदेव[1] की भाँति 'तत्वसंग्रह' के टीकाकार कमलशील[2] ने भी यही कहा है। इस प्रकार अविद्या को अवस्तु मानना न्यायसंगत नहीं है।

शब्द-ब्रह्म से भिन्न अविद्या को वस्तु मानना भीं अतर्कसंगत है

दोषों के कारण शब्द-ब्रह्मवादियों का यह अभिमत कि अविद्या वस्तु रूप है, तर्कशील नहीं है; क्योंकि अविद्या को वस्तु मानने पर शब्द-अद्वैत मत में निम्नांकित दोष आते हैं—

१. पहला दोष यह आता है कि स्वीकृत सिद्धान्त का विनाश हो जायेगा,[3] क्योंकि अविद्या और ब्रह्म दो की सत्ता सिद्ध हो जायेगी।

२. दूसरा दोष यह है कि शब्द-ब्रह्म की भाँति अविद्या भी वस्तु रूप है, अतः दो तत्वों के सिद्ध हो जाने से द्वैत की सिद्धि और अद्वैत का अभाव हो जायेगा[4]। अतः अविद्या को ब्रह्म से भिन्न मानना ठीक नहीं है।

अविद्या को शब्द-ब्रह्म से अभिन्न मानने में दोष

अविद्या शब्द-ब्रह्म से भिन्न नहीं है; यह सिद्ध हो जाने पर शब्द-अद्वैतवादी उसे शब्द-ब्रह्म से अभिन्न नहीं मान सकते; क्योंकि ऐसा मानने से या तो अविद्या की तरह ब्रह्म असत्य हो जायेगा या ब्रह्म की तरह अविद्या सत्य हो जायेगी[5]।

उपर्युक्त दोनों विकल्प युक्तियुक्त नहीं हैं। क्योंकि अविद्या की तरह ब्रह्म के मिथ्यात्व रूप हो जाने से शब्द-अद्वैतवाद में कोई तत्व पारमार्थिक सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः यदि ब्रह्म की भाँति अविद्या शब्द-ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण सत्य रूप मान ली जाय तो अविद्या मिथ्याप्रतीति का कारण कैसे मानी जा सकती है? क्योंकि यह अनुमान प्रमाण से सिद्ध है कि जो सत्य रूप होता है, वह मिथ्याप्रतीति का हेतु नहीं होता, जैसे—ब्रह्म से अभिन्न अविद्या भी सत्य होने से मिथ्याप्रतीति का कारण नहीं हो सकती। अतः अविद्या को शब्दब्रह्म से अभिन्न मानना भी ठीक नहीं है।

यहाँ एक बात यह भी है कि घोड़े के सींग की तरह अविद्या अवस्तु अर्थात् असत् होने से शब्दब्रह्म से बलशाली नहीं है। जो बलशाली होता है, वही निर्बल के स्वभाव को ढक लेता

---

१. न ... शब्दब्रह्मणोऽविद्यासामर्थ्याद्भेदेन प्रतिभासो ज्यायान्। अति प्रसक्ते ...।
—स्या० र०, पृ० ९९–१००।

२. अथ ... ब्रह्मणः सा न किञ्चित् करोतिति न युक्तमविद्यावशात् तथा प्रतिभासनम्
—त० सं० पञ्जिका, का० १५१, पृ० ९५।

३. (क) अथ वस्तु; तन्न; अभ्युपगमक्षतिप्रसक्तेः —न्या० कु० च०, १/५ पृष्ठ १४१।
(ख) स्या० र०, १/७, पृष्ठ १००।

४. वही।

५. (क) द्रष्टव्य (क) न्या० कु० च०, १/५, पृष्ठ १४३।
(ख) स्या० र०, १/७, पृष्ठ १००।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। न कि निर्बल बलशाली के स्वभाव को, जैसे—सूर्य तारों के स्वभाव का अभिभव कर देता है। इस अनुमान से सिद्ध है कि अविचारणीय स्वभाव वाली अविद्या से शब्दब्रह्म के स्वभाव का अभिभव नहीं हो सकता[1]।

एवंविध सिद्ध होता है कि शब्द ब्रह्म के असत्य होने से अयोगी अवस्था में आत्म-ज्योतिस्वरूप शब्दब्रह्म अप्रकाशित रहता है। अविद्या के अभिभूत होने से नहीं। अयोगीदशा में शब्दब्रह्म के असत् सिद्ध होने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि योगी अवस्था में उसका अस्तित्व नहीं रहता। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष की भाँति अनीन्द्रिय प्रत्यक्ष से भी उस शब्दब्रह्म की सत्ता सिद्ध नहीं होती[2]।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी शब्दब्रह्म का सद्भाव सिद्ध नहीं होता

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी शब्दब्रह्म का सद्भाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि आ० विद्यानन्द कहते हैं[3] कि पहली बात यह है कि शब्द-अद्वैतवादियों ने बौद्धों द्वारा मान्य क्षणिक और निरंश ज्ञान की स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्धि नहीं हो सकती, तो शब्दब्रह्म की सिद्धि उससे कैसे हो सकती है ?

दूसरी बात यह है कि मुक्तिरहित वचनमात्र से शब्दब्रह्म की सत्ता मान लेना भी युक्तियुक्त नहीं है। अन्यथा अश्व-विषाण आदि असत् पदार्थों का सद्भाव सिद्ध हो जायेगा।

प्रभाचन्द्राचार्य ने भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा शब्दब्रह्म की प्रतीति का निराकरण करते हुए कहा है कि स्वप्न में भी आत्मज्योति स्वभाव शब्दब्रह्म की प्रतीति स्वसंवेदन के द्वारा नहीं हो सकती। यदि स्वसंवेदन में उसकी प्रतीति होने लगे; तो बिना प्रयत्न किये समस्त प्राणियों को मोक्ष हो जायगा। क्योंकि, शब्द-अद्वैत-सिद्धान्त में यह माना गया है कि आत्म-ज्योति स्वभाव शब्दब्रह्म का स्वसंवेदन होना मोक्ष है[4]। अभयदेव सूरि और कमलशील ने

---

१. वही।

२. (क) स्या० र० १/७, पृ० १००।

(ख) न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४३।

३. स्वतः संवेदनात्सिद्धिः क्षणिकानंशवित्तिवत्।
न परब्रह्मणो नापि सा युक्ता साधनाद्विना॥
—त० श्लो० वा०, १/३, सू० २०, श्लोक ९, पृ० २४०।

४. ···आत्मज्योतिः स्वभावस्यास्य स्वप्नेऽपि संवेदनाऽगोचरत्वात्, तद्गोचरत्वे वा अनुपायसिद्ध एव अखिलप्राणीनां मोक्षः स्यात्तु, तथाविधस्य हि शब्दब्रह्मणः स्वसंवेदनं यत् तदेव मोक्षो भवतामभिमतः।
—प्रभाचन्द्र, न्या० कु० च०, १/५ पृ० १४३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी स्वसंवेदन को विरुद्ध बताकर उसका निराकरण किया है[1]। एक अन्य बात यह है कि घटादि शब्द और पदार्थ स्वसंविदित स्वभाव वाले नहीं हैं, इसके विपरीत सभी लोगों को अस्वसंविदित रूप ही प्रतीत होते हैं[2]। तात्पर्य यह है कि घट-पटादिक शब्द और पदार्थ शब्दब्रह्म की पर्याय हैं और शब्द-अद्वैतवादी शब्दब्रह्म को स्वसंविदित रूप मानते हैं। जैन तर्कशास्त्रियों का कथन है कि शब्दब्रह्म की भाँति घटादि शब्द और पदार्थ स्वसंविदित रूप होने चाहिए, क्योंकि वे उसी शब्दब्रह्म के विवर्त हैं। ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती; सभी को घटादि पदार्थ अस्वसंविदित रूप ही प्रतीत होते हैं। इससे सिद्ध है कि शब्दब्रह्म भी स्वसंविदित रूप नहीं है और प्रत्यक्ष प्रमाण से इसकी प्रतीति किसी को नहीं होती।

अनुमानप्रमाण भी शब्दब्रह्म का साधक नहीं है

अनुमान प्रमाण भी शब्दब्रह्म का साधक नहीं है, क्योंकि ऐसा अनुमान नहीं है, जो शब्दब्रह्म की सिद्धि करता है[3]। दूसरी बात यह है कि शब्द-अद्वैतवादियों को अनुमान प्रमाण मान्य नहीं हैं। आचार्य विद्यानन्द कहते हैं[4] कि शब्द-अद्वैतवादियों ने अनुमान के द्वारा अर्थों की प्रतीति को दुर्लभ माना है। उनका मत है कि जिस समय व्याप्ति का ग्रहण होता है, उसी समय सामान्य रूप से अनुमेय का ज्ञान हो जाता है। अनुमान काल में पुनः उसे सामान्यरूप से जानने पर सिद्ध-साधन दोष आता है। विशेष रूप से अनुमेय जानने के लिए हेतु का अनुगम गृहीत नहीं होता। अतः अनुमान से अर्थ-प्रतीति जब शब्द-अद्वैत-सिद्धान्त में मान्य नहीं है, तो उससे शब्दब्रह्म की सिद्धि कैसे कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते।

---

१. अथ ज्ञानरूपवत् स्वसंवेदनस्याध्यक्षत एव शब्दब्रह्म सिद्धम् ···असदेतत्; स्वसंवेदन-विरुद्धत्वात् तथाहि अन्यत्र गतचित्तोऽपि रूपं चक्षुषा वीक्षमाणोऽभिलापासंसृष्टमेव नीलादिप्रत्ययमनुभवतीति ····।

अभयदेवसूरि : सन्मतितर्कप्रकरणटीका, तृतीय विभाग, गा० ६, पृ० ३७४।

तुलना करें— ···तथा हि ज्योतिस्तदेव शब्दात्मकत्वाच्चैतन्यरूपत्वाच्चेति? तदेतत् स्वसंवेदनविरुद्धम्। तथाहि अन्यत्र गतमानसोऽपि चक्षुषा रूपमक्षिमाणो-ऽनादिष्टाभिलापमेव नीलादिप्रत्ययमनुभवतीति।

—कमलशील : त० सं० टीका, मृ० १४७, पृ० ९२।

२. न च घटादिशब्दोऽर्थो वा स्वसंविदितस्वभावः यतस्तदन्वितत्वं स्वसंवेदनतः सिद्धयेत्, अस्वसंविदितस्वभावतयैवास्य प्रतिप्राणिप्रसिद्धत्वात्।

—न्या० कु० च०, १/५ पृ० १४४।

३. नाप्यनुमानेन, तस्य तत्सद्भावावेदकस्य कस्यचिदसम्भवात्।

—वादिदेव सूरि : स्या० र०, १/७, पृ० १००

४. नानुमानात्ततोऽर्थानां प्रतीतेर्दुर्लभत्वतः।
परप्रसिद्धिरप्यस्य प्रसिद्धा नाप्रामाणिका॥

—त० श्लो० वा० १/३, सूत्र २०, श्लोक ९७ पृष्ठ २४०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब यदि शब्द-अद्वैतवादियों का यह अभिमत हो कि अन्य सिद्धान्तों से मान्य अनुमान-प्रमाण से शब्दब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। तो इनके प्रत्युत्तर में आचार्य विद्यानन्द का कथन है कि परवादियों की अनुमान प्रक्रिया शब्द-अद्वैतवादियों के लिए प्रामाणिक नहीं है।

अभयदेव सूरि, प्रभाचन्द्र और तत्वसंग्रह के टीकाकारों ने विशद रूप से शब्द-अद्वैतवादियों की इस युक्ति का खण्डन करके सिद्ध किया है कि अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण की भाँति शब्दब्रह्म का साधक नहीं है। विकल्प प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि अनुपलब्धि लिंग वाले अनुमान को विधिसाधक नहीं माना गया है। अतः शब्द-अद्वैतवादियों को बताना चाहिए कि वे किस अनुमान को ब्रह्म का साधक मानते हैं।[1]

कार्यलिंग वाले अनुमान को ? अथवा स्वभाव आदि लिंग वाले अनुमान को ? कार्यलिंग वाले अनुमान को शब्दब्रह्म का साधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि नित्य-एक-स्वभाव वाले शब्दब्रह्म से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह न तो क्रम से कार्य की निष्पत्ति (अर्थक्रिया) कर सकता है और न युगपत् (एक साथ)[2]। जब उसका कोई कार्य नहीं है, तो उसके साधक अनुमान का हेतु किसे बनाया जाय ? अर्थात् कार्य के अभाव में कार्यलिंग वाले अनुमान से शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती।

स्वभावलिंग वाला अनुमान भी शब्दब्रह्म का साधक नहीं है, क्योंकि धर्मी रूप शब्द-ब्रह्म के सिद्ध होने पर ही उसके स्वभाव (स्वरूप) भूत धर्म वाले अनुमान से उसका अस्तित्व सिद्ध करना तर्कसंगत होता है। लेकिन जब शब्दब्रह्म नामक धर्मी ही असिद्ध है, तो उसका स्वभावलिंग भी असिद्ध होगा। अतः स्वभावलिंग वाला अनुमान शब्दब्रह्म का साधक ही नहीं हो सकता।[3] कार्य और स्वभावलिंग को छोड़कर अन्य कोई ऐसा हेतु ही नहीं है, जो शब्द-ब्रह्म का साधक हो।

---

१. (क) नाप्यनुमानतस्तत्सिद्धिः यतोऽनुमानं कार्यलिंगजम् स्वभावहेतुप्रभवं वा तत्सिद्धये व्याप्रियते ?—अभयदेवसूरि : सं०त०प्र०टी०, तृ०वि, गा० ६, पृष्ठ ३८४।

(ख) ···, अनुमानं हि कार्यलिङ्गं वा भवेत् स्वाभावादिलिङ्गं वा ?

—प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, पृष्ठ ४५।

(ग) नाप्यनुमानतः। तथा ह्यनुमानं भवत्कार्यलिङ्गं भवेत् स्वभावलिङ्गं वा ?

—कमलशील : त० सं० पञ्जिका टीका, कारिका १४७-१४८, पृष्ठ ९२-९३।

२. (क) नाप्यनुमानतस्तत्सिद्धि ······ तत्सिद्धये व्याप्रियते ?

—अभयदेवसूरि : सं० त० प्र० टी०, तृ० वि० गा० ६, ३८४।

(ख) ···· अनुमानं हि ····· भवेत् स्वाभावादि लिङ्गं वा ?

—प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, पृष्ठ ४५।

(ग) नाप्यनुमानतः ···· स्वभावलिङ्गं वा ?

—कमलशील : त० स० पंजिका, टीकाकारिका १४७-४८, पृष्ठ ९२-९३।

३. वही।

तुलना करें—

धर्मिसत्वाप्रसिद्धेस्तु, न स्वभावः प्रसाधकः।—त० सं०, कारिका १४८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि शब्द-अद्वैतवादियों का यह अनुमान भी ठीक नहीं है कि जो जिस आकार से अनुस्यूत होते हैं, वे उसी स्वरूप (तन्मय) के ही होते हैं। जैसे घट, शराव, उदंचन आदि मिट्टी के आकार से अनुगत होने के कारण वे मिट्टी के स्वभाव वाले हैं और सब पदार्थ शब्दाकार से अनुस्यूत हैं, अतः शब्दमय हैं। इस कथन के ठीक न होने का कारण यह है कि पदार्थ का शब्दाकर से अन्वित होना असिद्ध है[1]। शब्द-अद्वैतवादियों का यह कथन तभी सत्य माना जाता, जब नील आदि पदार्थों को जानने की इच्छा करने वाला (प्रतिपत्ता) व्यक्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से जानकर उन पदार्थों को शब्दसहित जानता। किन्तु, ऐसा नहीं होता, इसके विपरीत वह उन पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से शब्दरहित ही जानता है।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि पदार्थों का स्वरूप शब्दों से अन्वित न होने पर भी शब्द-अद्वैतवादियों ने अपनी कल्पना से मान लिया है कि पदार्थों में शब्द अन्वितत्व है। इसलिए भी उनकी मान्यता असिद्ध है। तात्पर्य यह है कि 'शब्दान्वितत्व' रूप हेतु कल्पित होने से शब्दब्रह्म की सिद्धि के लिये दिये गये अनुमान प्रमाण से शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होती[2]।

घटादि रूप दृष्टान्त साध्य और साधन से रहित है

शब्दब्रह्म की सिद्धि हेतु प्रयोज्य अनुमान भी घंटादि रूप दृष्टान्त में साध्य और साधन के न होने से निर्दोष नहीं है। क्योंकि, घटादि में सर्वथा एकमयत्व और एकान्वितत्व सिद्ध नहीं है[3]। समान और असमान रूप से परिणत होनेवाले सभी पदार्थ परमार्थतः एकरूपता से अन्वित नहीं है[4]। इसलिये सिद्ध है कि अनुमान प्रमाण शब्दब्रह्म का साधक नहीं है।

आगम प्रमाण से शब्दब्रह्म की सिद्धि सम्भव नहीं है

आगम प्रमाण से शब्दब्रह्म की सिद्धि तर्कसंगत नहीं है। एतदर्थ विद्यानन्द कहते हैं कि यदि शब्द-अद्वैतवादी जिस आगम से शब्दब्रह्म की सिद्धि मानेंगे, तो उसी आगम से भेद की सिद्धि भी क्यों नहीं मानेंगे[5]? इस प्रकार आगम शब्दब्रह्म का साधक नहीं है।

---

१. ••• तदप्युक्तिमात्रम् : शब्दाकारान्वितत्वस्यासिद्धेः
(क) न्या० कु० च०, १/५, पृष्ठ १४५।
(ख) प्र० क० मा०, १/३, पृष्ठ ४६।
२. कल्पितत्वाच्चास्याऽसिद्धिः। —वही—
तुलना के लिये द्रष्टव्य त०सं०टीका, पृ० ९१।
३. साध्यसाधनविकलश्च दृष्टान्तो •••।—वही।
४. (क) न खलु भावानां परमार्थेनैकरूपानुगमोऽस्ति।—वही।
(ख) सं०त०प्र० टीका, पृ० ३८३।
५. आगमादेव तत्सिद्धो भेदसिद्धिस्तथा न किम् ॥
× ×
—त० श्लो० वा०, १/३, सूत्र २०, श्लोक ९९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्बाध आगम प्रमाणान्तर से सिद्ध नहीं है

शब्द-अद्वैतवादियों का यह कहना कि निर्बाध (बाधारहित) आगम से शब्दब्रह्म की सिद्धि होती है, ठीक नहीं है। अनुमान, तर्क आदि प्रमाणों के द्वारा उसकी निर्बाधता सिद्ध होने पर ही तर्कशास्त्री उसे निर्बाध आगम मान सकते हैं, लेकिन प्रमाणों से उसकी निर्बाधता सिद्ध नहीं होती। अनुमानादि से रहित उस आगम की निर्बाधता तर्कशास्त्रियों को मान्य नहीं है[1]।

शब्दब्रह्म से भिन्न आगम नहीं है

विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिदेव सूरि विकल्प प्रस्तुत करते हुए पूछते हैं कि शब्दब्रह्म से आगम भिन्न है अथवा अभिन्न[2] ? शब्द-अद्वैतवाद में शब्दब्रह्म से भिन्न को आगम नहीं माना गया है। जब वह आगम उससे भिन्न नहीं है, तो उससे शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती[3]। आगम को ब्रह्म से भिन्न मानने पर द्वैत की सिद्धि हो जायेगी[4]।

उपर्युक्त दोष से बचने के लिये शब्द-अद्वैतवादी यह युक्ति दें कि आगम शब्दब्रह्म का विवर्त है, अतः उससे उसकी सिद्धि हो जायेगी। इसके उत्तर में विद्यानन्द का कथन है कि ऐसा मानने पर आगम अविद्या स्वरूप सिद्ध हुआ। जो अविद्या स्वरूप है, वह अविद्या की तरह अवस्तु अर्थात् असत् सिद्ध हुआ। अतः अवस्तुरूप आगम वस्तुभूत ब्रह्म का साधक नहीं हो सकता[5]।

आगम को शब्दब्रह्म से अभिन्न मानने में दोष

अब यदि शब्द-अद्वैतसिद्धान्ती माने कि आगम शब्दब्रह्म से अभिन्न है, तो यह भी ठीक

---

१. निर्बाधादेव चेत्तत्वं न प्रमाणान्तराद्दते ॥
तदागमस्य निश्चेतुं शक्यं जातु परीक्षकैः ।
× ×
—वही, श्लोक ९९–१००।

२. (क) त० श्लो० वा०, १/३, सू० २०, श्लोक १०, पृ० २४१ ।
(ख) प्र० क० मा०, ४/३, पृ० ४६।
(ग) स्या० र०, १/७, पृ० १०१–१०२ ।

३. न चागमस्ततो भिन्नसमस्ति परमार्थतः ॥
—त० श्लो० वा०, १/३, सूत्र २०, श्लोक १००।

४. (क) • • •, ब्रह्मणोर्थानन्तरभावे—द्वैतप्रसंगात् ।
—प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, ४६ ।
(ख) वादिदेवसूरि : स्या० र०, १/७, पृ० १०१ ।

५. तद्विवर्तस्त्वविद्यात्मा तस्य प्रज्ञापकः कथं ।
—त० श्लो० वा०, १/३, सूत्र २०, श्लोक १०१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं है, क्योंकि आगम को ब्रह्म से अभिन्न मानने पर तद्वत् आगम भी असिद्ध हो जायेगा[1]। इस प्रकार सिद्ध है कि आगम प्रमाण भी शब्दब्रह्म का साधक नहीं है।

आगम को शब्दब्रह्म का साधक मानने से परस्पराश्रय नामक दोष भी आता है, क्योंकि ब्रह्म का अस्तित्व हो तो आगम सिद्ध हो और आगम हो तो उससे ब्रह्म की सिद्धि हो। इस प्रकार सिद्ध है कि आगम और शब्दब्रह्म दोनों की सिद्धि परस्पर आश्रित हैं। अतः प्रत्यक्ष अनुमान की भाँति आगम-प्रमाण से भी शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होती। इन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण ऐसा नहीं है, जिससे उसकी सिद्धि हो सके। प्रमाणों के द्वारा सिद्ध न होने पर भी यदि किसी पदार्थ को सिद्धमान लिया जाए, तो वह तार्किकों के समक्ष जल के बुलबुले के समान अधिक समय तक स्थित नहीं रह सकेगा।[2] तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थ की सिद्धि प्रमाणों से नहीं होती, वह तर्कशास्त्रियों को मान्य नहीं होता। शब्दब्रह्म भी किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। इसलिए उसका अस्तित्व नहीं है।

जगत् शब्दमय नहीं

शब्द-अद्वैतवादी सम्पूर्ण जगत् को शब्दमय मानते हैं। उनका यह मत तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि जब उस पर विचार किया जाता है, तो तार्किक रूप से वह शब्दमय सिद्ध नहीं होता। सन्मतितर्क-प्रकरण के टीकाकार अभयदेव सूरि, प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के प्रणेता प्रभाचन्द्र और स्याद्वादरत्नाकरकार वादिदेवसूरि ने गम्भीरतापूर्वक विचार कर यह सिद्ध किया है कि जगत् शब्दमय नहीं है। तत्वसंग्रह और उसकी पंजिका टीका में भी जैन आचार्यों की भाँति तार्किक रूप से जगत् के शब्दमय होने का निराकरण किया गया है।

उपर्युक्त आचार्य कहते हैं कि यदि सम्पूर्ण जगत् शब्दमय है तो शब्द-अद्वैतवादियों को बताना होगा कि जगत् शब्दमय क्यों है ? क्या इसलिए उसे शब्दमय माना जाता है कि जगत् शब्द का परिणाम है या इसलिए कि वह शब्द का परिणाम है या इसलिए कि वह शब्द से उत्पन्न हुआ है ? इन दो विकल्पों के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है, जिससे जगत् को शब्दमय सिद्ध किया जा सके।

---

१. (क) अनर्थान्तरभावे तु तद्वदागमस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गः।

—प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४६।

(ख) स्या० र०, १/७, पृ० १०२।

२. न चाविनिश्चिते तत्त्वे फेनबुद्बुद्वद्भिदा।

—त० श्लो० वा०, १/३, सू० २०. का० १०१।

३. किमत्र जगतः शब्दपरिणामरूपत्वाच्छब्दमयत्वं साध्यते उत शब्दात् तस्योत्पत्तेः शब्दमयत्वं यथा अन्नमयाः प्राणा इति हेतो ....।

(क) सं० त० प्र० टीका, पृष्ठ ३८०-३८१।

(ख) प्र० क० मा०, १/३, पृष्ठ ४३।

(ग) न्या० क० चं०, १/५, पृष्ठ १४५, स्या० र०, पृष्ठ १००,

त० सं० टीका, का० १२६, पृष्ठ ८६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जगत् शब्द का परिणाम नहीं है

उपर्युक्त दो विकल्पों में से शब्द-अद्वैतवादी इस विकल्प को मानें कि जगत् शब्द का परिणाम होने के कारण शब्दमय है, तो उनकी यह मान्यता न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि प्रथमतः निरंश और सर्वथा नित्य शब्दब्रह्म में परिणाम हो ही नहीं सकता[१]। शब्दब्रह्म में जब परिणमन असम्भव है, तो जगत् शब्दब्रह्म का परिणाम कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता।

शब्दब्रह्म परिणमन करते समय अपने स्वाभाविक स्वरूप को छोड़ता है या नहीं ?

शब्दब्रह्म को परिणामी मानने पर प्रश्न होता है कि शब्दात्मक ब्रह्म जब नील आदि पदार्थ रूप से परिणमित होता है, तो वह अपने स्वाभाविक शब्दरूप स्वभाव का त्याग करता है अथवा नहीं[२]। यदि उपर्युक्त विकल्पों में से यह माना जाय कि शब्दब्रह्म परिणमन करते समय अपने स्वाभाविक स्वरूप को छोड़ देता है, तो ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द-ब्रह्म में 'विरोध' नामक दोष आता है। शब्दब्रह्म का स्वरूप अनादिनिधन है, और जब वह अपने पूर्व स्वभाव का त्याग कर जलादि रूप से परिणमन करेगा, तो उसके अनादि-निधनत्व (पूर्व स्वभाव) का विनाश हो जायेगा; जो शब्द-अद्वैतवादियों को अभीष्ट नहीं है। अतः शब्दब्रह्म अपने पूर्व स्वरूप को त्यागकर जलादिरूप से परिणमन करता है, यह विकल्प ठीक नहीं है[३]।

उपर्युक्त दोष से बचने के लिए यह माना जाय कि शब्दब्रह्म अपने स्वाभाविक पूर्व स्वरूप को छोड़े बिना जलादि पदार्थ रूप से परिणमन करता है तो उनकी यह मान्यता भी निर्दोष नहीं है। इस दूसरे विकल्प के मानने पर एक कठिनाई यह आती है कि नीलादि पदार्थ के संवेदन के समय बधिर (जिसे सुनाई नहीं पड़ता है) को शब्द का संवेदन होना

---

१. न तावदाद्यः पक्षः परिणामानुपपत्तेः। — वही —

२. शब्दात्मकं हि ब्रह्म नीलादिरूपतां प्रतिपद्यमानं स्वाभाविकं शब्दरूपं परित्यज्य प्रतिपद्येत्, अपरित्यज्य वा ? — वहीं —

३. (क) प्रथमपक्षे अस्याऽनादिनिधनत्वविरोधः · · · ·।

—अभयदेवसूरि : सं० त० प्र० टी०, पृष्ठ ३८१।

(ख) प्रभाचन्द : प्र० क० मा०, १/३, पृष्ठ ४३।

(ग) प्रभाचन्द्र : न्या० कु० चं०, १/५ पृष्ठ १४६।

(घ) वादिदेवसूरि : स्या० र० १/७ पृष्ठ १००।

(ङ) न चा तथेति यद्याद्यः पक्षः संश्रीयते तदा।
अक्षरत्ववियोगः स्यात् पौरस्त्यात्मविनाशनात्॥

—त० सं० का० १३०, और भी देखें टीका पृष्ठ ८७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिए, क्योंकि वह नील पदार्थ शब्दमय है[1]। अर्थात् नील पदार्थ और नील शब्द अभिन्न हैं। इस बात की पुष्टि अनुमान प्रमाण से भी होती है कि जो जिससे अभिन्न होता है, वह उसका संवेदन होने पर संविदित हो जाता है। जैसे—पदार्थों के नील आदि रंग को जानते समय उससे भिन्न नील पदार्थ भी जान लिया जाता है[2]। शब्द-अद्वैतवादियों के सिद्धान्तानुसार नील-पीत आदि पदार्थ से शब्द अभिन्न है। इसलिए जब बधिर पुरुष नील पदार्थ जानता है, तो उसी समय अर्थात् नील पदार्थ जानते समय उसे शब्द का संवेदन अवश्य होना चाहिये। शब्द-अद्वैतवादी कहते हैं कि शब्द का संवेदन बधिर मनुष्य को नहीं होता, तो प्रभाचन्द्र आदि आचार्य प्रत्युत्तर में कहते हैं कि उसे नीलादि रंग का भी संवेदन नहीं होना चाहिए, क्योंकि नील पदार्थ के साथ जिस प्रकार रंग तादात्म्य रूप से रहता है, उसी प्रकार शब्द का भी उसके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में नील रंग और शब्द दोनों नील पदार्थ से अभिन्न हैं। यदि नील पदार्थ के नीले रंग का अनुभव हो और उससे अभिन्न शब्द का अनुभव बधिर पुरुष को न हो तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक वस्तु में दो विरुद्ध धर्म हैं। दो विरुद्ध धर्मों से युक्त उस शब्दब्रह्म को नील पदार्थ से भिन्न मानना पड़ेगा। एक वस्तु का एक ही समय में एक ही प्रतिपत्ता (ज्ञाता) की अपेक्षा से ग्रहण और अग्रहण मानना ठीक नहीं है। इस प्रकार विरुद्ध धर्माध्यास होने पर भी नीलादि पदार्थ और शब्द में भेद सिद्ध होता है। यदि उनमें भेद न माना जाय तो हिमालय और विन्ध्याचल आदि में भी भेद असम्भव हो जायेगा। शब्द-ब्रह्म अपने पूर्व स्वभाव को छोड़कर नीलादि पदार्थ रूप में परिणमित होता है, ऐसा मानना भी निर्दोष नहीं है। अतः जगत् को शब्दमय मानना ठीक नहीं।

प्रभाचन्द्र वादिदेव सूरि आदि जैन आचार्य शब्द-अद्वैतवादियों से एक प्रश्न यह भी करते हैं कि शब्दब्रह्म उत्पत्ति और विनाश रूप परिणमन करता हुआ प्रत्येक पदार्थ में भिन्न परिणाम को प्राप्त होता है या अभिन्न ?[3] यदि यह माना जाय कि शब्दब्रह्म परिणमन करता हुआ, जितने पदार्थ हैं, उतने ही रूपों में होता है तो शब्द-अद्वैतवादियों का ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दब्रह्म में अनेकता का प्रसंग आता है। जितने स्वभाव वाले विभिन्न पदार्थ हैं, उतने स्वभाव वाला ही शब्दब्रह्म को मानना पड़ेगा।[4] इस दोष से बचने के लिए ऐसा

---

१. ... रूपसंवेदनसमये बधिरस्य शब्दसंवेदनप्रसङ्गः ...। —वही—

२. यत्खलु यदव्यतिरिक्तं तत्तस्मिन्संवेद्यमाने संवेद्यते ..., नीलाद्यव्यतिरिक्तश्च शब्द इति।

—वही—तुलना करें—त० सं० का० १३१, एवं पंजिकाटीका, पृ० ८७।

३. किं च असौ शब्दात्मा परिणामं गच्छन्प्रतिपदार्थभेदं प्रतिपद्यते, न वा ?

(क) प्र० क० मा०, १/३, पृष्ठ ४४।

(ख) न्या० कु० च०, १/५, पृष्ठ १४६।

(ग) स्या० र०, १/७, पृष्ठ १०१।

४. तत्राद्यविकल्पे शब्दब्रह्मणोऽनेकत्वप्रसंगः, विभिन्नानेकस्वभावार्थात्मकत्वात्तत्स्वरूपवत्। —वही—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माना जाय कि शब्दब्रह्म जब अनेक रूप परिणमित होता है, तो वह प्रत्येक पदार्थ में भिन्न परिणाम को प्राप्त नहीं होता अर्थात् अभिन्न रूप से परिणमन करता है। इस सन्दर्भ में प्रभाचन्द्रादि कहते हैं कि यह पक्ष भी निर्दोष नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से नील-पीत आदि पदार्थों में देश-भेद, काल-भेद, स्वभाव-भेद, अवस्था-भेद आदि का अभाव हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि जो एक स्वभाव वाले हैं, वे शब्द-ब्रह्म से अभिन्न हैं। जबकि प्रत्यक्ष रूप से सबको देश-भेद, काल-भेद, स्वभाव-भेद आदि भेदों का अनुभव होता है। अतः ऐसा मानना न्यायसंगत नहीं है कि शब्दब्रह्म परिणमन करता हुआ प्रत्येक पदार्थ में भिन्नता को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार दोनों विकल्प सदोष होने पर यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द का परिणाम होने से जगत् शब्दमय नहीं है।[1]

शब्द से उत्पन्न होने के कारण जगत् शब्दमय नही होता

प्रभाचन्द्र, वादिदेव सूरि आदि जैन तर्कवादी कहते हैं कि शब्द-अद्वैतवादियों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि शब्दब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण जगत् शब्दमय है, क्योंकि उन्होंने शब्दब्रह्म को सर्वथा नित्य माना है। सर्वथा नित्य होने से वह अविकारी है अर्थात् उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। नित्य शब्दब्रह्म से क्रमशः कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[2] अतः सम्पूर्ण कार्यों की एक साथ एक ही समय में उत्पत्ति हो जायेगी, क्योंकि यह नियम है कि समर्थ कारण का अभाव (वैकल्प) होने पर कार्यों की उत्पत्ति में विलम्ब होता है। समर्थ कारण के उपस्थित रहने पर कार्यों की उत्पत्ति में विलम्ब नहीं होता। जब शब्द-ब्रह्म कारण अविकल्प (समर्थ) रूप से विद्यमान है, तब कार्यों को और किसकी अपेक्षा है, जिससे उनकी एक साथ उत्पत्ति न हो[3]। समर्थ कारण के रहने पर अवश्य ही समस्त कार्यों की उत्पत्ति हो जायेगी।

घटादि कार्य-समूह शब्दब्रह्म से भिन्न उत्पन्न होता है या अभिन्न

प्रभाचन्द्राचार्य और वादिदेव सूरि एक प्रश्न यह भी करते हैं कि घट, पटादि कार्य-समूह शब्दब्रह्म से भिन्न उत्पन्न होता है या अभिन्न[4] ? यदि शब्द-अद्वैतवादी इसके उत्तर में यह कहें

१. तन्न शब्दपरिणामत्वाज्जगतः शब्दमयत्वं घटते। वही।

२. (क) प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, १/५, पृष्ठ १४६।
   (ख) प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, पृष्ठ ४४।
   (ग) वादिदेव सूरि : स्या० र०, १/७, पृष्ठ १०१।

३. कारणवैकल्याद्धि कार्याणि विलम्बन्ते नान्यथा। तच्चेदविकलं किमपरं तैरपेक्ष्यं येन युगपन्न भवेयुः ?
   (क) प्र० क० मा०, पृष्ठ ४४।
   (ख) न्या० कु० च०, पृष्ठ १४७।

४. किं च अपरापरकार्यग्रामोऽतोऽर्थान्तरं अनर्थान्तरं वोत्पद्येत ?
   (क) प्र० क० मा०, १/३, पृष्ठ ४४।
   (ख) स्या० र०, १/७, पृष्ठ १०१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि घट, पटादि कार्य-समूह शब्दब्रह्म से भिन्न उत्पन्न होता है, तो प्रत्युत्तर में जैन दार्शनिक कहते हैं कि शब्द-अद्वैतवादी का 'शब्दब्रह्मविवर्तमर्थरूपेण' (शब्दब्रह्म अर्थरूप से परिणमन करता है) यह कथन कैसे बनेगा अर्थात् नहीं बनेगा। शब्दब्रह्म से जब घट-पटादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और वे उनके स्वभाव रूप नहीं हैं, तो यह कहना उचित नहीं है कि घट, पटादि शब्दब्रह्म की पर्याय है।

शब्दब्रह्म से घटादि कार्य भिन्न हैं, तो अद्वैतवाद का विनाश और द्वैतवाद की सिद्धि होती है। क्योंकि, शब्दब्रह्म से भिन्न कार्य की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जाती है[1]। अतः घटादि कार्य समूह शब्दब्रह्म से भिन्न उत्पन्न होता है—यह मान्यता ठीक नहीं है।

घटादि कार्य की शब्दब्रह्म से अभिन्न उत्पत्ति मानने में शब्दब्रह्म में अनादिनिधनत्व का विरोध है

उपर्युक्त दोष से बचने के लिये शब्द-अद्वैतवादी यह मानें कि घटादि कार्य शब्दब्रह्म से अभिन्न रूप होकर उत्पन्न होता है, तो उनकी यह मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर शब्दब्रह्म में अनादिनिधनत्व का विरोध प्राप्त होता है[2]। अर्थात् शब्दब्रह्म में अनादिनिधनता नहीं रहेगी। प्रत्यक्ष में हम देखते हैं कि शब्दब्रह्म से उत्पन्न होनेवाले घटादि कार्य उत्पाद और विनष्ट स्वभाव वाले हैं और शब्दब्रह्म उनसे अभिन्न है। अतः उत्पत्ति और विनाशशील पदार्थों के साथ शब्दब्रह्म की एकता होने के कारण शब्दब्रह्म का एकत्व नष्ट हो जायेगा। अतः घटादि कार्य शब्दब्रह्म से उत्पन्न होकर उससे अभिन्न रूप रहते हैं, ऐसा मानना तर्कहीन है[3]।

इस प्रकार विशुद्ध रूप से विवेचन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पूर्ण जगत् शब्दमय नहीं है।

ज्ञान शब्दानुविद्ध नहीं है

शब्द-अद्वैतवादियों का यह कथन तर्कहीन है कि शब्द के बिना ज्ञान नहीं होता। प्रभाचन्द्राचार्य 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में उनसे प्रश्न करते हैं कि यदि ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व का प्रतिभास होता है अर्थात् ज्ञान शब्दानुविद्ध है, तो इसकी प्रतीति किसको होती है और किस

---

१. वादिदेव सूरि : स्या० र०, १/७, पृ० १०१।

२. (क) —वही—
   (ख) प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४४।

३. अनर्थान्तरभूतस्य तु कार्यग्रामस्योत्पत्तौ शब्दब्रह्मणोऽनादिनिधनत्वविरोधः। तदुत्पत्तौ तस्याप्यनर्थान्तरभूतस्योत्पद्यमानत्वादुत्पन्नस्य चावश्यं विनाशित्वादिति।
   (क) स्या० र०, पृ० १०१।
   (ख) प्र० क० मा०, पृ० ४४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमाण से यह जाना जाता है कि ज्ञान में शब्दानुविद्धता है, प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमान प्रमाण से[1] ?

ज्ञान में शब्दानुविद्धता प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत नहीं होती—'ज्ञान शब्दानुविद्ध है' इसकी प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से मानने पर प्रश्न होता है कि ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व का प्रतिभास किस प्रत्यक्ष से होता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष से अथवा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ?[2]

ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष से ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व का प्रतिभास नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति रूपादि विषयों में होती है। ज्ञान उसका विषय नहीं है।

ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय नहीं है—स्वसंवेदन से भी शब्दानुविद्धत्व का प्रतिभास नहीं होता है, क्योंकि स्वसंवेदन शब्द को विषय नहीं करता। अतः सिद्ध है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध नही होता कि ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व है।

अनुमान प्रमाण से भी ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व की प्रतीति नहीं होती—अब यदि माना जाय कि अनुमान प्रमाण से ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व की प्रतीति होती है, तो ऐसा कहना भी तर्कसंगत नहीं है। अविनाभावी लिंग के होने पर ही अनुमान अपने साध्य का साधक होता है। यहाँ पर कोई ऐसा लिंग नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व है। यदि ऐसा कोई हेतु सम्भव भी हो, तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पक्ष के बाधित हो जाने के कारण प्रयुक्त हेतु वास्तविक कालात्ययापदिष्ट नामक दोष से दूषित हेत्वाभास हो जायेगा। अतः ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध नहीं होता[3]।

जगत् शब्दमय नहीं है, अतः ज्ञान भी शब्दमय नहीं है—शब्द-अद्वैतवादियों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि जगत् के शब्दमय होने से उसके अन्तर्वर्त्ती ज्ञान भी शब्दस्वरूप हो जायेंगे और इस प्रकार ज्ञान में शब्दानुविद्धत्व सिद्ध हो जायेगा। इस कथन के ठीक न होने का कारण यह है कि जगत् में शब्दमयत्व प्रत्यक्षादि से बाधित है[4]। सविकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा पद, वाक्यादि में अनुस्यूत शब्दाकार से भिन्न गिरि, वृक्ष, लता आदि अर्थ स्पष्ट (विशद) रूप से प्रतीत होते हैं।

---

१. तद्धि प्रत्यक्षेण प्रतीयते अनुमानेन वा ?—प्रभाचन्द्र : प्र०क०मा०, १/३, पृ० ३९।

२. प्रत्यक्षेण चेत्किमैन्द्रियेण स्वसंवेदनेन वा ?—वही, १/३, पृ० ३९–४०।

३. अनुमानात्तेषां ······ मनोरथमात्रम्; तदविनाभाविलिंगाभावात्।
—प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, पृष्ठ ४२१।

४, तदप्यनुपपन्नमेव; तत्तन्मयत्वस्याध्यक्षादिवाधित्वात्, ····।
—वही, पृष्ठ ४३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुमान प्रमाण से भी यह सिद्ध हो जाता है कि पदार्थ शब्दरहित हैं, यथा— "जो जिस आकार से पराङ्मुख (पृथक्) होते हैं, वे वास्तव में (परमार्थ से) भिन्न (अतन्मय) होते हैं, जैसे—जल के आकार से रहित (विकल) स्थास, कोश, कुशूलादि वास्तव में तन्मय नहीं हैं, पद, वाक्यादि से भिन्न गिरि, तरु, लतादि वास्तव में शब्दाकार से पराङ्मुख हैं।" इस अनुमान से सिद्ध है कि पदार्थ शब्दरहित हैं[1]। शब्द-अद्वैतवादियों का यह कथन भी तर्कसंगत नहीं है कि जगत् शब्दमय है, इसलिए उसका अन्तर्वर्ती ज्ञान शब्दमय है। ज्ञान में शब्दानुविद्धता (ज्ञान शब्दमय है) प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, अतः शब्द-अद्वैतवादियों की यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि ज्ञान शब्दमय है, इसी कारण से वह पदार्थों को प्रकाशित करता है।

शब्दानुविद्धत्व क्या है ?

शब्द-अद्वैतवादियों ने ज्ञान को शब्दानुविद्ध माना है। अतः प्रभाचन्द्राचार्य उनसे प्रश्न करते हैं कि शब्दानुविद्धत्व क्या है ?

निम्नांकित दो विकल्पों में से किसी एक विकल्प को शब्दानुविद्धत्व माना जा सकता है—

(क) क्या शब्द का प्रतिभास होना (जहाँ पदार्थ है, वहाँ शब्द है, ऐसा प्रतिभास होना) शब्दानुविद्धत्व है ?

(ख) अर्थ और शब्द का तादात्म्य होना ?

उपर्युक्त दोनों विकल्पों में से किसी भी विकल्प को शब्दानुविद्धत्व मानना दोषविहीन नहीं है, अतः शब्दानुविद्धत्व का स्वरूप ही निश्चित नहीं हो सकता।

(क) क्या शब्द का प्रतिभास होना शब्दानुविद्धत्व है

शब्दानुविद्धत्व का यह स्वरूप कि जिस स्थान पर पदार्थ रहते हैं, वहीं पर शब्द रहते हैं—यह मत तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से शब्दरहित पदार्थ की प्रतीति होती है[3]। पदार्थ शब्दानुविद्ध है, ऐसा किसी को कभी भी प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। प्रत्यक्ष में जिस प्रकार सामने स्थित नीलादि प्रतिभासित नहीं होता। शब्द श्रोता के कर्णप्रदेश में प्रतिभासित होता है। इस प्रकार वाच्य (पदार्थ) और वाचक (शब्द) का देश भिन्न-भिन्न होता है। भिन्न देश में उपलब्ध शब्द को अर्थदेश में नही माना जा सकता, अन्यथा अतिप्रसंग नामक दोष आयेगा। अतः अर्थ के अभिन्न देश में शब्द का प्रतिभास होना शब्दानुविद्धत्व नहीं है।

---

१. वही।

२. ननु किमिदं शब्दानुविद्धत्वं नाम—अर्थस्याभिन्नदेशे प्रतिभासः तादात्म्यं वा ?
—प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, पृष्ठ ४०।

३. तत्राद्य विकल्पोऽसमीचीनः, तद्रहितस्यैवार्थस्याध्यक्षप्रतिभासनात्। —वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ख) शब्दानुविद्धत्व का अभिप्राय पदार्थ के साथ शब्द का तादात्म्य मानना ठीक नहीं है

अर्थ और शब्द का तादात्म्य मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हैं, इसलिए उनमें तादात्म्य नहीं है[१]। अनुमान प्रमाण से भी शब्द और अर्थ में तादात्म्य सिद्ध नहीं होता है, यथा—"जिनको विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है, उनमें एकता नहीं रहती, जैसे—रूप चक्षुरिन्द्रिय से जाना जाता है और उस रसनेन्द्रिय से, इसलिए इनमें एकता नहीं है। इसी प्रकार शब्दाकाररहित नीलादिरूप और नीलादिरहित शब्द क्रमशः चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय का विषय होने से उनमें एकता नहीं है अतः अर्थ और शब्द में एकत्व न होने से उनके तादात्म्य को शब्दानुविद्धत्व नहीं माना जा सकता। अनुमान प्रमाण से इस बात का निराकरण हो जाता है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्वन्ध सम्भव नहीं है[२]।

शब्द-अद्वैतवादी कहते हैं कि 'यह रूप है' इस प्रकार के शब्द रूप विशेषण से ही रूपादि अर्थ की प्रतीति होती है। इसी कारण से शब्द और रूपयुक्त पदार्थ में एकत्व माना जाता है। इसके प्रत्युत्तर में प्रभाचन्द्र आचार्य कहते हैं कि शब्द-अद्वैतवादी का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'यह रूप है' इस प्रकार के ज्ञान से वाग्रूपता को प्राप्त (तादात्म्ययुक्त) पदार्थ जाने जाते हैं अथवा यद ज्ञान भिन्न वाग्रूपता विशेषण से युक्त पदार्थों को जानता है[३]? इनमें से किसी भी विकल्प को मानना निर्दोष नहीं है।

यदि यह माना जाय कि जब नेत्रजन्यज्ञान रूप को जानता है, तो उसी समय वाग्रूपता के पदार्थ जाने जाते हैं अर्थात् शब्दरूप पदार्थ है, ऐसा ज्ञान होता है—शब्द-अद्वैतवादी का ऐसा मानना ठीक नहीं है। नेत्रजन्यज्ञान का विषय शब्द (वाग्रूपता) नहीं है। अतः उसमें उसकी प्रवृत्ति उसी प्रकार नहीं होती, जिस प्रकार अविषयी रस में चाक्षुष ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि अपने विषय से भिन्न विषयों को चाक्षुषज्ञान जानने लगे, तो अन्य इन्द्रियों की कल्पना व्यर्थ हो जायेगी क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय ही समस्त विषयों को जान लेगी[४]।

अब यदि माना जाय कि पदार्थ से भिन्न वाग्रूपता है और इस प्रकार के विशेषण से युक्त पदार्थ को चाक्षुषज्ञान जानता है, तो प्रभाचन्द्र कहते हैं कि उनका यह दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्ध अर्थात् केवल रूप को जानने वाला और शब्द को न जानने वाला चाक्षुष-ज्ञान यह नहीं जान सकता कि यह पदार्थ शब्द रूप विशेषण वाला (भिन्न वाक्रूपता विशेषण-

---

१. (क) प्रभाचन्द्र : प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४०।
   (ख) न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४४।
   (ग) वादिदेव सूरि : स्या० र०, १/७, पृ० ९५।
२. वही।
३. ······ रूपमिदमिति ज्ञानेन हि वाग्रूपता प्रतिपन्नाः पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते भिन्नवाग्रूपता विशेषणविशिष्टा या ?—प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४०।
४, प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युक्त विषय के) है[1]। एक बात यह भी है कि जब तक विशेषण को न जाना जाय, तब तक विशेष्य को नहीं जाना जा सकता, जैसे—दण्ड को जाने बिना दण्डी को नहीं जाना जाता। इसी प्रकार जब शब्द रूप विशेषण को चाक्षुषज्ञान से नहीं जाना जाता, तो रूपयुक्त पदार्थ अर्थात् विशेष्य का ज्ञान नहीं हो सकता[2]। ऐसा मानना भी ठीक नहीं है कि दूसरे ज्ञान (श्रोत्रज्ञान) में शब्दविशेषणरूप से प्रतीत होने पर पदार्थ का विशेषण बन जाता है। यहाँ दोष यह है कि शब्द और अर्थ में भेद सिद्ध हो जायेगा;[3] यह पहले ही कहा जा चुका है कि जो-जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा जाने जाते हैं वे पृथक्-पृथक् होते हैं।

प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि शब्द-अद्वैतवादी का यह कथन भी ठीक नहीं है कि शब्द से सम्बद्ध (मिले हुए) पदार्थ का स्मरण होने से उस पदार्थ को शब्द रूप मानते हैं। इस प्रकार शब्द से सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान हो जायेगा। इस मान्यता में अन्योन्याश्रय नामक दोष आता है। तात्पर्य यह है कि शब्द से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होने पर वचन सहित पदार्थ के स्मरण की सिद्धि होगी और वचनसहित पदार्थ के स्मरण होने पर शब्द रूप अर्थ के दर्शन की सिद्धि होगी[4]। इस प्रकार विचार करने पर शब्दानुविद्धता का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता।

अर्थ की अभिधानानुषक्तता क्या है ?

शब्द-अद्वैतवादी से प्रभाचन्द्र आचार्य एक यह भी प्रश्न करते हैं कि निम्नांकित विकल्पों में से पदार्थ की अभिधानानुषक्तता क्या है[5] ?

१. अर्थज्ञान में शब्द का प्रतिभास होना।
२. अर्थ के देश (स्थान) में शब्द का वेदन (अनुभव) होना।
३. अर्थज्ञान के काल में शब्द का प्रतिभास (प्रतीत) होना।

१. अर्थज्ञान में शब्द का प्रतिभास होना अर्थ की अभिधानानुषक्तता नहीं है, क्योंकि नेत्रजन्य ज्ञान में शब्द का प्रतिभास या प्रतीति नहीं होती। २. इसी प्रकार अर्थ की अभिधानानुषक्तता का मतलब अर्थ के देश में शब्द का अनुभव होना नहीं है, क्योंकि शब्द का श्रोत्र-प्रदेश में अनुभव होता है और शब्द से सर्वथा विहीन रूपादि स्वरूप पदार्थ का अपने प्रदेश में अपने विज्ञान से अनुभव होता है। ३. इसी प्रकार अर्थज्ञान के काल में शब्द का प्रतिभास होना भी अर्थ की अभिधानानुषक्तता नहीं है, क्योंकि समान काल में शब्द और अर्थ के होने पर भी समान काल शब्द का लोचनज्ञान में प्रतिभास नहीं होता और भिन्न ज्ञान से जानने पर

---

१. द्वितीयपक्षेऽपि अभिधानेऽप्रवर्तमानं शुद्धरूपमात्रविषयं लोचनविज्ञानं कथं तद्विशिष्टतया स्वविषयमुद्योतयेत् ? वही।
२. वही।
३. ···, तथा सति अनयोर्भेदसिद्धिः। वही।
४. अन्योन्याश्रयानुषंगात् ···। वही, १/३, पृ० ४१।
५. प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द और पदार्थ भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं[1]। इस प्रकार अर्थ की ही अभिधानानुषक्तता सिद्ध होती है।

एक बात यह भी है कि जो यह मानते हैं—प्रत्यक्ष ज्ञान में अभिधानानुषक्त (शब्द-सहित) पदार्थ ही प्रतिभासित होता है, उसके यहाँ बालक आदि को अर्थ के दर्शन की सिद्धि कैसे होगी, क्योंकि बालक मूक आदि शब्द को नहीं जानते[2]। इसी प्रकार मन में 'अश्व' का विचार करने वाले को गो-दर्शन कैसे होगा, क्योंकि उस समय उस व्यक्ति को 'गो' शब्द का उल्लेख नहीं होता। ऐसा मानना भी ठीक नहीं है कि एक साथ अश्व का विचार और गो-दर्शन हो रहे हैं। इस मान्यता में दोनों अर्थात् अश्व का विकल्प और गो-दर्शन असिद्ध हो जायेंगे, क्योंकि संसारी व्यक्ति में एक साथ दो शक्तियाँ नहीं हो सकती[3]।

वैखरी आदि का लक्षण असत्य है

शब्द अद्वैतवादी का यह कथन भी ठीक नहीं है कि ज्ञान में वाग्रूपता शाश्वती है। यदि उसका उल्लंघन किया जायेगा, तो ज्ञानरूप प्रकाशित नहीं हो सकेगा। इस कथन के ठीक न होने का कारण यह है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष में शब्द (वाग्रूपता) का संस्पर्श (संसर्ग) नहीं होता। श्रोत्र से ग्रहण करने योग्य वैखरी (वचनात्मक) वाग्रूपता का भी संस्पर्श चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं करता, क्योंकि वैखरी चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय नहीं हैं। इसी प्रकार अन्तर्जल्पयुक्त मध्यमा वाक् को चाक्षुष-प्रत्यक्ष संस्पर्श नहीं करता, फिर भी (उसके बिना भी) शुद्ध रूपादि का ज्ञान होता है। जिससे समस्त वर्णादि विभाग का संहार हो गया है, ऐसी पश्यन्ती (अर्थ-दर्शनरूपा) और आत्मदर्शनरूपा सूक्ष्मा वाग्रूपता वाणी रूप हो नहीं सकती। शब्द-अद्वैतवाद में पश्यन्ती और सूक्ष्मा को अर्थ एवं आत्मा का साक्षात् (दर्शन) करने वाली माना है। जब उन दोनों में शब्द नहीं है, तो वे वाणी कैसे कहलाएँगी, क्योंकि वाणी वर्ण, पद और वाक्य-रूपा होती है।[4] अतः वागादि का लक्षण ठीक नहीं है।

शब्दब्रह्म में वैखरी आदि अवस्थायें विरुद्ध हैं

आचार्य विद्यानन्द कहते हैं कि नित्य, निरंश और अखण्ड शब्दब्रह्म में वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा ये चार भेद नहीं हो सकते। किसी सांश पदार्थ में ही भेद हो सकता है[5]। वे शब्द अद्वैतवादी से एक यह भी प्रश्न करते हैं कि क्या वैखरी आदि चार अवस्थायें सत्य हैं? सत्य मानने पर उनके सिद्धान्त विरोधी सिद्ध होते हैं, क्योंकि शब्दब्रह्म की तरह वैखरी आदि को सत्य मान लिया गया है, जिससे द्वैत की सिद्धि होती है[6]।

---

१. वही।

२. कथं चैवंवादिनो बालकादेश्यदर्शनसिद्धिः, तत्राभिधाना प्रतीतेः ...।
—प्र० क० मा०, १/३, पृ० ४१।

३. वही।

४. वही।

५. निरंशशब्दब्रह्मणि तथा वक्तुमशक्तेः। त. श्लोक वा. १/३/२०, पृ. २४०।

६. तस्यावस्थानां चतसृणां सत्यत्वेऽद्वैतविरोधात्। वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैखरी आदि अविद्यास्वरूप नहीं है

शब्द-अद्वैतवादी का यह कथन भी सत्य नहीं है कि एकमात्र शब्दब्रह्म सत्य है और वैखरी आदि चार अवस्थाएँ अविद्यास्वरूप होने से असत्य हैं। इस कथन के ठीक न होने का कारण यह है कि निरंश शब्दब्रह्म विद्यास्वरूप सिद्ध है। इसलिए उसकी अवस्थाएँ भी अविद्यास्वरूप न होकर विद्यास्वरूप ही होंगी। इस प्रकार वैखरी आदि को अविद्यास्वरूप मानना तर्कसंगत नहीं है[1]।

अर्थ शब्द से अन्वित है—यह कैसे जाना जाता है ?

प्रभाचन्द्राचार्य न्यायकुमुदचन्द्र में शब्द-अद्वैतवादी से कहते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होने पर अर्थ शब्द से अन्वित है—यह किसी प्रमाण से जाना जाता है या नहीं[2] ? यह तो माना नहीं जा सकता है कि किसी प्रमाण से नहीं जाना जाता है, अन्यथा अतिप्रसंग नामक दोष आयेगा अर्थात् सबके कथन की पुष्टि विना प्रमाण के होने लगेगी। दूसरी बात यह है कि "जो जिससे असम्बद्ध होता है, वह उससे वास्तव में अन्वित नहीं होता, जैसे— हिमालय और विन्ध्याचल पर्वत असम्बद्ध हैं, इसलिए हिमालय से विन्ध्याचल अन्वित नहीं है। इसी प्रकार अर्थ से शब्द भी असम्बद्ध है अर्थात् अर्थ शब्द से अन्वित नहीं है[3]। इस अनुमान से विरोध आता है।

शब्द और अर्थ में कौन-सा सम्बन्ध है ?

अब यदि यह मान लिया जाय कि शब्द और अर्थ में परस्पर सम्बन्ध है, तो शब्द-अद्वैतवादियों को यह भी बतलाना चाहिए कि उनमें कौन-सा सम्बन्ध है ? उनमें निम्नांकित सम्बन्ध ही हो सकते हैं[4]—

(क) क्या शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध है ?
(ख) क्या उनमें तादात्म्य सम्बन्ध है ?
(ग) क्या विशेषणी भाव सम्बन्ध हैं ?
(घ) अथवा वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है ?

शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध नहीं है

शब्द और अर्थ दोनों मलय पर्वत और हिमाचल की तरह विभिन्न देश में रहते हैं अर्थात् शब्द श्रोत्र प्रदेश में और अर्थ सामने अपने देश में रहता है, इसलिए उनमें उसी

---

१. शब्दब्रह्मणोनंशस्य विद्यात्वसिद्धौ तदवस्थानामविद्यात्वाप्रसिद्धेः। वही।

२. ' ' ' शब्देनान्वितत्वमर्थस्य कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयेत् असति वा ?
—प्रभाचन्द्र : न्या. कु. च. १/५, पृ. १४४।

३. वही।

४. अथ सति सम्बन्धे; ननु कोऽयं तस्य तेन सम्बन्धः संयोगः, तादात्म्यम् विशेषणीभावः वाच्यवायकभावो वा ? —प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०; पृष्ठ १४४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार से संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता, जैसे—मलय और हिमाचल में संयोग सम्बन्ध नहीं है। भिन्न देश में रहने पर भी यदि शब्द और अर्थ संयोग सम्बन्ध माना जाय, तो अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि शब्द और अर्थ दोनों विभिन्न द्रव्य हो जायेंगे, क्योंकि संयोग सम्बन्ध दो पदार्थों में होता है[1]।

शब्द-अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है

शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा जाने जाते हैं। वादिदेव कहते हैं कि शब्द-अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से उसका निराकरण हो जाता है[2]। चाक्षुष-प्रत्यक्ष पट, कुट आदि पदार्थों को शब्द से भिन्न जानता है। इसी प्रकार श्रोत्र-प्रत्यक्ष भी कुटादि से भिन्न शब्द को जानता है।

अनुमान भी शब्द-अर्थ के तादात्म्य सम्बन्ध होने का विरोधी है

प्रभाचन्द्र और वादिदेव कहते हैं कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि स्तम्भ (खम्भा) और कुम्भ की भाँति शब्द और अर्थ भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकार वाले हैं।[3] इन दोनों का भिन्न देश में होना असिद्ध नहीं है, क्योंकि शब्द कर्णकुहर में और अर्थ भूतल में उपलब्ध होता है। यदि दोनों अभिन्न देश में रहते, तो प्रमाता की शब्द के उपलब्ध करने में प्रवृत्ति होनी चाहिए, अर्थ में नहीं। किन्तु, अर्थ में ही उसकी प्रवृत्ति होती है, शब्द में नही। शब्द से पहले पदार्थ रहता है, इसलिए वे भिन्न काल वाले भी हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न आकार वाले भी शब्द-अर्थ सिद्ध हैं।[4]

एक बात यह भी है कि यदि अर्थ शब्दात्मक है तो शब्द की प्रतीति होने पर संकेत न जानने वाले को भी अर्थ में सन्देह नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अग्नि, पाषाण आदि शब्द सुनते ही कान में दाह, अभिघात आदि होना चाहिए।[5] अभयदेव सूरि और भद्रबाहु स्वामी ने भी यहीं कहा है[6]। लेकिन ऐसा नहीं होता। सिद्ध है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्यसम्बन्ध के अभाव में भी अर्थ की प्रतीति शब्दों में रहने वाली संकेत और स्वाभाविक

---

१. तत्सम्बन्धाभ्युपगमे च अनयोर्द्रव्यान्तरत्वसिद्धप्रसंगात् कथं तदद्वैतसिद्धिः स्यात् ? वही।
२. द्रष्टव्य—स्या० र०, १/७, पृ० ९४।
३. नास्ति शब्दार्थयोस्तादात्म्ये विभिन्नदेश-काल-आकारत्वात्।
   (क) प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, पृ० १४४।
   (ख) वादिदेव : स्या० र०, १/७, पृ० ९४।
४. वही।
५. वही, और भी देखें : प्र० क० प्रा०, १/३, पृ० ४६।
६. (क) शब्दार्थयोश्च तादात्म्ये क्षुराग्निमोदका दिशब्दोच्चारणे आस्यपाटनदहनपूरणादि प्रसक्तिः—अभयदेव सूरि : सं० त० प्र० टीका, पृ० ४८६।
   (ख) अभिहाणं अभिहेउ होई भिण्णं अभिण्णं च।
   सुरअग्णि मोयणुच्चारणम्मि जम्हा वयणसवणाणं ॥ —स्या० म०, पृ० ११८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शक्ति में उसी प्रकार होती है, जैसे काष्ठादि में भोजन पकाने की शक्ति होती है[1]। श्री वादिदेव सूरि ने भी कहा है "स्वाभाविक शक्ति तथा संकेत से अर्थ के ज्ञान करने को शब्द कहते हैं[2]। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।

शब्द-अर्थ में विशेषणीभाव सम्बन्ध भी नहीं है

शब्द और अर्थ में विशेषणी-भाव भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विशेषण-विशेष्यभाव दो सम्बद्ध पदार्थों में ही होता है। जैसे—भूतल में घटाभाव। सम्बन्ध रहित दो पदार्थों में विशेषणीभाव उसी प्रकार नहीं होता, जैसे सह्य और विन्ध्याचल में नहीं है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ के असम्बद्ध होने से उनमें विशेषणीभाव सम्बन्ध भी नहीं है[3]।

वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानने पर द्वैत की सिद्धि

शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक भाव मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से वाच्य-पदार्थ और वाचक-शब्द इन दोनों में भेद मानना होगा और ऐसा मानने पर अद्वैत का अभाव और द्वैत की सिद्धि होती है। इस प्रकार विचार करने पर शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होता। अतः शब्द-अद्वैतवादियों का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि अर्थ शब्द से अन्वित है[4]।

शब्द-अद्वैतवादी का यह कथन भी ठीक नहीं है कि "प्रतीति से ज्ञान में शब्दान्वितत्व की कल्पना की जाती है और ज्ञान के शब्दान्वित सिद्ध होने पर अन्यत्र भी कल्पना कर ली जाती है कि संसार के सभी पदार्थ शब्दान्वित है।" शब्द-अद्वैतवादी का यह कथन ठीक न होने का कारण यह है कि कल्पना के आधार पर किसी बात की सिद्धि नहीं हो सकती[5]। दूसरी बात यह है कि ज्ञान और शब्द का द्वैत मानना पड़ेगा[6]। इसलिए 'न सोऽस्ति प्रत्ययोलोके इत्यादि कथन ठीक नहीं है। एक बात यह भी है कि चाक्षुष-प्रत्यय में शब्द-संस्पर्श के अभाव में भी अपने अर्थ का प्रकाशक होने से ज्ञान सविकल्पक होता है।

---

१. ननु .... तदभावेऽप्यस्याः संकेतसामार्थ्यादुपपद्यमानत्वात्। शब्दानां सहयोग्यतायुक्तानामर्थ- तीतिप्रसाधकत्वात् काष्ठादीनां पाकप्रसाधकत्वम्।
—प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, पृ० १४४।

२. प्रमाणनयतत्वालोकालंकार।

३. नाऽपि विशेषणीभावः, सम्बन्धान्तरेणा ... सह्यविन्ध्यादिवत् सद्भावस्यानुपपत्तेः।
—न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४४।

४. तदेवं शब्दार्थयोः अद्वैताविरोधिनः सम्बन्धस्य कस्यचिदपि विचार्यमाणस्यानुपपत्तेः न शब्देनान्वितत्वमर्थस्य घटते। —प्रभाचन्द्र : न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४५।

५. – वही –

६. शब्द-अद्वैतवादी हि भवान् न च तत्र शब्दो बोधश्चेति द्वयमस्ति।
वादिदेवसूरि : स्या० र०, पृ० ९२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द से भिन्न पदार्थ नहीं ऐसा कहना भी असंगत एवं दोषयुक्त है

शब्द से भिन्न (व्यतिरिच्य) पदार्थ नहीं है, शब्द-अद्वैदवादी का यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा कहना प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है। हम प्रत्यक्ष से अनुभव करते हैं कि शब्द के देश से भिन्न स्थान में अर्थ रहता है[1]। लोचना विज्ञान के द्वारा शब्द का ज्ञान न होने पर भी अर्थ की प्रतीति होती है[2]। इस प्रकार 'तत्प्रतीतावेव प्रतीयमानत्वात्' इस अनुमान में प्रतीयमानंता हेतु असिद्ध है। यदि शब्द के प्रतीत होने पर ही अर्थ की प्रतीति होती हो, तो बधिर को चक्षु आदि प्रत्यक्ष के द्वारा रूप आदि की प्रतीति नहीं होनी चाहिए—यह पहले ही कहा जा चुका है[3]। अतः शब्द से पदार्थ भिन्न है—यह सिद्ध है।

इस प्रकार शब्द-अद्वैत का परिशीलन करने से सिद्ध होता है कि इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए शब्द-अद्वैतवादियों ने जो तर्क दिये हैं वे परीक्षा की कसौटी पर सही सिद्ध नहीं होते। अतः शब्द-अद्वैतवादियों का मत युक्तियुक्त नहीं है। स्याद्वाद मत में शब्द के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध की है। जैनदर्शन में दव्यवाक् और भाववाक् के भेद से वचन दो प्रकार के हैं। द्रव्यवाक् दो प्रकार की होती है—द्रव्य और पर्याय। श्रोत्रेन्द्रिय से जो वाणी ग्रहण की जाती है, वह पर्याय-रुपवाक् है; उसी को शब्द-अद्वैतवादियों ने वैखरी और मध्यमा कहा है। इस प्रकार सिद्ध है कि वैखरी और मध्यमा रूप शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं। द्रव्यस्वरुप वाणी पुद्गल दव्य है, जिसका किसी ज्ञान में अनुगम होनेवाला है। भाववाक् जैन दर्शन में विकल्पज्ञान और द्रव्यवाक् का कारण है। यह भाववाक् ही शब्द-अद्वैतवाद में पश्यन्ती कही गई है। इस भाव वाणी के विना जीव बोल नहीं सकते।

---

१. · · · · , तत्र पक्षस्य प्रत्यक्षबाधा · · · · ।

—न्या० कु० च०, १/५, पृ० १४५।

२. · · इति हेतुश्चासिद्धः, लोचनादिज्ञानेन शब्दाऽप्रतीतावपि अर्थस्य प्रतीयमानत्वात्। वही।

३, वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत धात्वादेशों में बज्जिका के क्रिया-रूप

डॉ० योगेन्द्र प्रसाद सिंह

संस्कृत वैयाकरणों ने अनेक स्थानों पर धातुओं के स्थान में आदेशों का विधान किया है। यथा—"प्राघ्राध्मास्था" आदि के स्थान में शित् प्रत्यय परे "पिबजिघ्रधमतिष्ठ" आदेश होता है। पूरे सूत्र "पाघ्राध्मास्था म्नादाण् दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छ धौ शीयसीदाः"[1] में पा (पिबति), घ्रा (जिघ्रति), ध्मा (धमति), स्था (तिष्ठति), म्ना (मनति), दाण (यच्छति), दृशि (पश्यति), ऋ (ऋच्छति), सृ (धावति), शद् (शीयते), सद् (सीदति) धातुएँ और आदेश (कोष्ठक में) दिए गये हैं। ये आदेश क्या हैं? इस पर वैयाकरणों ने विचार कर निश्चित किया है कि ये आदेश धात्वन्तर हैं। जो उन्हीं धातु के अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं। निरूक्त[2] में मधुधमंतेर्विपरीतस्य तथा उणादिसूत्र अर्तिसृ धृ धम्यम्यशिम्यो नि:[3] में धम का स्वतन्त्र धातु के रूप में प्रयोग किया गया है। क्षीरस्वामी ने ध्या धातु के व्याख्यान में लिखा है—धमिः प्रकृत्यन्तरमित्येके[4], बाल्मीकि रामायण में विधमिष्यामि जीमूतान्[5] श्लोक खण्ड में धमि धातु का प्रयोग किया गया है।

अश्नोतेः रश च[6] में आदेश रूप से निर्दिष्ट धातु "रश" भी स्वतन्त्र धातु है।

यहाँ संस्कृत धातु के संस्कृत धात्वन्तर (धात्वादेश) के विषय में विवरण आया है। अब संस्कृत धातु के प्राकृत धात्वन्तर (धात्वादेश) तथा देशी शब्द (शब्दों के आदेश) का विवरण उपस्थित किया जायेगा।

आचार्य हेमचन्द्र ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में हुए। उन्होंने देशी शब्दों का संग्रह **देशी नाममाला** के नाम से किया। उसमें देशीशब्दों को परिभाषित किया गया है। उन्होंने कहा है कि ऐसे शब्द जो प्रकृतिप्रत्ययादि के द्वारा निष्पन्न नहीं होते, उक्त संग्रह में रखे गये हैं। हेमचन्द्र की परिभाषा को डॉ० नेमिचन्द्र जैन ने इस प्रकार रखा है—जो शब्द न तो

---

१. **अष्टाध्यायी**, ७।३।७८।
२. **निरूक्त**, १०।३१।
३. उणादि २।७५।
४. **क्षीरतरंगिणी**, १।६५९।
५. **वाल्मीकि रामायण**, सुन्दरकाण्ड ६७।११।
६. उणादिसूत्र, ३।७५ तथा युधिष्ठिर मीमांसक : **संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास**, तृतीय भाग, पृष्ठ २४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्युत्पन्न हैं और न संस्कृत कोशों में निबद्ध हैं तथा लक्षणाशक्ति के द्वारा भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं हैं, ऐसे शब्दों का संकलन इस कोश में करने की प्रतिज्ञा आचार्य हेमचन्द्र ने की है।[1]

देशी शब्दों में क्रियावाचक शब्द भी हैं। इन क्रियावाचक शब्दों को वैयाकरण धात्वादेश कहते हैं। प्राकृत धात्वादेश से तात्पर्य संस्कृत धातु के स्थान पर बोल-चाल की धातुएँ हैं। इनका मूलरूप संस्कृत में नहीं मिलता किन्तु अधुनिक भारतीय भाषाओं की धातुएँ इनसे पूर्णतः मिलती-जुलती हैं। देशी शब्द से इनकी सार्थकता प्रमाणित है। **प्राकृत प्रकाश** (तृतीय शतक) तथा **सिद्धहैम व्याकरण** प्राकृत भाग (द्वादश शतक) में ऐसे धात्वादेश पर्याप्त परिमाण में प्राप्त होते हैं, जो बज्जिका की क्रियाओं के बीज रूप हैं। ये धातुएँ तथा शब्द भी, जो अज्ञात-व्युत्पत्तिक अथवा देशी हैं, प्रान्तीय तथा स्थानीय रहे होंगे, जो बाद में सार्वदेशिक प्राकृत में सम्मिलित कर लिए गये। हेमचन्द्र के व्याकरण के इसे धात्वादेशों को देखने से यह ज्ञात होता है कि प्रायः उनका कोई न कोई रूप पूर्वी प्रान्त के शब्दों तथा धातुओं में जिनमें आधुनिक भाषा बज्जिका भी एक है, प्राप्त हो जाता है। हेमचन्द्र ने एक संस्कृत धातु के कई आदेश बतलाये हैं जो उत्तरी भारत के विभिन्न क्षेत्रों की लोकभाषा या प्रचलित साहित्य में प्राप्त थे।

हेमचन्द्र अपने संग्रह **देशी नाममाला** में धात्वादेश को देशी नहीं मानने हुए भी उन्हें उसमें स्थान दिया है। ऐसा उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कोशकारों के पथानुसरण के क्रम में किया हैं। धात्वादेशों तथा देशी शब्दों दोनों की व्युत्पत्ति का पता नहीं है। शब्दों में जो अव्युत्पन्न होते हैं, वे देशी के तथा धातुओं में जो अव्युत्पन्न हैं, वे धात्वादेश के नाम से अभिहित हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने **सिद्धहैमव्याकरण** के प्राकृत भाग के धातु-प्रकरण में संस्कृत धातु के अर्थ में लोकप्रयुक्त क्रिया की धातुओं को संगृहीत किया तथा लोकप्रयुक्त शब्दों का, जिन्हें उन्होंने देशी कहा, संग्रह **देशी नाम माला** के नाम से किया।

हेमचन्द्र के आठ सौ वर्ष पूर्व वररुचि ने **प्राकृत प्रकाश** नामक व्याकरण में ऐसी आतुओं विवेचन किया हैं, जिन्हें धात्वादेश कहा जा सकता है। ऐसी धातुओं के आधार पर तत्कालीन लोकप्रयुक्त क्रियारूपों का विवेचन किया गया था।

प्राकृतप्रकाश और **सिद्धहैम प्राकृतव्याकरण** के बीच आठ सौ वर्षों का अन्तराल था। **प्राकृत प्रकाश** के तथा अन्य प्राकृत धात्वादेशों की संख्या हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में बढ़ गयी। इस अवधि में लोक भाषा विकसित हुई।

भाषाविदों के द्वारा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की धातुओं के वर्गीकरण का प्रयास किया गया है। ग्रियर्सन, डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ० उदय नारायण तिवारी, डॉ० भोला नाथ तिवारी आदि के द्वारा हिन्दी संघ की भाषाओं की धातुओं के वर्गीकरण में कोई

१. **देशीनाम माला**, १.३-४ तथा डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, **प्राकृत भाषा और साहित्य का इतिहास**, (१९६६), पृ०-५३९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वमान्य सिद्धान्त स्थापित नहीं हो सका है[1]। किन्तु धातुओं के प्रकार में परम्परागत, निर्मित और संदिग्ध व्युत्पत्तिक हैं, यह तो सभी मानते हैं। संदिग्ध व्युत्पत्तिक धातुएँ ही प्राकृत व्याकरण के धात्वादेश हैं।

कहा जा चुका है कि आदेश का अर्थ है मूल को हटाकर अन्य का स्थानापन्न हो जाना। धात्वादेश का अभिप्राय है कि तत्कालीन समानार्थ में प्रयुक्त धातुएँ, जो लोक में प्रचलित थीं, संस्कृत धातु के आदेश के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। यथाकथ संस्कृत धातु के अर्थ में हेमचन्द्र-कालीन लोकभाषा (अपभ्रंश) अथवा हेमचन्द्र-पूर्व प्राकृत ग्रन्थों में प्रयुक्त भाषाओं (विभिन्न प्रकार की प्राकृतों) में प्रचलित धातुएँ हेमचन्द्र के द्वारा आदेश (धात्वादेश) कही गयी। वे वज्जर, पज्जर, उप्पाल, पिसुण, संघ, बोल्ल, चव, जम्भ, सीस, साह—ये दस हैं[2]। इनका प्रयोग तत्कालीन विभिन्न ग्रन्थों और क्षेत्रों में होता था।

आद्य प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने प्राकृत प्रकाश के क्रिया प्रकरण में भी ऐसी धातुओं का विवरण प्रस्तुत किया है।

यहाँ उपर्युक्त दोनों वैयाकरणों के द्वारा अपने व्याकरण ग्रन्थों में संगृहीत धात्वादेशों को रखा जाता है, ताकि उनके विकास की एक झलक मिल जाये।

संग्दिध व्युत्पत्तिक अथवा देशी (लोक प्रचलित) धातुओं का विकास वररुचि के काल (ईस्वी सन् की तृतीय शताब्दी) में ही पर्याप्त हो गया था, अन्यथा व्याकरणकार को उन्हें नियमों में बाँधना नहीं पड़ता। इस प्रकार के नियम निर्धारण को संस्कृत का ही आधार ग्रहण कर प्रतिष्ठित करना पड़ा था।

वररुचि के व्याकरण में धात्वादेशों की संख्या अपेक्षाकृत अल्प है। हेमचन्द्र के काल तक लोक-भाषा का अधिक विकास हो गया था। फलतः उनके प्राकृत व्याकरण में अधिसंख्यक धात्वादेश प्राप्त होते हैं।

प्राकृत प्रकाश में धातुओं के जितने आदेश हैं, सभी बज्जिका से सम्बद्ध नहीं हैं। यहां केवल बज्जिका के मूल रूप का ही विवरण अपेक्षित है।

संस्कृत धातु	प्राकृत आदेश[3]	बज्जिका रूप
क्वथ	कढ	कऽढ़ी, कऽढ़ा, काढ़ा

हेमचन्द्र के काल में क्वथ अर्थ में एक और आदेश रूप विकसित हो गया था—अट, जो अद्य पर्यन्त बज्जिका में प्रचलित है—"अटका" चढ़ल हुएँ। जगन्नाथपुरी में देव प्रसाद "भात" का ही होता है, जिसे "अटका" कहते हैं। उसी अर्थ में "अटका" देर से बनने (सिद्ध होने) वाले भोज्य पदार्थ के लिए प्रयुक्त होता है।

---

१. उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृ०-४४६, भोलानाथ तिवारी : हिन्दी भाषा, खण्ड-२, पृ०-२४०, ४१, ४२।

२. सिद्धहैम व्याकरण, ६.४,२।

३. प्राकृत प्रकाश ८।३९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत प्रकाश की एक धातु "त्रस"[1] है, जिसका आदेश "वज्ज" कहा गया है। वररुचि ने "त्रस" का एक ही आदेश कहा है, किन्तु हेमचन्द्र ने तीन आदेशों, बज्ज, वोज्ज, डर का प्रयोग किया है[2]। बज्जिका के धातु रूप "डर" का विकास "त्रस" के आदेश के रूप में हेमचन्द्र के काल तक हो गया था, जो वररुचि के समय में नहीं था।

मस्ज संस्कृत धातु के वुट्ट (वुड्ड), खुप्प दो आदेश वररुचि कथित है[3]। बुट्ट-वुड्ड का सम्बन्ध बज्जिका "बूड़" से है। "ओक्कर सब रूपइया बूड़ गलइ"। हेमचन्द्र ने चार आदेशों का जिक्र किया है—आउड्ड, निउड, वुड्ड, खुप्प[4]। "बूड" एक संस्कृत धातु भी है, जिसका अर्थ संवरण है। प्राकृत "बूड' से वर्णव्यत्यय होने पर "डूब" धातु बज्जिका में बनी है। महाकवि बिहारी की पंक्ति "अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग" देखने में पता चलता है कि प्राकृत का "वुड्ड" बिहारी के समय में "बूड" हो गया था। बज्जिका में "निउड्ड" रूप से "निहुड़" नीचे झुकना अर्थ में प्रचलित है, जिसमें "ह" का आगम हो गया है। मस्ज-मज्जन के लिए "निहुड़ना" नीचे झुकना आवश्यक है।

वररुचि ने शक के आदेश "तर", "बअ", "तीर"[5] कहते हैं। बज्जिका में "तर" "तीर" का प्रयोग होता है। "एँह पूंजी से तोरा केतना पइसा (लाभ) तीराएँल हओं"। "तर" का प्रयोग "तरन-भरन" दान-दहेज के अर्थ में होता है। लोग जैसा सकते हैं, वैसा "तरन-भरन" देते हैं।

हेमचन्द्र ने **प्राकृत व्याकरण** तथा **कुमारपालचरित** काव्य में शक के लिए चार आदेश—चय, तर, तीर, पार बतलाये हैं[6]। वररुचि के "बअ" का हेमचन्द्र के काल में अप्रयोग या लोप हो गया था। लोक प्रयोग में शब्द बनते-मिटते रहते हैं। प्रयोग से बनना और अप्रयोग से मिटना होता रहता है। एक नया आदेश "पार" व्यवहार में आया। बज्जिका में "चय" का नहीं, किन्तु "तीर", "पार" का प्रयोग होता है। "हमरा से ई काम पार न लगतो" का अर्थ होगा "मैं यह काम नहीं कर सकूंगा"। संस्कृत शक से प्राकृत या बज्जिका "पार" के अर्थ की समानता है। "तीर" प्राप्त होने के लिए आता है। पाणिनीय धातु पाठ में भी "पारतीरकर्मसमाप्तौ" पढ़ा गया है। यह चुरादिगणीय धातु है—पारयति, तीरयति। वररुचि "तीर" को और हेमचन्द्र "पार" और "तीर" को शक का समानार्थक मानते हैं। कई ऐसी धातुएँ पाणिनीय धातुपाठ में पठित हैं, किन्तु काव्यादि में उनका प्रयोग अल्प अथवा नहीं रहा और लोक व्यवहार में साक्षात् अथवा विकास के रूप में प्रयुक्त होते रहे। "पार"

---

१. वही, ८।६६।
२. सिद्ध हैम व्याकरण, ८।४।१९८।
३. प्राकृत प्रकाश, ८।६८।
४. सिद्ध हैम व्याकरण, ८।४।१०१।
५. प्राकृत प्रकाश, ८।१०।
६. सिद्ध हैम व्याकरण, ८।४।८६ तथा कुमारपालचरित, ६।५३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का प्रयोग तो संस्कृत भाषा में हुआ किन्तु "तीर" का नहीं हुआ। हाँ, लोक-प्रयोग से यह बज्जिका में उपलब्ध है।

हेमचन्द्र ने **प्राकृत व्याकरण** तथा **कुमारपालचरित** काव्य में अनेक धात्वादेशों का संग्रह किया है, जिनमें बज्जिका से सम्बद्ध जितने हैं, वे यहाँ विवेचन में आये हैं। **देशीनाममाला** में संगृहीत देशी शब्दों में भी कुछ धात्वादेश रूप में शब्द प्राप्त होते हैं। उनमें से कतिपय धात्वादेश यहाँ दिए जा रहे हैं।

सिद्ध हैम प्राकृत भाग के धात्वादेश ये हैं—

कथ (८।४।२, ६।२), बोल्ल, बोलइत, बोलल, बोलव; बुभुक्षि (५।५); बीजइ, बीजो (भोजन के लिए बुलाहट); पिबती (१०।७), घोट्टइ, घोटइत, घोटब, घोटल; निद्राति (१२, ९) उङ्घ, अउँघी, अउँघाइत; छदि (२१, १५) ढक्क, ढकना, ढकनी, ढँकइत; मिश्र (२८, २८) मेलव, मेरवइत, मेराओत, मेराएत, मेराओल, मेराएल; स्पृह (३४, २३) सिह, सिहाइत, सिहाएँत; निलीङ् (५९, ३९) लुक्क, लुकाइत, नुकाइत, चोरिया-नुकिआ; काणेक्षितं करोति (६६, ४२), निआरइ, निहारइत, निङ्हारइत; क्षुरं करोति (७२, ४४) कम्मइ, केश कमाइत, कमाएँल, कमस्तइ; व्याहृ (७६, ४८) कुक्क, कूक, कुहकइत, कुहकल; मुंचति (९१, ५७) छट्ठइ, छाड़न, छाड़ी, छोड़, छोड़इत; गर्जति (९८, ६२) बुक्कइ, भुकइत, हिन्दी में बुक्का फाड़ कर रोना; वृषभो गर्जति (९९, ६२) ढिक्कइ, ढहलोइ (साढ़ को पुकारने का सम्बोधन शब्द); राजते (१००, ६३) छज्जइ, छजइत हइ; मृज्जति (१००, ६४) बुड्डइ, बूड़, बूड़त, डूब (वर्णव्यत्यय) डूबइत; मृज् मार्जयति (१०५, ६८) पुछइ, पोंछइत, पोंछल, पोंछत; भुनक्ति, भुंक्ते (१०७, ७४), जेमइ, जिमइत (जिमअदने तत्सम धातु भी है), जेओनार; मण्डयति (११५, ७६) टिविडिक्कइ···टिकइत, टीका, मङ्टिक्का, माङ्टीक देलकइ; तोडति (११६, ७७, ७८), खुट्टइ, खोंटइत, खोंटल, खोटलक; विवरति (११८, ८०) ढँसइ, ढँसइत, ढँसत, कूथति (११९, ८१) अट्टइ, अटका चढ़ल हइ; मृद्नाति (१२६, ८७) भलइ, भड्डइ, मड्डुआमलदेही; स्पन्दते (१२७, ८७), चुलचुलइ चुलचुलाइत हइ, चुलचुल करइत हइ; शीयते (१३०, ८९) झडइ, झाड़ल; निषेधति (१३४, ९१), हक्कइ; हाँक, बएँल हाँक देही; सन्तप्यते १४०, ९४) झङ्खइ, झक्खन; क्षिप्यति (१४३, ९७) पेल्लइ, हुलइ, घर में हूल देलकइ, हुरइत, रेल-पेल, अपेल, हूल (कै); स्वपिति (१४६, १००) लुट्ठइ, लोट्ठइ, लोट-पोट, लोटनी; विलपति (१४८, १०१) झज्खइ, बडबडइ, झँखइत, बड़बड़ाइत, बड़बड़ही; प्रदीप्यते (१५२, १०३), सधुक्कइ, धुकइत, बेल धुकलक; क्षोभते, क्षुम्यते (१५४, १०४), खरउरइ, खउरा, खउराह; भाराक्रान्ते नमति (१५८, १०४), निसुढइ. निहुरइत हइ, निहुरल, निहुरत; भ्रमति, भ्राम्यति (१६१, ७१३), गुम्मई, झम्पइ, चककम्म, गुम्भ हो गेलइ, झँपइत, चकमा, गच्छइ (१६२, ६) पच्चडइ, पच्चड़, पचड़ा, पचड़ी, पचड़, उपालम्भ (१५३, ६) झङ्खण, झखइत; आगच्छति (१६३, १०) अहिपच्चुअइ, पहुँचइत, पहुँच; प्रत्यागच्छति (१६६, १२), पलोट्टइ, पलोटइत, पलओटन, पलट, पलटा, उलट-पलट, पलटइत, पूर (१६९, १४) अग्घवइ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अघाऐल, अघाएँत, क्षर (१७३, १६), खिरइ, पऽतालखिर गेलइ; विगलति (१७५, १८). थिप्पइ, थप्प, ठप्प; भ्रंश (१७७, २०) फुट्ट, चुक्क, भुल्ल, फूट, चूक, भूल, भुलइत, भुलावा; स्पृश (१८२, २७) छिवइ, छुअइत, अछूत, छुआछूत; स्पृश (१८२, २७), फंस, फँसइत, फाँस, फँसल; प्रविश (१८३, २८), रिअइ, रिआइत, रिजाइत; रूह (१८५, ३६, २९, ३०), चड्ढ, चढ़इत, चढ़ल-भरल चढ़ी; भष (१८६, ३०) भुक्क, भुकइत, बोल-भूक; कृष (१८७, ३१), कड्ढइ, कढ़नी, काढ़ल, कढ़इत; भृक्ष (१९१, ३६) चोप्पडइ, चुपड़इत, चोपड़इत, चोपड़ल; काङ्क्ष (१९२, ३७), सिहइ, सिहाइत, सिहाएँल, सिहऽतइ; तक्ष (१९२, ३९), पिशल—प्रा० भा० व्याक० अनु० (२०८) चच्छइ, चाँछल, चँछइत, चाँछदेही; त्रस (१९८, ४२) डरइ, डेराएँल डरपोक; आरूह (२०६।३३१, ४७।८२) चड, चढ़इत हुएँ; मुह (२०७, ४७), गुम्भइ गुम्म हो गेलइ, लुट (२२३, ८३) पलोट्टइ, पलओटॅन, पलटा; तक्ष (३९५), छोल्ल, तरकारी छीलइत हुइ, छोलबी; हेमचन्द्र की **देशीनाममाला** देशी (अज्ञातव्युत्पत्तिक) शब्दों का संग्रह है, जिनमें धात्वादेश भी सम्मिलित हैं, यहाँ उसमें संगृहीत कुछ धात्वादेश दिए जा रहे हैं। देशी शब्दों को, जो "इअ" प्रत्यय से संयुक्त होते हैं, "क्त" (इत) साधित विशेषण रूप में प्रयुक्त भूतकालिक कृदन्त समझा जाना चाहिए। उग्गाहिअं (गृहीतम् **देशीनाममाला**, १।१३७), उगाहल, चन्दा उगाहइत हइ। उच्छविअं (शचनीयम्, १।१०३) ओछाओन, विछावन, विछओना, ओछविअउ (मैथिली), उच्छिन्त (उत्क्षिप्तम्, १।१२४) छितराएँल, छितराइत; उज्जगिरं (औन्निद्रयम् १।११७), उजगी, रात्रि जागरण (हिन्दी) मा निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। उत्थलिअं (उत्स्थलितम्. १।१०७) उत्थर, उथराह, ई पोखरी उत्थर हो गेलइ; उज्झरिअं (क्षिप्तम्, १।१२३), ओझराएँल, ओझरा, ओझराएँत, उछरिअं (उत्खातम्, १।१००) ओदारल, ओदारत, ओदारब; उंघइ (निद्राति, १।१०२) अउँघाइत, अउँघी; उग्गइ (उद्गत, १।१०२). उगइत, उगल, उगत; उज्जगुज्जा (स्वच्छम्, १।११३) उजबुजाएँल का आधुनिक अर्थ सांस लेने की बाधा का होवा है। ऊ लरिका पानी में उजबुजागेल हुएँ। उड्डियाहरणं (उत्पतनम्, १।१२१) उड़िआएँत, उड़िआएँल; उण्णालिअं (उन्नमितम्, १।१३६) उनारल, उनारब, उनारत; उप्फुण्णं (आपूर्णम्, १।९२), उफनाएँल, उफनाइत; उब्भुआणं (भाजनादुच्छलति, १।१०५) उधिआन, उधिआएँत; उम्भड्डो (बलात्कार; १।९७) उमड़इत, मेघ उमड़इत आरहल हुएँ; उम्मत (उन्मत, १।८९) उमताएँल; उव्वरिअं (उद्वृत्तम्, १।१३२) अधिकम्, उबरल, उबरत, उबाडू; उडेल (उड्डोल, १।१११), उल्डुल, दुल, उड़ेलइत; उव्विवं (खिन्नम्, १।१११), उबिआएँल, उबल, हिन्दी — ऊबा हुआ; उमकी (उन्मगति, १।८८), उमंग, उमकी, उमकइत, खइ-उमकी; उल्लसिअं (उल्लसितम्, १।११५) हुलसइत, हुलसल, हुलास; ओड्ढणं (उत्तरीयत्, १।५५) ओढ़ना, ओढ़इत, ओक्किइ; (वान्तम्, १।१५१) ओकिआइत; (ओसुक्कइ—वेजयति एवं प्रेरयति १।१६३), उसकवइत, उसकाएँल; ओल्लरिओ (सुसः, १।१६३) ओलरल, ओलरत, ओलारी; ओहसिअं (अपहस्तम्, १।१७३) ओहसल, फुलनाई ओहस गेलइ; ओहर (खिन्नम्, १।१५७) निहुरल, निहुरइत; कडाह पल्हतिअं (कटाहपर्यस्तम्, २।२५) पलथा, पलथी, बएँल गड्डी पलथा मार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देलकइ, कणिआरिअं (काणाक्षिद्‌धृष्टम्, २।१४), कन्हुआइत, कन्हुआएँल; काणच्छी (काणाक्षि, काणाक्षिद्‌धृष्टम् २।१४), कनछिआ कऽ देखइतहएँ कनछिआएँल खणुन्ना (मनोदुःखम्, २।६८) खुनुसाएँल, खुनुस; खरडिअं (मग्नम्, २।७९), टाटी खरडकऽ नया बान्ह देतइ; खलअं (स्खलितम्, २।७१) खलओले, खलऽब्रइत, पेटखलओलेहुंइ; खिज्जिअं (उपालम्भः, २।७४) खिजइत, खीझल, खीझ; खुट्ट (त्रुटितम्, २।७४) खोंटइत, बूट के साग खोंटइतहइ, नओह (नख) खोंटइतहइ; गलथलिओ (क्षिप्तः, २।८७) पानी में खल्हन गलथलाएँल हइ, गुमिलं (मूढम्, २।१०२) गुम्महो गेलइ; गुम्मइओ (विघटितः, ११।०३) हम्मर सब चीज गुम्म होगेल; गोबर (गोमय, २.९६) छीटी (टोकड़ी) गोबराएँल हइ; गुदड़ालिअं (पिण्डीकृतम्, २।९२), गुड़िआएँल; घुनघुणिओ (कर्णोपकणिका, २।११०) घुनघुनाइत; चक्कलं (चक्रल, वर्तुल, विशाल, ३।२०) चकला-बेलना, चकला पर रोटी बेलइत हइ, जांता-चकड़ी चकराएँल, चाकर, चकरइठ; चासो (हलस्फाटितभूमिरेखा, ३।१) चास, खेत अभी चासल न हइ, खेत कएँ चास भेल हइ; जड़िअं (खचितम्, ३।४१) जड़ल, नग-जड़ल; झंख (तुष्टः, ३।५३) झंखइत, झख मारकऽ ओकरा इहाँ आवे के होतइ; झंपणी (पक्ष्मः, ३।५४) आँख झपकइत हइ, झपकी; झलुसिअं (दग्धम्, ६।५६) झुलुस गेलइ, झुलस गया (हिन्दी); झामिअं (दग्धम्, ३.५६), झम्मा, इंटा पाक कऽ झमा गेलइ, हुनकर बात सुनकऽ हम झमा गेलो; टिक्कं (तिलकम्, ४।३) माङ् टिकइत हइ; णक्को (घ्राणम्, ४।४६) नकिआइत, नाक; णत्था (नासारज्जुः, ४।१७) बएँल नाथल हइ, नथाएँल, नाथ; णिक्खुरिअं (अद्दृढम्, ४।४०) निखोरइत, निखुराह, निखोरकऽ देख लेही; णिप्फरिसो (निर्दयः, निःस्पर्शः, ४।३७) हम एइ झंझट से निफरगेली; तग्गं (सूत्रम्, ५।१) धुनिया सीरक तगइत हइ। तिक्खालिअं (तीक्ष्णीकृतम्, ५।१३) तीख, तेखारल, तेखार कऽ पूछ लेही; थग्गो (गाधः, ५।२४), हुनका पेट के थाह न लगतो, नदी घाट पर थाह हइ, थाह कऽ चले के चाही, थमिअं का अर्थ स्तस्मितम् होता हैः थरहरिअं (कम्पितम्, ५।२७), थरथराइत, थरथराएँल, थरथरी; थानोम् (गंभीरजलम्, ५।२७) पानी के थाह लागगेल, नहीं डूबने लायक पानी को थाह और डूबने लायक को अथाह कहते हैं; थिमिअं (स्थिरम्, स्तिमितम्, ५।२७) थमल, थमत; पडिअं (पतितम्, विघटितम्, ६।१२) पड़ल, खसल-पड़ल, पाड़ल, अण्डा पारइत हई, पण्हओ (प्रस्नुतः, ६।२) स्तनधारः, गाइ पन्हाइत हएँ, भइँसी पह्ना गेलइ; परिहणं (परिधानम्, ६।२१) पहिरन (वर्णव्यत्यय), पेन्हइत; पेल्लिअं (प्रेरितम्, पीडितम्, ६।५७) ऊँख पेरइत हइ; फंसणं (संयुक्त, ६।८६) फंसनाइ, फंसइत, फाँस फँसा लेलकइ; फोंफा (भीषयितुं शब्दः, ६।८६), फोंफिआइत' फुंफकार; वप्फाउलं (वाष्पाकुलम्, अतिशयोष्णम्, ६।९२) धान बफाएँल हइ, बफाइत, बाफल, बोहरी (संमार्जनी, ६।९७), बुहारल, झाड़ल-बहारल, बहारन, बहारइत, हिन्दी में बुहारना; भुक्कणो (बुक्कनः, श्वा, ६।११०) आधुनिक अर्थ कुत्ता (श्वा) नहीं; उसकी बोली है। भुकइत, बोल-भूक; भुक्खा (बुभुक्षा, क्षुन्, ६।१०६), भुखाएँल लुंकणी (लयनम्, ७।२४), लुकाछिपी, चोरिआ-नुकिआ, नुकाएँल (लीन); विच्छिअं (विचितम्, ७।९१) बिछइत, बीछल, बीछकऽ; सराहो (श्लाघः, दर्पोद्‌धुरः, ८।५) सराहल बहुरिआ डोमघर गेल, सराहइत; सिव्वी (सूची, ८।२९), सूई, सिअइत, सीअल-फाड़ल,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिआइ; सीहरओ (आसार, मेघ की झड़ी, ८।१२) सीकर, देह सीहरहइत हएँ, देह-तासीहर करइत हएँ; सुघिअं (घ्रातम्, ८।३७) सुंघइत, सूङ्हल, सांप सूङ्ह लेलकइ; सोत्ती (नदी स्रोतम्, ८।४४) सोती, सोता-हिन्दी, सोतिआएँल; हत्थल्लिअं (हस्तापसारितम्, ८।६४) हथि-अबइत, हत्थल मारइत, हत्था, हथड़ा; हिल्लूरी (लहरी, ८।६७) पानी के हिलोरा, हिलोर, हिलूरइत, हिलोरदेही आदि ।

यों तो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास में प्राकृत का विशेष योगदान रहा है, किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने तद्भव धातुओं तथा शब्दों, देशीशब्दों, धात्वादेशों आदि का संग्रह करके बज्जिका के विकासक्रम का दिग्दर्शन कराया है ।

आचार्य पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों का यह मत है कि हेमचन्द्रीय अपभ्रंश ही हिन्दी का आदिकालीन रूप है । अतः हिन्दी संघ की एक बोली होने के कारण बज्जिका के निर्मापक तत्त्व हेमचन्द्र की भाषा में मिलने ही चाहिए और वे किसी अन्य क्षेत्रीय भाषा की अपेक्षा कम परिमाण में नहीं मिलते ।

हेमचन्द्रीय अपभ्रंश के अवयव बज्जिका के भवन की नींव के रूप में प्रमाणित हो रहे हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन साहित्य में अहिंसा

डॉ० विजय कुमार जैन*

जैन आगमों एवं साहित्य में अहिंसा को सर्वोच्च धर्म कहा गया है। जैसे जगत् में मेरु पर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल कुछ नहीं है, उसी प्रकार अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है[1]। हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह के त्याग में हिंसा का त्याग प्रथम है। शेष इस व्रत के लिए पूरक धर्म कहे गये हैं[2]। जैसे खेत में धान बोने पर उसकी रक्षा के लिए चारों ओर बाडी लगा देते हैं वैसे ही सत्य आदि चार व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए बाडी रूप हैं[3]। अहिंसा को जप एवं सत्य आदि को उसकी रक्षा के लिए सेतु बतलाया गया है। आचार्य रामचन्द्र के अनुसार आत्मा की अशुद्ध परिणति मात्र हिंसा है। असत्य आदि सभी विकार आत्म परिणति को बिगाड़ने वाले हैं, इसलिए वे भी हिंसा हैं[4]।

आचारांग सूत्र में तीन महाव्रत—अहिंसा, सत्य और वहिर्धादान का उल्लेख है[5]। स्थानांग एवं उत्तराध्ययन सूत्र में भी इनकी व्याख्या मिलती है। हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरत रहने को व्रत कहते हैं[6]। इन पाँच पापों को एक देश से त्याग को अनुव्रत और पूरी तरह से त्याग करने को महाव्रत कहते हैं[7]। इन व्रतों को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। जिनको ध्यान में रखने से व्रत दृढ हो जाते हैं। अहिंसा व्रत की भावनाएँ इस प्रकार हैं—वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन। वचन की प्रवृत्ति को अच्छी रीति से रोकना मनोगुप्ति हैं, पृथ्वी को देखकर सावधानीपूर्वक चलना ईर्या समिति है। सावधानीपूर्वक देखकर वस्तु को उठाना और रखना आदान निक्षेपण समिति है। दिन में अच्छी तरह देखभाल कर खाना-पीना आलोकित पान भोजन है[8]। इन व्रतों के विरोधी जो हिंसा आदि हैं, उनसे विमुख रहने के लिए उपाय एवं भावनाएँ बतलाई गई हैं। विचारना कि हिंसा आदि पाँच-पाँच इस लोक और

---

* रिसर्च एसोसिएट, पालि एवं बौद्ध-अध्ययन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

१. श्रमण सुत्तम, १५८।
२. अवसेसा तस्स खरवट्टा। पञ्चसंग्रह द्वार।
३. अहिंसा शस्य संरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादि व्रतानाम्। हरिभद्रीय अवटक १६।५
४. द्र० अहिंसा तत्त्वदर्शन, पृ० ३।
५. आचाराङ्ग ७।१४००।
६. हिंसाऽनृत स्तेया ब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। तत्वार्थसूत्र ७।१ पृ० १५६।
७. तत्वार्थसूत्र ७।४।
८. वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परलोक में विनाशकारी तथा निन्दनीय है। हिंसा आदि पाप दुःख रूप हैं। समस्त प्राणियों के प्रति ऐसी भावना की किसी भी प्राणी को दुःख न हो। गुणवान् पुरुषों को देखकर हर्षित होना और अपनी भक्ति प्रकट करना। दुःखी प्राणियों को देखकर एवं उद्वृत्त लोगों में मध्यस्थ भाव रखना[1]। अहिंसा व्रत के पाँच अतिचार भी बतलाए गए हैं—बध, पदच्छेद, अतिभार आवेषण, और अन्नपान निरोध[2]।

तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाद के योग से ही हिंसा स्वीकार की गई है। अनजान में हुई हिंसा को उनके फल से मुक्त बतलाया गया है तथा हिंसा व विचार करने पर भी हिंसा का दोषी बतलाया गया है[3]।

जैन परम्परा में किसी प्रकार मांसाहार को स्वीकार नहीं किया गया है। न केवल साधु अपितु गृहस्थ भी आजतक इसका पालन कर रहे हैं। धर्मानन्द कौशाम्बी ने आचारांग एवं भगवती सूत्र के कुछ उद्धरणों के आधार पर यह प्रतिपादित किया था कि जैन साधु एवं साध्वियाँ भी मांस ग्रहण करती थी[4]। श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल ने श्री महावीर स्वामीनो मांसाहार नामक लेख में भगवती सूत्रों के आधार पर भगवान् महावीर के मांस भक्षण की उल्लेख किया है[5]। इन सन्दर्भों की जैन समाज में तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी[6]। विद्वानों ने अपने स्पष्टीकरण दिए कि मूल अंशों के अर्थ भिन्न हैं। जैसे कबोरा का अर्थ कबूतर नहीं है अपितु भूरे रंग का एक फल कूष्मांड है। कुक्कुट का अर्थ मुर्गा या मुर्गी न होकर बिजोरा नामक फल है। मांस शब्द फलों के भीतर गूदे के लिए व्यवहृत होता है। अस्थि का अर्थ हड्डी नहीं बल्कि फलों के बीज और गुठलियाँ है[7]। इन रूप सन्दर्भों को समझने के बाद कौशाम्बीजी ने अपने मत में सुधार कर लिया था। इस विवाद के बीच आचार्य विनोबाभावे ने भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। कहा था कि ऋषि मांस नहीं खाते थे मैं ऐसा नहीं मानता, परन्तु भगवान् महावीर का जीवन, उनके उपदेश सूक्ष्म अहिंसा का पालन तथा आत्यन्तिक सत्य के लिए तनिक भी चलित न होनें की उनकी मनोवृत्ति देखते हुए मैं निःसंदेह मानता हूँ कि भगवान् महावीर कभी मांसाहार कर ही नहीं सकते। मैं पंडितों के साथ चर्चा करना नहीं चाहता, किन्तु उनके जीवन से विसंगत ऐसा अर्थ वे क्यों जोड़ सकते होंगे यह

---

१. मैत्री-प्रमोद कारुण्य-माध्यस्थानी च पत्त्व-गुणाधिक क्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ वही ७।११
२. वही
३. तत्वार्थसूत्र (पं० कैलाश चन्दशास्त्री) पृ० १६२।
४. भगवान् बुद्ध जीवन और दर्शन (धर्मानन्द कौशाम्बी)।
५. प्रस्थान गुजराती मासिक पत्रिका, कार्तिक सं० १९९५, वर्ष १४ अङ्क में प्रकाशित लेख।
६. जैन धर्म और मांसाहार परिहार शाह रतिलाल मकाभाई अनु० प्रो० डॉ० अमरसिंह। जगराम लोधा, प्रकाशक हिंसा निरोधक संघ अहमदाबाद–१।
७, भगवान् बुद्ध जीवन और दर्शन, पादटिप्पणी, पृ० २२६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेरी बुद्धि में नहीं उतरता। मैं मानता हूँ कि यह शाब्दिक खेल का प्रश्न नहीं है। पर हृदय की सूझ-बूझ का प्रश्न है। यदि भगवान् महावीर में तनिक भी त्रुटि नजर आती तो विश्व भर में अनन्य ऐसा निरामिषहारी जैन संघ स्थापित करने योग्य शक्ति ही वे न प्राप्त कर सकते[1]।

जैन बौद्धों पर मांसाहार का आरोप लगाते रहे हैं। यदि वे स्वयं ऐसा करते होते तो बौद्धों पर यह आरोप क्यों लगाते। बौद्ध साहित्य में भी कहीं जैनियों पर यह आरोप नहीं लगाया गया है।

इस सन्दर्भ में आवश्यक है कि जैन आगमों एवं साहित्य में इस तरह के सन्दर्भों की खुली एवं स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए जिससे भविष्य में पुनः किसी प्रकार की भूल न हो।

---

१. "जैन धर्म और मांसाहारपरिहार" से उद्धृत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा का महत्त्व

जितेन्द्र वी० शाह*

यदि कोई गणितज्ञ संसार के धर्मों का महत्तम समापवर्तक निकाले तो उसे अहिंसा ही सभी धर्मों के सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में प्राप्त होगी। सभी धर्मों ने अहिंसा को सर्वोत्तम महत्त्व दिया है। जैन धर्म में पाँच व्रतों में अहिंसा को प्रथम स्थान में रखा गया है और शेष चार व्रत अहिंसा की सुरक्षा के लिए बतलाए गए हैं। कहा गया है कि अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी सुरक्षा करने वाले बाड़े हैं। बौद्ध धर्म में भी अहिंसा को ही धर्म का सार कहा है। इसी प्रकार महाभारत में अहिंसा को परम-श्रेष्ठ धर्म कहा है। उसमें कहा गया है कि अहिंसा धर्म और अर्थ दोनों ही पुरुषार्थ से कोष्ठ हैं। सभी धर्म इसके अन्दर समाविष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार हाथी के पदचिह्नों में अन्य प्राणियों का पदचिह्न समा जाते हैं। अतः अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। वही धर्म का प्राण या हृदय है। आचारांग में उसे शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म कहा गया है। उसके आचरण करने पर ही सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह आदि का आचरण हो सकता है। मानव जीवन के जितने भी सद्गुण हैं उन सबके मूल में अहिंसा की भावना ही है। मानवता को प्राप्त करने के लिए अहिंसा का आचरण आवश्यक है। अहिंसा के बिना मानव मानव नहीं कहला सकता।

वस्तुतः सब जीव के कल्याण की भावना ही अहिंसा है। सब प्राणियों को जीवन प्रिय है। सब सुख के अभिलाषी हैं, दुःख सभी को प्रतिकूल है, वध सभी को अप्रिय है, सभी जीने की इच्छा रखते हैं। इससे किसी को मारना अथवा कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। अहिंसा भावना अन्य प्राणियों के प्रति आत्मभाव से ही फलित होती है। जब तक हम संसार के सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान नहीं समझते हैं तब तक अहिंसा अशक्य है। आचारांग में कहा गया है कि तूं जिसे मारना चाहता है वह तूं ही है। जीवों की हिंसा न करना-न मारना ही अहिंसा नहीं है अपितु मन, वाणी एवं कर्म इनमें से किसी के भी द्वारा किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचाना ही अहिंसा है। अहिंसा केवल निषेधात्मक ही नहीं दया, करुणा और सेवा यह अहिंसा के विधायक पक्ष हैं। जो जीव कष्ट या पीड़ा में है उनको अपने दुःख से मुक्त करना अहिंसक का प्रथम कर्तव्य है। जैनों की अहिंसा केवल नकारात्मक ही नहीं है किन्तु विधेयात्मक भी है। जैन धर्म में व्यावृत्त या सेवा को एक तप माना गया है मगर किसी को नहीं मारना यही अहिंसा नहीं है, किसी की सेवा करना या किसी की पीड़ा दूर करना यह भी अहिंसा है। अहिंसा के इसी विधायक पक्ष से ही सामाजिक जीवन और सामाजिक चेतना प्रतिफलित होते हैं।

---

* पी० वी० जैन शोध संस्थान, वाराणसी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डॉ० सागरमल जैन का कहना है कि अहिंसक-चेतना अर्थात् संवेदनशीलता के अभाव में समाज की कल्पना ही सम्भव नहीं है। समाज जब भी खड़ा होता है आत्मीयता, प्रेम और सहयोग के आधार पर ही खड़ा होता है। अर्थात् अहिंसा के आधार पर खड़ा होता है। क्योंकि हिंसा का अर्थ घृणा, विद्वेष, आक्रामकता है। जहाँ भी ये वृत्तियाँ बलवती होंगी सामाजिकता की भावना समाप्त हो जावेगी, समाज ढह जावेगा। अतः समाज और अहिंसा सहगामी हैं। दूसरे शब्दों में यदि हम मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं तो हमें यह मानना होगा कि अहिंसा उसके लिए स्वाभाविक ही है। जब भी कोई समाज खड़ा होगा और टिकेगा तो वह अहिंसा की भित्ति पर ही खड़ा होगा और टिकेगा।

अहिंसा केवल बाह्य नहीं है आन्तरिक भी है। बाह्य अहिंसा का सम्बन्ध समाज से होता है और आन्तरिक अहिंसा का सम्बन्ध व्यक्ति से। इस सन्दर्भ में जैन आचार्यों ने हिंसा के दो रूप माने हैं स्व की हिंसा और पर की हिंसा। दूसरों को कष्ट देना या पीड़ा पहुँचाना पर की हिंसा है किन्तु अपने सद्गुणों को नष्ट करना स्व की हिंसा है। जैन, बौद्ध और गीता का तुलनात्मक अध्ययन में कहा गया है कि जब हिंसा हमारे स्व स्वरूप का या स्वभाव दशा का घात करती है तो स्व-हिंसा है और जब वह दूसरों के हितों को चोट पहुँचाती है वह पर की हिंसा है। स्व की हिंसा के रूप में वह आन्तरिक पाप है तो पर की हिंसा के रूप में वह सामाजिक पाप किन्तु उसके ये दोनों रूप दुराचार की कोटि में ही आते हैं। अतः अपने इस व्यापक अर्थ में हिंसा को दुराचार की और अहिंसा को सदाचार की कसौटी माना जा सकता है।

जैनों के अनुसार समस्त सद्गुण अहिंसा में निहित है। प्रश्न-व्याकरण-सूत्र में अहिंसा के ६० नाम दिये गये हैं। इन नामों में हम देखते हैं कि मानवीय गुणों के समस्त पक्ष उपस्थित हैं। अहिंसा मानवीय गुणों का पूंजीभूत तत्त्व है। मानवीय गुणों में सबसे महत्त्वपूर्ण गुण विवेक है और यह विवेक केवल अहिंसक जीवनदृष्टि में ही जीवित रह सकता है। हिंसा के के लिए आवेश और आक्रोश आवश्यक है। बिना आवेश और आक्रोश के हिंसा संभव नहीं है। किन्तु हम देखते हैं जहाँ आवेश और आक्रोश होते हैं वहाँ विवेक नष्ट हो जाता है। अतः विवेक को जीवित रखने के लिए अहिंसा आवश्यक है।

मानवतावाद के विचारकों ने विवेक को प्राथमिक मानवीय गुण माना है। सी० बी० गर्नेट और इज्राइल के अनुसार नैतिकता विवेकपूर्ण जीवन जीने में है। विवेक या प्रज्ञा सर्वोच्च सद्गुण है और विवेकपूर्ण जीवन जीने में ही नैतिकता की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु ऐसी अभिव्यक्ति अहिंसा के बिना शक्य नहीं है। जैन परम्परा में विवेकपूर्ण आचरण को ही अहिंसा कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र में जो जीवन को विभिन्न क्रियाओं को विवेक या सावधानीपूर्वक सम्पादित करता है वह अनैतिक आचरण को नहीं करने वाला बतलाया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विवेक और अहिंसा एक दूसरे के सहगामी हैं। विवेक ही हमें यह बताता है कि संसार के दूसरे प्राणी हमारे समान हैं। इसी समानता की भावना या आत्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वत् दृष्टि से अहिंसा का जन्म होता है। विवेक से अहिंसा प्रतिफलित होती है और अहिंसा में विवेक जीवित रहता है। इस प्रकार विवेक और अहिंसा दोनों अन्योन्याश्रित हैं और हम यह बात जानते हैं कि विवेक के अभाव में मनुष्य मनुष्य नहीं रहता है। मनुष्य को मनुष्य होने के लिए विवेकवान् होना जरूरी है। किन्तु हमारा विवेक जीवित और जाग्रत रहे उसके लिए अहिंसक होना आवश्यक है।

मनुष्य और पशु में अन्तर स्थापित करने वाला दूसरा तत्त्व संयम है। संयम का अर्थ अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण रखना है। दूसरे शब्दों में अपने हितों के समर्पण का भाव है। अहिंसा तब ही जीवित और जाग्रत रह सकती है जब हममें अपने हितों के समर्पण की वृत्ति हो। इन हितों के समर्पण की वृत्ति को जैन परम्परा में हम त्याग के नाम से जानते हैं। यह त्याग या अहिंसा ही संयम है। इसके विपरीत भोगाकांक्षा या स्वार्थवृत्ति हिंसा है। भोग या स्वार्थ शोषण को जन्म देता है। त्याग और संयम समर्पण और सेवा की भावना को जीवित रखते हैं। यह समर्पण और सेवा की भावना अहिंसक जीवन दृष्टि में हो सम्भव हो सकती है।

मनुष्य और पशु में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर करुणा और क्रूरता को लेकर भी है। मनुष्यता का विकास क्रूरता में नहीं करुणा में है। जिसमें यह करुणा की धारा जितनी अधिक वेगवती होती है वह उतना ही मनुष्यत्व के निकट होता है। हिंसक कभी भी कारुणिक नहीं हो सकता है। हिंसा और क्रूरता दोनों एक सिक्के के ही दो पहलू हैं। क्रूरता के बिना हिंसा सम्भव नहीं है। जिसमें करुणा की भावना नहीं है उसका सारा तप, त्याग, दान और धर्म सब व्यर्थ माना है। हिंसा के लिए क्रूरता आवश्यक होती है। क्रूरता से चित्त की कोमलता नष्ट होती है। परिणामस्वरूप करुणा का स्रोत सूख जाता है। स्वार्थलिप्सा, शोषण आदि बढ़ते हैं जिससे घृणा, विद्वेष के तत्त्व विकसित होता है इससे सामाजिक शान्ति और सहयोग की भावना समाप्त हो जाती है।

हम यह मानते हैं कि अहिंसा का मूल मैत्री और करुणा की भावना में है। मैत्री और करुणा का भाव ही हिंसक भाव का नाश करके अहिंसा के लिए एक आधार भूमि तैयार करता है। इसीलिए जैन परम्परा में साधक के लिए यह कहा गया है कि वह प्रतिदिन यह भावना भावे कि मेरी सभी प्राणियों के प्रति मित्रता है और किसी के प्रति वैर नहीं है। क्योंकि मैत्री का भाव विद्वेष और घृणा का शमन करना है और करुणा का भाव हमारे मन में दूसरे के प्रति कल्याण की भावना को जाग्रत करता है और इसी से अहिंसा का आचरण सम्भव होता है।

१. अहिंसैषा मता मुख्या''''एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम्। हरिभद्रीय अष्टक १६।५।

२. एक्कं चिय एक्कं निद्दिट्ठं जिणवरे हि सव्वेहिं णाणइ वायविरमण-सत्वसत्तस्स रक्खट्ठा। पञ्चसङ्ग्रह द्वार।

३. अहिंसा शस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादि व्रतानाम्–हरिभद्रीय अष्टक १६।५।

४. धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागता। चतुःशतकम् २९८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. अहिंसा परमो धर्मः। महाभारत, अनुशासन पर्व० अ० ११६, श्लो० २८।

६. यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापि धीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे॥ १८
एवं सर्वमहिंसाया धर्मार्थमपि धीयते।

७. सव्वे पाणा, सव्वे भूया······· न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे, नियए सासए। आचारांग ४–१–१२५।

८. अहिंसा गहणे पंच महव्वयाणि गहियाणि भवंति। संजमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उवज्जेहं वहइ, सपुण्णाय अहिंसाय संजमो वि तस्स वहइ। दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन।

९. सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अपियवहा, सव्वेसिं जीवियं पिय॥
आचारांग १-२।३-७।

१०. सव्वभूयप्पभूठास्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
विहिआवस्स दंतस्स, पाव कम्मं न बंधइ॥ दशवै० ४।९।

११. जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारये दंडं, मणसा, वयसा, कायसा चैव॥ उत्तराध्ययन अ० ८।१०

१२. अहिंसा की सम्भावनाएँ, डॉ० सागरमल जैन।

१३. यस्मात् सकषाय–पृ० १५ सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायते न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥ ४७॥
पुरुषार्थ सिद्धयुपाय। अमृतचन्द्र

१४. डा० सागरमल जैन—
जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा० १–पृ० १७४।

१५. प्रश्नव्याकरण सूत्र० १–२।

१६. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।
जयं भुंजंतो, भासंतो, पाव कम्मं न बंधइ॥ दश० ४–८।

१७. खामेमि सव्व जीवें, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्तीमे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ॥ ४९॥ पंचप्रतिक्रमण, वंदितुसूत्र।

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन शिक्षादर्शन में शिक्षार्थी की योग्यता एवं दायित्व

विजय कुमार*

मानव जीवन सभी जीवनों में श्रेष्ठ माना गया है और विद्यार्थी जीवन को मानव जीवन में भी सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। या, यों कहा जाए कि विद्यार्थी जीवन अन्य जीवनों की रीढ़ है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। क्योंकि जिस प्रकार विशाल भवन के निर्माण में नींव के प्रथम पत्थर या ईंट का जो महत्वपूर्ण स्थान होता है, उसी प्रकार मानव जीवन के निर्माण में विद्यार्थी जीवन का सर्वोपरि स्थान होता है। ब्राह्मण संस्कृति में जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है जिनमें पहला भाग विद्यार्थी जीवन ही है, जिसे ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से जानते हैं। श्रमण-परम्परा में ब्रह्मचर्याश्रम का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है, क्योंकि श्रमण परम्पराओं ने आध्यात्मिक जीवन पर अधिक बल दिया है। फिर भी, जैन ग्रन्थ आदि-पुराण में जिनसेनाचार्य ने ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा भिक्षुक आदि चार आश्रमों को स्वीकार किया है[1]।

प्राचीन काल में शिक्षार्थी को विद्या अर्जन के लिए आचार्य के आश्रम में जाना पड़ता था, जो अरण्य में रहा करते थे। गुरु (आचार्य) प्रायः सांसारिक विषय भोगों से विरक्त साधु हुआ करते थे। जिनसे शिक्षार्थियों को न केवल किताबी ज्ञान ही मिलता था अपितु व्यवहारिक जीवन का भी ज्ञान प्राप्त होता था। शिक्षार्थी का अर्थ होता ही है शिक्षा + अर्थी। अर्थात् जो शिक्षा यानी विद्या का इच्छुक हो, वह शिक्षार्थी कहा जाता है। विद्यार्थी के लिए 'छात्र' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। छात्र की व्युत्पत्तिमूलक अर्थ बताते हुए व्याकरणाचार्य पण्डित तारणीश झा ने कहा है—"छत्रं गुरोर्दोषावरणं, तत् शीलमस्य सः छात्रः"[2]। अर्थात् गुरु के दोषों पर आवरण डालना छत्र है तथा जिसका इस प्रकार का आचरण, वह छात्र है।

अध्ययन काल

जैनागम के अनुसार बालक का अध्ययन कुछ अधिक ८ वर्ष से प्रारम्भ होता है। महावीर ने भी आठ वर्ष की उम्र में लेखशाला में प्रवेश किया था। महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ ने महावीर को लेखशाला में भेजने से पूर्व नैमित्तिकों को बुलाकर मुहूर्त निकलवाया और स्वजनों को निमंत्रित कर उनका सत्कार किया। तत्पश्चात् वाग्देवी की प्रतिमा पूजन के लिए

---

* शोध-छात्र, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. ब्रह्मचारीगृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथभिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥ १५१ ॥ आदिपुराण ३८ वाँ अध्याय।

२. संस्कृत शब्दार्थ-कोश।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्होंने नाना रत्नों से जटित स्वर्ण के आभूषण बनवाये तथा आचार्य को बहुमूल्य वस्त्राभूषण एवं नारियल आदि भेंट में दिये। लेखशाला में विद्यार्थियों को मषिपात्र, लेखनी दी। साथ ही द्राक्षा, खडशर्करा, चिरौंजी और खजूर आदि वितरित किया। तदुपरान्त महावीर ने तीर्थ जल से स्नान कर, सर्वालंकार से विभूषित हो, महाछत्र आदि धारण किये हुए, चामरों से वीज्यमान चतुरंग सेना से परिवृत गाजे-बाजे के साथ लेखशाला में प्रवेश किया[1]।

इसी प्रकार महाबल कुमार[2] तथा दृढ़प्रतिज्ञ[3] आदि के शिक्षा ग्रहण करने के सम्बन्ध में कहा गया है। इस उत्सव को जैनागमों में उपनयन कहा गया है। लेकिन अभयदेव ने उपनयन का अर्थ कला ग्रहण किया है। कला का अर्थ है—विद्या। विद्या ग्रहण के समय जो उत्सव मनाया जाता है, उसे उपनयन कहा गया है[4]। किन्तु आदिपुराण में विद्यारम्भ करने के समय में चार प्रकार के संस्कार बताये गये हैं। जो निम्न प्रकार से हैं—

(१) लिपि संस्कार : वैदिक ग्रन्थों में उपनयन संस्कार के पश्चात् ही शिक्षा का प्रारम्भ बताया गया है अर्थात् लिपिज्ञान, अंकज्ञान या शास्त्रों आदि का उपनयन के बाद ही आरम्भ किया जाता है, परन्तु आदिपुराण में उपनीति-क्रिया के पूर्व लिपि संस्कार करने का वर्णन आया है। जब बालक पाँच वर्ष का हो जाए तब उसका विधिवत् अक्षरारम्भ कराना चाहिए[5]। उपनयन तो माध्यमिक शिक्षा के पूर्व होता है।

लिपि संस्कार की विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बालक के पिता को यथाशक्ति पूजन सामग्री लेकर श्रुत देवता का पूजन करना चाहिए और अध्ययन कराने में कुशल व्रती गृहस्थ को ही उस बालक के अध्यापक पद पर नियुक्त करना चाहिए[6]। इस विधि में बालक अ, आ आदि वर्णमाला तथा इकाई, दहाई आदि अंकों का ज्ञान प्राप्त करता है। तदुपरान्त बालक को स्वर, व्यंजन, संयुक्ताक्षर, योगबाह आदि का अभ्यास करना होता है[7]। अतः आदिपुराण के अनुसार लिपि संस्कार के बाद उपनयन संस्कार का विधान है।

(२) उपनीति-क्रिया : गर्भ से आठवें वर्ष में बालक की उपनीति क्रिया होती है। वैदिक ग्रन्थों में जिसके लिए संस्कार शब्द का प्रयोग किया गया है उसी के लिए आदिपुराण क्रिया शब्द से इंगित किया गया है। इस क्रिया में केशों का मुण्डन, व्रतबन्धन तथा तीन

---

१. कल्पसूत्र टीका ५, १२०।
२. भगवती सूत्र भाग–४, ११।११।४०५।
३. राजप्रश्नीय सूत्र–४०९।
४. भगवती (अभयदेववृत्ति)—११।११।४२९, पृ० ९९९।
५-६. ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने। ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपि संख्यान् संग्रह।
—आदिपुराण, ३८।१०२।
७. आदिपुराण—१६।१०५–१०७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लरियों की बनी मूंज की मेखला धारण किया जाता है[1]। तत्पश्चात् सफेद धोती धारण करने का विधान है। जो चोटी रखता है, जिसकी सफेद धोती और सफेद दुपट्टा है, जो विकारों से रहित है तथा जो व्रत के चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीत सूत्र को धारण किए हुए है वह ब्रह्मचारी कहलाता है। जिनालय में जाकर अर्हंतदेव की पूजा करना आवश्यक बताया गया है। राजपुत्रों को छोड़कर सभी के लिए भिक्षावृत्ति का विधान है। राजकुमारों को अन्तःपुर में जाकर माता-पिता से भिक्षा माँगनी चाहिए, क्योंकि उस समय भिक्षा लेने का नियोग है। भिक्षा में प्राप्त वस्तु का अग्रभाग श्री अरहन्तदेव को समर्पण कर बाकी बचे हुए योग्य अन्न को ग्रहण करना चाहिए[2]।

(३) व्रतचर्या : व्रतचर्या संस्कार में कमर में तीन लर की मौंजी की मेखला पहनी जाती है, जो कि रत्नत्रय की विशुद्धि का प्रतीक मानी गयी है। सफेद धोती का पहनना उसके जाँघ का चिह्न है जो सूचित करती है कि अरहन्तदेव का कुल पवित्र और विशाल है। सात लर का गूंथा हुआ यज्ञोपवीत सात परम स्थानों का सूचक है। स्वच्छ और उत्कृष्ट मुण्डन सिर का चिह्न है जो मन, वचन और काय की पवित्रता का द्योतक है। इस प्रकार के चिह्नों से विशुद्ध और ब्रह्मचर्य आदि व्रत को धारण करना व्रतचर्या संस्कार है[3]।

व्रतचर्या का अभिप्राय विद्याध्ययन के समय कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक का होना है जिससे विद्याध्ययन में कोई बाधा न हो। शिक्षार्थी का एक ही उद्देश्य रहता है, विद्या ग्रहण करना और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न रहता है।

(४) व्रतावरण क्रिया : समस्त विद्याओं के अध्ययन के पश्चात् व्रतावरण क्रिया होती है। यह क्रिया गुरु के साक्षीपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की पूजा कर बारह अथवा सोलह वर्ष बाद की जाती है। व्रतावरण के बाद ब्रह्मचर्य धारण करते समय वस्त्र, आभूषण और माला आदि का जो त्याग किया गया था, वह गुरु की आज्ञा से ग्रहण किया जा सकता है[4]। जो शास्त्रोपजीवी अर्थात् क्षत्रिय वर्ग के हैं वे पुनः अपनी आजीविका के लिए शस्त्र धारण कर सकते हैं। इसी प्रकार वैश्य कृषि, व्यापार आदि कार्यों में प्रवृत्त हो सकते हैं। विद्यार्थी ब्रह्मचर्य धारण

---

१. क्रियोपनीतिर्नामाऽस्य वर्षे गर्भाष्टमे मता।
यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जी सव्रतबन्धना॥ आदिपुराण—३८।१०४।

२. शिखी सितांशुकः सान्तर्वासा निर्वेषविक्रियः।
व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ॥
चरणोचितमन्यच्च नामधेयं तदस्य वै।
वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात्॥
सोऽन्तःपुरे चरेत् पात्र्यां नियोग इति केवलम्।
तदग्रं देवसात्कृत्य ततोऽन्नं योग्यमाहरेत्॥ आदिपुराण—३८।१०६–१०८।

३. वही—३८।११०–११३।

४. वही—३८।१२३–१२४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते समय मधु त्याग, मांस त्याग, पाँच उदुम्बर फलों का त्याग तथा हिंसादि स्थूल पापों का त्यागकर सदाचारमयी प्रवृत्ति को अपनाता था जो व्रतावरण क्रिया के बाद भी जीवन पर्यन्त रहने वाले व्रत हैं[1]।

शिक्षार्थी की योग्यताएँ

प्राचीन काल में विद्यार्थियों को ज्ञानार्जन के लिए आश्रमों में गुरु के पास जाना पड़ता था। उन विद्यार्थियों में कुछ कोमल स्वभाव तथा मृदुभाषी हुआ करते थे तथा कुछ उद्दण्ड प्रवृत्ति के होते थे, जिन्हें जैनग्रन्थों में क्रमशः विनीत और अविनीत नाम से अभिहित किया गया है। विनयी का चित्त अहंकाररहित, सरल, विनम्र और अनाग्रही होता है, ठीक इसके विपरीत अविनयी, अहंकारी, कठोर, हिंसक और विद्रोही प्रवृत्ति का होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में विनीत और अविनीत को परिभाषित करते हुए कहा गया है—"जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, गुरु के सानिध्य में रहता है, गुरु के इंगित एवं आकार अर्थात् संकेत और मनोभावों को जानता है, वह विनीत है।" और, "जो गुरु को अज्ञा का पालन नहीं करता, गुरु के सानिध्य में नहीं रहता है, गुरु के प्रतिकूल आचरण करता है, असम्बुद्ध है अर्थात् तत्वज्ञ नहीं है, वह अविनीत कहलाता है[2]।

विनीत शिक्षार्थी के लक्षण

जैन ग्रन्थों में विनीत के निम्नलिखित गुण बतलाये गये हैं—

(१) जो नम्र हो, (२) जो अस्थिर नहीं हो, (३) छल-कपट से रहित, (४) अकुतूहली, (५) किसी की निन्दा न करना, (६) क्रोध को अतिसमय तक न रखना, (७) मित्रों के प्रति कृतज्ञ, (८) ज्ञान को प्राप्त करने पर अहंकार न करना, (९) स्खलता होने पर दूसरों का तिरस्कार न करना, (१०) मित्रों पर क्रोध न करना, (११) अप्रिय मित्र के लिए एकान्त में भी भलाई की कामना करना, (१२) वाक्-कलह और हिंसादि न करना, (१३) अभिजात (कुलीन) होना, (१४) लज्जाशील होना और (१५) प्रतिसंलीन अर्थात् विषय के प्रति जागरूक रहना आदि[3]।

शिक्षाशील वह है जिनमें निम्नोक्त आठ गुण पाये जाते हैं—(१) अट्टहास न करने वाला, (२) जो सदा शान्त रहता हो, (३) किसी भी मर्म का उद्घोषण न करने वाला,

---

१. मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम्।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम्॥ आदिपुराण—३८।१२२।

२. आणानिद्देसभरे, गुरुणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, से 'विणीए' त्ति वुच्चई॥
आणाऽनिद्देसकरे, गुरुणमणुववायकारए।
पडिणीए असंबुद्धे, 'अविणीए' त्ति वुच्चई॥ उत्तराध्ययन—१।२।३।

३. उत्तराध्ययन—१०।११-१३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) अश्लील अर्थात् चरित्रहीन न हो, (५) विशील, (६) खान-पान का लोलुपी न हो, (७) अक्रोधी हो और (८) सत्य में सदा अनुरक्त हो। इन आठ स्थितियों में ही व्यक्ति शिक्षाशील होता है[१]। आवश्यक निर्युक्ति में सुयोग्य शिष्य के बारे में कहा गया है कि—वह गुरु के पढ़ाये हुए विषय को ध्यानपूर्वक सुनता है, प्रश्न पूछता है, ध्यानपूर्वक उत्तर सुनता है और अर्थ ग्रहण करता है, उस पर चिन्तन करता है, उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करता हैं, उसके अर्थ को याद रखता है और तदनुसार आचरण करता है[२]। इसी प्रकार आदिपुराण में भी विनीत शिक्षार्थी के आठ लक्षण निरूपित किये गये हैं। जो इस प्रकार हैं[3]—

(१) शुश्रूषा—सत्कथा को सुनने की इच्छा होना शुश्रूषा गुण है।

(२) श्रवण—सुनना।

(३) ग्रहण—किसी भी विषय को समझकर ग्रहण करना।

(४) धारण—पठित विषय को बहुत समय तक या सदैव स्मरण रखने की क्षमता।

(५) स्मृति—पिछले समय ग्रहण किए हुए उपदेश आदि का स्मरण करना।

(६) ऊह—तर्क द्वारा पदार्थ के स्वरूप के विचार करने की शक्ति होना।

(७) अपोह—हेय वस्तुओं को छोड़ना अपोह है।

(८) निर्णीत—युक्ति द्वारा पदार्थ का निर्णय करना निर्णीत गुण है।

विनीत शिक्षार्थियों में उपर्युक्त सभी गुणा का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि विनय ही विद्यार्थी जीवन का मूल है। विनय से ही विद्यार्थी को यश, कीर्ति, ज्ञान, प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होते हैं।

अविनीत शिक्षार्थी के लक्षण

अविनीत शिक्षार्थी के चौदह प्रकार के दोष बताये गये :—

(१) बार-बार क्रोध करना, (२) क्रोध को लम्बे समय तक रखना, (३) मित्रता को ठुकराना, (४) ज्ञान प्राप्त कर अहंकार करना, (५) स्खलना होने पर दूसरों का तिरस्कार करना, (६) मित्रों पर क्रोध करना, (७) प्रिय मित्रों की भी परोक्ष में शिकायत करना, (८) असम्बद्ध प्रलाप करना, (९) द्रोह करना, (१०) अभिमान करना, (११) रस लोलुप होना, (१२) अजिते-

---

१. अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्ममुदाहरे॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई॥ वही—११।४–५।

२. आवश्यक निर्युक्ति—२२।

३. शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणं तथा।
स्मृत्यूहा पोह निर्णीतो श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः॥ आदिपुराण—१।१४६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्द्रिय होना, (१३) असंविभागी अर्थात् साथियों का सहयोग न करना और (१४) अप्रीतिकर यानी दूसरों का अप्रिय करना[1]।

अविनीत शिक्षार्थी के कुछ कार्यों का वर्णन आया है जिससे उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है—

गुरु द्वारा अनुशासित किये जाने पर बीच में बोलना, आचार्य के वचनों में दोष निकालना तथा उनके वचनों के प्रतिकूल आचरण करना। किसी कार्य विशेष से भेजने पर नाना प्रकार के बहाने बनाना, किसी गृहस्वामिनी के सम्बन्ध में कहना कि वह मुझे नहीं जानती इसलिए मुझे शिक्षा नहीं देगी या वह घर से बाहर गयी होगी। अतः किसी दूसरे साधू को भेज दीजिए या जाना पड़ा तो इधर-उधर से घूमकर लौट आना तथा पूछने पर राजाज्ञा की तरह भृकुटि तानकर जवाब देना[2]। इसी तरह कुछ शिष्य ऐश्वर्य, रस तथा सुख का गौरव कर विषय भोगों में निमग्न रहते हैं। भिक्षा माँगना अपमान है ऐसा समझ कर भिक्षा के लिए नहीं जाते हैं और भिक्षा माँगने में अलस्य करते हैं[3]। जिस प्रकार दुष्ट बैल गाड़ी में जोते जाने पर कभी समिला अर्थात् जुए की कील को तोड़ देता है, कभी गाड़ी को उन्मार्ग पर ले जाता है कभी सड़क के पार्श्व में बैठ जाता है तो कभी गिर पड़ता है, कभी कूदता है तो कभी उछलता है और कभी जुए को तोड़ता हुआ तरुण गाय के पीछे भाग जाता है। इतना ही नहीं उसी में कोई धूर्त बैल होता है जो मृतक-सा भूमि पर पड़ रहता है। ठीक इसी प्रकार धैर्य में कमजोर शिष्य धर्मयान में जोतते हुए गुरु द्वारा संयमित किये जाने पर विभिन्न प्रकार की कुचेष्टाएँ करते हुए गुरु को पीड़ित करते हैं[4]। पुनश्च कहा गया है कि जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसि को छोड़कर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार अज्ञानी शिष्य शील, सदाचार छोड़कर दुःशील दुराचार में रमण करता है[5]। अपने गुरु के प्रति आशातनाओं का आचरण करता है। आशातनाएँ तैंतीस प्रकार की बतलायी गयी हैं जो निम्नवत् हैं[6]—

१—मार्ग में गुरु के आगे चलना।

२—मार्ग में गुरु के बराबर चलना।

३—गुरु के पीछे अकड़कर चलना।

---

१. उत्तराध्ययन—११.६–९

२. वही—२७.११–१३

३. इड्ढीगारविए एगे, एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे, एथे सुचिरकोहणे॥
भिक्खालसिए एगे, एगे ओभाणभीरुए थद्धे। उत्तराध्ययन–२७-९-१०।

४. वही २७-४-८

५. कण-कुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए॥ वही–१.५

६. समवायांग—समवाय ३३, श्रमण-सूत्र-४७६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४-६—गुरु के आगे बराबर पीछे अड़कर बैठना आदि तीन आशातनाएँ।

६-९—गुरु के आगे, बराबर तथा पिछे खड़ा होना आदि तीन आशातनएँ।

१०—यदि गुरु और शिष्य एक साथ एक पात्र में जल लेकर शौच शुद्धि के लिए बाहर गये हों तो गुरु से पूर्व आचमन तथा शौच शुद्धि करना।

११—बाहर से लौटने पर गुरु से पहले ही ईर्या पथ की आलोचना करना।

१२—रात्रि में जागते हुए भी गुरु के बुलाने पर न बोलना।

१३—गुरु से बात करने के लिए आये हुए व्यक्ति से, गुरु से पहले स्वयं बातचीत करना।

१४—आहार आदि की आलोचना पहले साधुओं के समक्ष कर बाद में गुरु के आगे करना।

१५—आहार आदि लाकर पहले साधुओं को दिखलाना।

१६—आहार आदि ग्रहण करने के लिए पहले साधुओं को आमंत्रित करना और बाद में गुरु को निमंत्रण देना।

१७—गुरु से पूछे बिना दूसरे साधु को उसकी इच्छानुसार प्रचुर आहार देना।

१८—गुरु के साथ आहार ग्रहण करते समय सुस्वादु आहार स्वयं खा लेना।

१९—गुरु के बुलाये जाने पर अनसुना कर देना।

२०—गुरु के प्रति या उनके सकक्ष मर्यादा से अधिक बोलना।

२१—गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर उत्तर में 'क्या कहते हो' आदि अभद्र शब्दों का प्रयोग करना।

२२—गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर आसन पर बैठे-बैठे बात सुनना और उत्तर देना।

२३—गुरु के प्रति तू शब्द का प्रयोग करना।

२४—किसी कार्य की आज्ञा को अस्वीकार करके उल्टा उन्हीं से कहना कि तुम ही कर लो।

२५—गुरु के धर्म कथा कहने पर ध्यान से न सुनना और अन्यमनस्क रहना।

२६—धर्मकथा करते समय बीच में ही टोकना—आप भूल गये हैं, यह ऐसे नहीं है इत्यादि।

२७—धर्मकथा करते समय बीच में भंग करना।

१८—धर्मकथा करते समय परिषद् का भेदन करना और कहना—कब तक कहोगे, भिक्षा का समय हो गया हैं।

२९—गुरु को नीचा दिखाने के लिए सभा में ही गुरु द्वारा कथित विषय का विस्तृत विवेचन करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३०—गुरु के शय्या संस्तारक को पैर से छूकर क्षमा माँगे बिना ही चले जाना।

३१—गुरुदेव की शय्या-संस्तारक पर खड़े होना, बैठना और सोना।

३२—गुरुदेव के आसन से ऊँचे आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना।

३३—गुरुदेव के आसन के बराबर आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना। इन तैंतीस आशातनाओं का पालन करके अविनीत शिक्षार्थी अपने आप को गौरवान्वित महसूस करते हैं।

दुराचारी शिष्य के बारे में तो यहां तक कहा गया हैं कि वे अपने आचार्य की आज्ञा पाकर हाथा-पाई भी कर बैठते थे। एक बार हरिकेशबल मुनि किसी ब्राह्मण के यज्ञवाटक में गये और भिक्षा की याचना की तो अपने गुरु का इशारा पाते ही खण्डिए (छात्रगण) मुनि को डंडों से, फलक से मारने-पीटने लगे जिससे उनके मुँह से खून निकलने लगा था[1]। इसी प्रकार इन्द्रपुर के राजा इन्द्रदत्त के बाइस पुत्र थे। जब राजा ने अपने पुत्रों को आचार्य के पास पढ़ने के लिए भेजा तो उन्होंने कुछ नहीं पढ़ा। आचार्य यदि कुछ कहते तो वे आचार्य को मारते-पीटते और दुर्वचन बोलते। यदि आचार्य उसको अनुशासित करते तो वे अपनी माँ से जाकर शिकायत करते। उनकी माँ आचार्य के ऊपर गुस्सा करती तथा ताना कसती कि क्या आप समझते हैं कि पुत्र कहीं से ऐसे ही आ जाते हैं[2]।

विनय के फल

विनय में शक्ति है जो जीवन को सच्ची प्राणवत्ता देते हैं, सच्ची दिशा देती हैं। यदि मनुष्य में विनय, शालीनता, सरलता, सादगी आदि सद्गुण नहीं है तो वह कहने मात्र का मनुष्य है, मानवता का स्वत्व उसमें कहाँ? जैनागमों में विनय के निम्नलिखित फल बताये गये हैं—

१—शिक्षण काल से पूर्व ही शिष्य के विनय-भाव से प्रसन्न होकर आचार्य अर्थगम्भीर और विपुल श्रुतज्ञान का लाभ करवाते हैं[3]।

२—वह तप, समाचारी, समाधि तथा पंचमहाव्रतों का पालन करके दिव्य-ज्योति को प्राप्त करता है[4]।

३—जिस प्रकार शकटादिवाहन को ठीक तरह से पहल करनेवाला बैल खुद को तथा अपने स्वामी को लेकर सुखपूर्वक जंगल को पार करता है ठीक उसी प्रकार विद्यार्थी स्व और

---

१. उत्तराध्ययन—१२, १८, २९ आदि।

२. उत्तराध्ययन टीका—३-६५ अ०।

३-४. पुज्जा जस्स पसीयन्ति, संबुद्धापुव्वसंथुआ।
पसन्ना लाभइस्सन्ति, विउलं अट्ठियं सुयं॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तवोसमायारिसमाहि संवुडे महमुई पंच वयाइं पालिया। उत्तराध्ययन–१-४६-४७।
पर का अर्थात् सम्पूर्ण संसार का कल्याण करता है[1]।

४—जिस प्रकार पृथ्वी सभी प्राणियों का आधार है उसी प्रकार योग्य शिष्य अपनी कीर्ति का विस्तार करके सबका आधार बनता है[2]।

५—जो शिष्य आचार्यों और उपाध्यायों की सेवा करते हैं उनका शिक्षा-ज्ञान खूब अच्छी तरह सींचे हुए वृक्षों की भाँति क्रमशः बढ़ता ही जाता है[3]।

६—जो समाचार प्राप्ति के लिए विनय का प्रयोग करते हैं, जो भक्तिपूर्वक गुरुवचनों को सुनकर एवं स्वीकृत करके कथित कार्य की पूर्ति करते हैं, जो कदापि गुरुश्री की आशातना नहीं करते वे शिष्य संसार में पूज्य होते हैं[4]।

७—जो शिष्य आचार्य को विनयभक्ति से सम्मानित करते हैं, वे स्वयं भी आचार्य से विद्यादान द्वारा सम्मानित होते हैं और यत्न से कन्या[5] के समान श्रेष्ठ स्थान पर स्थापित होते हैं। जो सत्यवादी, जितेन्द्रिय और तपस्वी साधु ऐसे सम्मान योग्य आचार्यों का सम्मान करते हैं, वे संसार में सच्ची पूजा-प्रतिष्ठा पाते हैं।

८—गुरुओं की विनयभक्ति करनेवाला, सदा नम्र रहनेवाला, मधुर एवं सत्य बोलनेवाला, आचार्यादि की नित्य सेवा-वन्दना करने वाला, उनके वचनों को शिरोधार्य करनेवाला शिष्य ही वस्तुतः पूज्य पुरुष होता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विनीत शिक्षार्थी ही सर्वश्रेष्ठ है। वह देव, गन्धर्व और मनुष्यों में पूजित तथा सर्वत्र आदर को प्राप्त करता है।

अविनय के फल

अविनीत शिक्षार्थी के लक्षण एवं कार्य के साथ-साथ अविनय के भी फल बताये गये हैं, जो इस प्रकार है—

---

१. वहणे वहमाणस्स, कान्तारं अरवत्तई।
जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई॥ उत्तराध्ययन–२७.१।

२. वही० १.४५।

३. जे आयरिय उवज्झायाणं, सुस्सूसावयणं करे।
तेसिं सिक्खापवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा॥ दशवैकालिक–९..१२।

४. आयारमट्ठा विणयं पउंजे, सुस्सूसमाणो पड़िजिज्झ वक्कं।
जहोवइट्ठं अभिकंखमारो, गुरुं तु नासाययई स पुज्जो॥ वही–९.३.१।

५. प्राचीन काल में भारतीय माता-पिता अपनी कन्याओं को बाल्यावस्था में शिक्षा-दीक्षा द्वारा सुयोग्य करते थे और फिर उसका यौनावस्था में सुयोग्य वर से विवाह कर देते थे जिससे उनकी सदाचारी और विदुषी पुत्रियों को किसी प्रकार का दुःख नहीं होता था। वही–पृ० ९२७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१—जिस प्रकार प्रचण्ड अग्निशिखा क्षणमात्र में बड़े से बड़े इन्धनादि पदार्थों के समूह को भस्मसात् कर देती है, ठीक उसी प्रकार गुरुजनों की अवज्ञा, शिष्य के ज्ञानादि सद्गुणों को भस्मसात् कर देती है[1]।

२—स्वाभिमानी एवं मदान्धशिष्य की मूर्खता को बताते हुए कहा गया है—जो अभिमानी शिष्य आचार्य की अवज्ञा या आशातना करता है, वह प्रचण्ड धधकती हुई अग्नि को पैरों से मल कर बुझाता है, बड़े भारी जहरीले सर्प को क्रुध करता है तथा जीने की इच्छा से सयः प्राणहारी 'हालाहल' नामक विष को खाता है[2]।

३—गुरु की आशातना करने वाले दुर्बुद्धि शिष्य को मुक्ति, नहीं मिल सकती[3]।

४—जिस प्रकार सड़े कान वाली कुतिया घृणा के साथ सभी स्थानों से निकाल दी जाती है, उसी प्रकार गुरु के प्रतिकूल आचरण करनेवाला दुःशील वाचाल शिष्य भी सर्वत्र अपमानित करके निकाल दिया जाता है[4]।

५—जिस प्रकार गज, बैल तथा अड़ियल घोड़ आदि अविनीतता अर्थात् न चलने पर प्रायः अंकुश और चाबुक की मार खाते हुए घोर दुःखों को सहते हैं, उसी प्रकार अविनीत शिष्य गुरु से प्रताड़ित होते हुए दुःख का अनुभव करते हैं[5]।

अतः जो शिष्य विनय धर्म को छोड़कर अविनय के मार्ग पर चलते हैं, वे अपने ही पैर में अपने हाथों से कुल्हाड़ी मारते हैं।

विनीत और अविनीत शिक्षार्थी का गुरु पर प्रभाव

विनीत जहाँ शालीनता और सद्गुणों की राह पर चलता है वहीं अविनीत असद्गुणों को अंगीकार करता है। इतना तो निश्चित ही है कि जो शिष्य गुरु की दृष्टि में अनैतिक एवं दुराचारी है, उसे गुरु यदि कुछ सिखाना भी चाहते हैं तो वे नहीं सिखा पाते हैं। एक ओर बिना विचारे अनाप-शनाप बोलने वाले दुष्ट शिष्य जहाँ अपनी कुप्रवृत्तियों से विनम्र और मृदुभषी गुरु को भी क्रुध बना देते हैं वही दूसरी ओर गुरु के मनोकुल चलने वाले पटुता से कार्यसम्पन्न करने वाले विनीत शिष्य शीघ्र ही रुष्ट होने वाले गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं[6]।

१. दशवैकालिक—९.१.३
२. जो पावगं जलिअमवक्कमिज्जा, आसीविसं वावि दु कोवइज्जा।
जो वा विसं खयइ जीविअट्ठी, एसोयमासायणाय गुरुणं॥ वही—९।१।६
३. न आवि मुक्खो गुरुहीलणाए। वही—९।१।७।
४. जहा सुणी पूई-कण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील—पडिणीए, मुहरी निक्कासिज्जई॥ उत्तराध्ययन—१-४
५. खलुके ज उ जोएइ विहम्माणो किणिस्सई।
असमंहि च वेएइ तोत्तओ य से भज्जई॥ वही—२७।३
६. अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चण्डं पकरेंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया पसायए ते हु दुरसयं पि॥ वही १।१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विनीत शिष्य को शिक्षा देते हुए गुरु वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे सारथी (अश्व शिक्षक) अच्छे घोड़े को हाँकते हुए आनन्द की अनुभूति करता है किन्तु ठीक इसके विपरीत अबोध एवं अविनीत शिष्य को शिक्षा देते हुए गुरु वैसे ही खिन्न होते हैं जैसे दुष्ट घोड़े को हाँकता हुआ उसका वाहक[1]। अविनीत शिष्य से खिन्न होकर गुरु सोचते हैं—मुझे इन दुष्ट शिष्यों से क्या लाभ ? इनसे तो मेरी आत्मा अवसन्न व्याकुल ही होती है इन्हें पढ़ाया-लिखाया, पाला-पोषा फिर भी ये उसी प्रकार स्वेच्छाचारी हो गये हैं, जिस प्रकार पंख निकल आने पर हंस पक्षी। अतः इन्हें छोड़ देने में ही कल्याण है[2]।

शिक्षार्थी के कर्तव्य

बिना पूछे कुछ न बोलना, सर्वदा सत्य बोलना अर्थात् क्रोधादि में असत् वचनों का प्रयोग न करना, गुरु की प्रिय और अप्रिय दोनों ही शिक्षाओं को धारण करना[3]। गुरुजनों के निकट सदैव प्रशान्त भाव से रहना अर्थात् वाचाल न बनना, अर्थपूर्ण पदों को सीखना, निरर्थक बातें न करना। गुरु द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करके शांत रहना, क्षुद्र व्यक्तियों के साथ हँसी-मजाक और अन्य क्रीड़ा न करना। अध्ययन के समय में अध्ययन करे और बाकी समय में एकाकी ध्यान करे। अगर गलत व्यवहार कर भी ले तो उसे छिपाए नहीं बल्कि किया हो तो 'किया' और न किया हो तो 'नहीं किया' कहे[4]। अकेले में वाणी से अथवा कर्म से कभी भी गुरु के प्रतिकूल आचरण न करना[5]। गुरु की आज्ञा के बिना कोई भी कार्य न करना[6]। प्रिय अथवा कठोर शब्दों द्वारा आचार्य जो मुझ पर अनुशासन करते हैं, वह मेरे लाभ के लिए हैं—ऐसा विचार कर उनका अनुशासन स्वीकार करना[7]। गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह आत्मीय समझ कर शिक्षा देते हैं, ऐसा समझकर उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानना[8]। गुरु के मनोकुल वैसे ही आचरण करना जैसे उत्तम शिक्षित घोड़ा चाबुक देखकर उन्मार्ग छोड़ देता है[9]। विनीत शिक्षार्थी न तो गुरु को कुपित करता है और न कठोर अनुशासनादि से स्वयं ही कुपित होता है तथा न गुरु के दोषों का अन्वेषण ही करता है[10]। गुरु के बुलाये जाने पर मौन रहना। शिष्य को ऐसे आसन पर बैठना चाहिए जो गुरु

---

१. रमय पण्डिए सासं, हयं भद्दं व बाहए।
बालं सम्मइ सासन्तो, गलियस्सं व वाहए॥ उत्तराध्ययन—१।३७।

२. वही—२७।१४-१५।

३. वही—१।१४।

४. वही—१।८-११।

५. वही—१।१७।

६. वही—२६।९।

७. वही—१।२७।

८. वही—१।३९।

९. वही—१।१२।

१०. वही—१।४०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के आसन से नीचा हो, जिससे कोई आवाज न निकलती हो, जो स्थिर हो[1]। उनके आसन के बराबर न बैठे, न आगे न पीठ के पीछे ही सटकर बैठे[2]। गुरु के अति निकट भी न बैठे जिससे संघट्टा हो जाय, यदि संघट्टा हो भी जाए तो उसी समय क्षमा याचना करते हुए कहना चाहिए—भगवन्! दास का यह अपराध क्षमा करें, फिर कभी ऐसा नहीं होगा[3]। गुरुश्री के एकबार अथवा अधिक बार आमंत्रित करने पर, बुद्धिमान शिष्य को अपने आसन पर से ही आज्ञा सुनकर उत्तर नहीं देना चाहिए बल्कि आसन छोड़कर विनम्र भाव से कथित आज्ञा को सुनकर तदनुसार उत्तर देना चाहिए[4]। पलथी लगाकर दोनों हाथों से शरीर को बांधकर तथा पैरों को फैलाकर भी नहीं बैठना चाहिए[5]। आसन अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कभी भी गुरु से कोई बात नहीं पूछना चाहिए बल्कि उनके समीप आकर, उकड़ू आसन में बैठकर हाथ जोड़कर पूछना चाहिए[6]। आसन से बार-बार अर्थात् निष्प्रयोजन न उठना, स्थिर एवं शान्त होकर बैठना[7]। शिक्षा प्राप्ति के बाद गुरु की कृतज्ञता स्वीकार करते हुए विनयभाव से वन्दना करनी चाहिए[8]। पाँच प्रकार के विनय (खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति तथा भावपूर्वक शुश्रुषा करना) पंच विध स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा करना) तथा आचार्य से सम्बन्धित दस प्रकार के वैयावृत्य में सदा संलग्न रहना चाहिए[9]। क्षेत्र और काल, भावों को तथा गुरु के मनोगत अभिप्रायों को तथा सेवा करने के समुचित साधनों को भले प्रकार से मालूम करके तत् तत् उपायों से कार्य का संपादन करना शिक्षार्थी का परम कर्तव्य है[10]। अतः शिष्य का कर्तव्य है कि जिस गुरु से आत्म-विकासी धर्मशास्त्रों के गूढ़ पदों की शिक्षा ले, उसकी पूर्ण रूप से विनय भक्ति करे अर्थात् हाथ

---

१. आसणे उवचिट्ठेजा, अणुच्चे अकुए थिरे। उत्तराध्ययन—१।३० तथा देखें दशवैकालिक—९।२।१७।

२. न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ। वही—१।१८।

३. संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुणुत्ति अ॥ दशवैकालिक ९।२।१८।
तथा देखें उत्तराध्ययन—१।१८।

४. आलवंते वा लंवते वा, न निसिज्जाइ पडिस्सुणें।
मुत्तूण आसणं धीरो, सुस्सूसाए पड़िस्सुणें॥ दशवैकालिक ९।३।२०।

५ उत्तराध्ययन, १।१९।

६. वही, १।२२।

७. अप्पपुट्ठणई निरुट्ठाई निसीएज्जऽप्पकुक्कुए। वही—१।३०।

८. वही, ५४–५९।

९. वही, ३०।३२–३४।

१०. काणं छंदोवयाहं च, पड़िलेहित्ताण हेउहिं।
तेण तेण उवाएणं, तं तं संपड़िवायए॥ दशवैकालिक ९।८।२१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जोड़कर सिर से नमस्कार करे और मन, वचन तथा काम योग से सदैव काल यथोचित सत्कार करे[1]।

शिक्षार्थी के प्रकार

शैल, कुट, छलनी, परिपूणग, हंस, महिष, मेढ़े, मच्छर, जलूग, बिलाड़ी, जाहग, गाय, भेरि और आभीरों आदि की उपमा देकर शिक्षार्थी के चौदह प्रकार बताये गये हैं[2]—

१—कुछ शिष्य पर्वत के समान कठोर तथा कृष्णभूमि अर्थात् काली मिट्टी वाली जमीन के समान गुरु द्वारा बताये गये अर्थ ग्रहण करने में समर्थ होते हैं।

२—कुट अर्थात् घट चार प्रकार के बताये गये हैं—(क) छिप्रकुट जिसके पेंदी में छिद्र हो (ख) खंडकुट—जिसके कन्ने टूटे हों (ग) बोटकुट—जिसका एक ओर का कयाऊ हो। (घ) सकलकुट—जो घड़ा सम्पूर्ण हो। इसी तरह कुछ शिष्य छिप्रकुट, कुछ खंडकुट, कुछ बोटकुट तथा कुछ सम्पूर्ण कुट के समान होते हैं।

३—कुछ शिष्य चालिणी (छलनी) के समान होते हैं, जो गुरु के वक्तव्य को एक कान से सुनते हैं और दूसरे कान से निकाल देते हैं।

४-कुछ शिष्य दूध छानने का छन्ना (परिपूणग) की भाँति होते हैं। जिस प्रकार दूध या घी छानने पर दूध नीचे चला जाता है और गंदगी ऊपर रह जाती है, उसी प्रकार कुछ शिष्य दोष और अवगुण ही ग्रहण करते हैं।

५—कुछ शिष्य हंस के समान होते हैं, जैसे हंस जल मिश्रित क्षीर में से क्षीर को ग्रहण कर लेता है और नीर को छोड़ देता है उसी प्रकार कुछ शिष्य गुणों को ग्रहण करते हैं और दोषों को छोड़ देते हैं।

६—कुछ शिष्य महिषा के समान होते हैं, जैसे महिष तालाब में घुसकर जल को गंदा कर देता, जिसके कारण जल को न स्वयं ही पाता है और कोई दूसरा ही। वैसे ही कुछ शिष्य व्याख्यान के प्रारम्भ होने पर आचार्य को अनेक प्रकार की विकथाओं से इस प्रकार थका देते हैं कि वे न तो उसे ही पढ़ा सकते हैं और न दूसरे विद्यार्थी को ही।

७—कुछ शिष्य मेढ़े की भाँति होते हैं, जिस प्रकार मेढ़ा मूँह को आगे की ओर झुकाकर चुपचाप जलग्रहण करता है, उसी प्रकार शिष्य आचार्य को उत्तेजित किये बिना चुपचाप शिक्षा ग्रहण करते हैं।

८—कुछ शिष्य मच्छर के समान होते हैं जो बैठते ही काट लेते हैं।

९—कुछ शिष्यों को उस जलौगे की भाँति बताया गया है जो शरीर को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाये बिना रुधिर का पान करतो है। ऐसे शिष्य आचार्य को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाये बिना श्रुतादि ज्ञान का पान करते हैं।

---

१. वही, ९।१२।

२. सेलघण कुडग चालिणी, परिपूणग हंस महिस मेसे य।
मसग जलूग बिराली, जाहग गो भेरी आभीरी॥ बृहत्कल्प सूत्र—पीठिका ३३४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०—कुछ शिष्यों को उस बिलाड़ी के समान बताया गया है जो दूध को जमीन पर गिराकर बाद में उसे चाटती है। इसी प्रकार कतिपय शिष्य प्रमादवश जब आचार्य का व्याख्यान होता है तो ध्यान नहीं देते है और व्याख्यान के समाप्त हो जाने पर दूसरों की बातों को सुनने की कोशिश करते है।

११—कुछ शिष्य जाहग के समान होते हैं जैसे जाहग थोड़ा-थोड़ा दूध गिराकर चाटता है, वैसे ही शिष्य पूर्वगृहीत अर्थ को याद करके प्रश्न पूछते है और आचार्य को कष्ट नहीं देते हैं।

१२—चार ब्राह्मणों का उदाहरण देते हुए कहा गया है—कहीं से चार ब्राह्मणों को एक गाय दान में मिली। चरो बारी-बारी से उसे दुहते। कल इसे दूसरा दूहेगा, फिर मैं इसे चारा क्यों दूँ? ऐसा विचार कर सब रोज दूह लेते थे और गाय को चारा नहीं देते थे। परिणामतः गाय मर गयी। तदोपरान्त दुबारा किसी ने उन्हें गाय नहीं दी। इसी प्रकार जो शिष्य आचार्य की वन्दना पूजा तथा सेवा सुश्रूषा आदि नहीं करते हैं वे श्रुतज्ञान से सर्वथा वंचित रह जाते है। अतः शिष्यों को अपने गुरु के प्रति श्रद्धा, भक्ति, आदर तथा विनय भावना रखना चाहिए।

१३—अब गोशीर्षचन्दन निर्मित अशिवोपशमिनी भेरी का उदाहरण दिया गया है। जो कृष्ण के पास थी। जिसकी आवाज सुनने से ही छः महीने तक रोग नहीं होता था और पहले से रोगग्रसित व्यक्ति का रोग शान्त हो जाता था। एक बार एक परदेशी गोशीर्षचन्दन की तलाश करते हुए कृष्ण के भेरीपाल के पास पहुँचा और बहुत सा द्रव्य देकर भेरी का एक खण्ड खरीद लिया। इसी प्रकार जब भी उसे आवश्यक होता वह भेरीपाल को द्रव्य देकर भेरी का खण्ड ले जाता। जब कृष्ण को इस बात का पता चला तो उन्होंने भेरीपाल के कुल का नाश कर दिया। इसी प्रकार सूत्रार्थ को खण्डित करने वाला शिष्य भेरीपाल के समान बुद्धिहीन कहा गया है।

१४ आमीरी का उदाहरण देते हुए कहा गया है—कोई आभीरी अपने पति तथा सहेलियों के साथ गाड़ी में घी के घड़े भरकर नगर में बेचने चली। उसका पति गाड़ी पर था और वह नीचे खड़ी अपनी पत्नी के हाथो में घड़े पकड़ा रहा था। पति ने समझा अभीरी ने घड़ा पकड़ लिया और आभीरी समझी कि घड़ा अभी उसके पति के हाथ में है। इसी असमंजस घड़ा नीचे गिरकर फूट गया। आभीरी और उसके पति में तू-तू मैं-मैं होने लगी, तुमने ठीक से नहीं पकड़ा तो तुमने ठीक से नहीं पकड़ा। खीझकर आभीर ने अपनी पत्नी को खूब पीटा। इसी बीच बाकी बचे घी में से कुछ कुत्ते चाट गये और कुछ जमीन पी गयी। तब तक उसके सहयोगी अपना घी बेचकर लौट आये। आभीरी ने अपने घी को बेचा लेकिन कुछ लाभ न हुआ। इसी प्रकार जो शिष्य अपने गुरु के प्रति कटु वचन कहता है तर्क-वितर्क कर कलह करता है, वह कभी भी प्रशस्त नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार आदिपुराण में भी मिट्टी, चलनी, बकरा, बिलाव, तोता, बगुला, पाषाण, सर्प, गाय, हंस, भैसा, फूटा घड़ा, डाँस और जोक आदि चौदह दृष्टान्तों के द्वारा शिक्षार्थी

17

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के चौदह प्रकार बताये गये हैं[1]। इन चौदह प्रकारों के गुण अवगुणों के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया गया है—उत्तम, मध्यम और अधम। जो विद्यार्थी गाय और हंस के समान हैं वे उत्तम हैं। गाय को यहाँ इस अभिप्राय में लिया गया है कि जैसे गाय थोड़ा सा तृण खाकर ज्यादा दूध देती है वैसे ही जो विद्यार्थी थोड़ा सा उपदेश सुनकर ज्यादा लाभ लेते हैं वे उत्तम हैं। तोता और मिट्टी के समान विद्यार्थी मध्यम है तथा बाकी बचे अधम की कोटि में आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यार्थी-जीवन तपस्या का जीवन है। विद्योपार्जन एक साधना है और इस साधना के पीछे निहित है विद्या पाने की उत्कट अभिलाषा। विद्यार्थी वर्ग अगर अपना सर्वांगीण विकास चाहते हैं तो उन्हें गुरु की आज्ञा और उनके आदेशों को शिरोधार्य करते हुए बुद्धि को सन्देहशील तथा विश्वासहीन नहीं होने देना चाहिए। साथ ही अनुशासनहीनता का सर्वथा त्याग तथा एक क्षण भी व्यर्थ न खोकर अध्ययनरत रहना परमावश्यक है।

———

१. मृच्चालिन्यजमार्जारशुककङ्कशिलाहिभिः। गोहंसमहिषच्छिद्रघटदंशजलौककैः॥ आदि-पुराण—१।१३९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य हरिभद्रकालीन धार्मिक परिस्थिति

शैलेन्द्र कुमार राय

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥

'धृ' धातु के अन्त में मन् या 'म' प्रत्यय के संयोग से 'धर्म' शब्द बनता है। धर्म उत्कृष्ट मंगल हैं। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रत रहता है, उसे देव भी प्रणाम करते हैं। धर्म ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल है। संसार-बन्धन जैसे महान् दुःख का आत्यन्तिक क्षयकारक एवं मोक्ष सदृश महान् सुखकारक धर्म उत्कृष्ट मंगल का कारण है। प्राणातिपात-विरति अहिंसा है। राग-द्वेष से रहित होकर एकीभाव-स्वभाव में स्थित होना संयम है। आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों को नष्ट करनेवाले तत्त्व को तप कहते हैं। तप बारह प्रकार का कहा गया है—(१) अनशन, (२) ऊनोदरता, (३) भिक्षाचर्या, (४) रस-परित्याग (५) काय-क्लेश, (६) प्रतिसंलीनता, (७) प्रायश्चित, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान, (१२) व्युत्सर्ग। वस्तुतः धर्म वह है, जिसके आचरण करने से स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिसमें क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचन, ब्रह्मचर्य, अनुव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोग-परिभोग, अतिथि संविभाग, अनुकम्पा तथा अकाम निर्जरा के साधनों का बहुलता से वर्णन हो, वह धर्म कथा है। इसमें जनता की आध्यात्मिक आवश्यकताओं का निरूपण, भावजगत् को ऊँचा उठाने का प्रयास एवं जीवन और जगत् के व्यापक सम्बन्धों की समीक्षा मार्मिक रूप में विद्यमान रहती है। वास्तविकता यह है कि समाज-निर्माण में आध्यात्मिक शोषण, आर्थिक शोषण की अपेक्षाकृत अधिक बाधक है। शोषण का कुप्रभाव अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है, जिससे अशिक्षा, आध्यात्मिक शून्यता, अस्वास्थ्य आदि दोष उत्पन्न होते हैं, परन्तु आध्यात्मिक शोषण होने से जनता का भावजगत् ऊपर हो जाता है, जिससे उच्च सुखमय जीवन की अभिलाषाओं पर प्रश्नचिह्न लग जाते हैं। आत्मविश्वास और नैतिक बल नष्ट हो जाता है एवं जीवन मरुस्थल बन जाता है।

भारतीय समाज के रंगमंच पर धर्म के विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा अपने धार्मिक मत से भारतीय समाज को प्रभावित करने एवं अपनी भावना को स्थायी रूप देने के उद्देश्य से अपने-अपने धर्म को प्रचारित एवं प्रसारित करने का सराहनीय प्रयास किया गया। परिणामतः भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति पर उसका प्रभाव आज भी दृष्टिगोचर होता है। धार्मिक परिवर्तन एवं परिवर्धन के परिवेश में हरिभद्रकालीन समाज में हम मुख्यतया श्रवण धर्म एवं वैदिक धर्म का स्पष्ट चित्रावलोकन करते हैं। तत्कालीन समाज में इन धर्मों का क्रियाकलाप द्रष्टव्य है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण धर्म

अति प्राचीनकाल से ही जैन-धर्म के प्रवर्तकों एवं तीर्थंकरों द्वारा समाज में इस धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया जाता रहा है। समय-समय पर इसमें जनसमूह के कल्याणार्थ कुछ सुधार भी किये जाते रहे हैं। फलतः यह धर्म भारतीय संस्कृति की रंगमंच पर एक सुगन्धित पुष्प की तरह आज भी विद्यमान है। इस धर्म का मुख्य लक्ष्य शुभ आचरण, परिणामतः सम्पूर्ण कर्ममल से मुक्ति, तत्पश्चात् केवल ज्ञान के प्रभाव से सिद्धि, सुख, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति बतलाया गया है[1]।

श्रमण 'समधा' शब्द से बना है। समण की व्यापक परिभाषा देते हुए 'सूत्रकृतांग' में लिखा गया है—"एत्थवि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदापां च, अतिवाय च, मुसावायं च, बहिद्धं च, कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च, दोसं च, इच्चेव जओ-जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ हओ-तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिआदते दविये बोसट्ठकाए समणेति वच्चे[2]।" अर्थात् जो अनिश्रित, फलाशंसा से रहित, आदान रहित, प्राणातिपात मृषावाद बहिस्तात्-अदत्त, मैथुन और परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष और सभी अस्रवों से विरत, दान्त, द्रव्य मुक्त होने के योग्य और व्युत्सृष्ट काय—शरीर के प्रति अनासक्त है, वह समण कहलाता है। प्राचीन शास्त्रों के आधार पर समण को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—

'निग्गंथसक्कतावसगेरुयआजीव पंचहा समणा' अर्थात् निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक। श्रमण धर्म में सिद्धि या परमपद की प्राप्ति के पश्चात् इस संसार में जीव को जन्म, जरा-मरण आदि दुःखों से मुक्ति मिल जाती है[3]। जैन धर्म के अनुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र, ये तीनों मिलकर उसे मोक्ष-मार्ग का निर्माण करते हैं, जिसके अनुगमन से जीव और पुद्गल सदा के लिए एक दूसरे से अलग होते हैं, क्योंकि पुद्गल से मुक्त जीव ही शुद्ध आत्मा है[4]। हरिभद्र काल में परमसुख का एक मात्र निदान श्रमणत्व का पालन ही बतलाया गया है[5]। नारक, तिर्यक्, मनुष्य और देवादि द्वारा कुछ-न-कुछ कार्य सम्पादन होता रहता है और उसके अनन्तर जाने-अनजाने पाप-कर्म भी हो जाते है, जबकि पाप ही सभी दुःखों की जननी है। जब व्यक्ति अपने में सन्निहित विवेक से यह सोचने के लिए बाध्य हो जाता है कि किन कारणों से मेरी उत्पत्ति हुई है और मुझे कहाँ जाना है;

---

१. समराइच्चकहा–४, पृ०–३३४; ६, पृ० ४९८; ७, पृ० ७२०, ७२३; ८, पृ० ८३; ९, पृ० ९५३।

२. सूत्रकृतांग—१।१६।२।

३. समराइच्चकहा–४, पृ० ३२८, ३४९; ७, पृ० ६२७; ८, ७८०; ९, ८७१, ९१७।

४. मोहनलाल महतो—'जैन-दर्शन' पृष्ठ–३१।

५. समराइच्चकहा–५, पृ० ४७९; ९, पृ० ९१७, ९४८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो वही विचार श्रमणत्व का कारण बन जाता है[1]। 'समराइच्चकहा' में जैन सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार कर्मतरु को काटकर सभी प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए प्रव्रज्यारूपी महाकुठार को परलोक में सहायक बताया गया है[2]। उस समय ऐसा विश्वास किया जाता था कि प्रव्रज्या धारण करने वाला मानव आगम विधि से देह-त्याग कर सुरलोक की प्राप्ति करता है[3]। शरीर क्षणभंगुर है, नाशवान् है। इसलिए इस क्षणिक समय में सद्‌गुण की प्राप्ति एवं नाना दुःखों से छुटकारा पाने के लिए लोग श्रमण धर्म को अपनाते थे। प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले को सर्वप्रथम गुरु द्वारा साधु का चिह्न रजोहरण दिया जाता था। पुनः मुंडन-संस्कार कर कायोत्सर्ग को नमस्कार मंत्र द्वारा पूर्ण किया जाता था। तत्पश्चात् गुरु-द्वारा दिया गया सामायिक मंत्र भक्ति के साथ ग्रहण किया जाता था। पुनः गुरु द्वारा शिक्षा दी जाती थी और शिक्षा पाकर लोग आचार्य तथा अन्य साधुओं की वंदना करते थे। पुनः वे आचार्य "मोक्ष प्ररूपण करने वाले आगमों का परिगामी बनो" ऐसा कहकर शिष्य के मंगल की कामना करते थे। इतना करने के पश्चात् गुरुजनों की वन्दना, पुनः आचार्यों के चरणों की वन्दना करने का विधान था[4]। भिक्षुक रजोहरण और प्रडिग्गह ग्रहण करता था। इस प्रकार से प्रव्रज्या करने वालों में भगवती सूत्रानुसार राजकुमार जमाली, सिन्धु सौवीर के राजा, ऋषभदेव तथा सुदर्शन आदि का उल्लेख है। 'उपासकदशांग' में श्रावकों को पाँच अनुव्रत और सात शिक्षाव्रतों का नाम गिनाया गया है[5]। जैन परम्परा के अनुसार ये अनुव्रत पाँच ही प्रकार के माने गये हैं, यथा—स्थूल प्राणातिपात विरमण, स्थूल मृषावाद विरमण, स्थूल अदत्तादान विरमण, स्वदार संतोष तथा इच्छा परिमाण। श्रावकों के आचार का प्रतिपादन 'सूत्रकृतांग'[6], 'उपासक दशांग'[7] आदि आगम ग्रन्थों में बारह व्रतों के आधार पर किया गया है। इन बारह व्रतों में क्रमशः पाँच अनुव्रत और शेष सात शिक्षाव्रत हैं। 'समराइच्चकहा' में श्रावक के लिए अतिचारों से दूर रहते हुए निम्नांकित उत्तर गुणों से सुसज्जित होना अनिवार्य बतलाया गया है—उर्ध्वादिग्गुणव्रत, अधोदिग्गुणव्रत, तिर्यक् आदि गुणव्रत, भोगोपभोग परिणाम लक्षण गुणव्रत, उपभोग और परिभोग का कारण स्वर और कर्म का

---

१. समराइच्चकहा–१, पृ० ४७; २, पृ० १०२।
२. समराइच्चकहा–१, पृ० ५६; २, पृ० १६६; ४, पृ० २४६, ३४३, ३५०; ६, ५७४, ५९०।
३. समराइच्चकहा–३, पृ० २८१; ७, पृ० ७१२, ७१३।
४. समराइच्चकहा—३, पृ० २२२-२३-२४।
५. उपासकदशांग—अध्याय १, सूत्र १२, सूक्त ५८ (पंचाणुव्वतियं सत्तसिक्खावईयं दुवालस्सविहं गिहिधम्मं······)।
६. सूत्रकृतांग, श्रुत २, अ० २३' सूत्र ३ (—सीलव्वय गुणविरमण पच्चक्खाणपोसहोव वासेहिं अप्पाणं भावे भागों एव चरण विहरह)।
७. उपासकदशांग, अध्याय १, सूक्त–१२, सूक्त–५८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्याग, बुरे ध्यान से आचरित विरति गुणव्रत, प्रमाद से आचरित विरति गुणव्रत, पापकर्मोपदेश लक्षण विरति गुणव्रत, अनर्थ दण्ड विरति गुणव्रत, सावद्ययोग का परिवर्जन और निषद्ययोग का प्रतिसेवन रूप सामयिक शिक्षाव्रत और दिक्व्रत से ग्रहण किया हुआ दिशा के परिणाम का प्रतिदिन प्रमाणकरण, देशावकाशिक शिक्षाव्रत, आहार और सत्कार से रहित ब्रह्मचर्यव्रत का सेवन, व्यापार रहित पौषध शिक्षाव्रत का सेवन तथा न्यायपूर्वक अर्जित एवं कल्पनीय अन्न-पान आदि द्रव्यों का देश-काल-श्रद्धा-सत्कार से युक्त तथा परमभक्ति से आत्मशुद्धि के लिए साधुओं को दान और अतिथि विभाग शिक्षाव्रत आदि सभी उत्तर गुणों के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य था[1]।

प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले मानवों को श्रमणचर्या के लिए कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था। 'समराइच्चकहा' में श्रमणों के आचार सम्बन्धी कुछ नियमों का यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है। उसको एकत्रित करने पर आचरित नियमों को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—शत्रु-मित्र को समानभाव से देखना, प्रमाद से झूठा भाषण न देना, अदत्त वर्जना, मन-वचन और शरीर से ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना, वस्त्र-पात्र आदि से प्रेम न रखना, रात्रि में भोजन न करना, विशुद्ध पिण्ड ग्रहण करना, संयोजन आदि पंच दोषरहित मित काल भोजन ग्रहण करना, पंच समित्व, त्रिगुप्तता, ईर्ष्या समित्यादि भावना, अनशन, प्रायश्चित, विनय आदि से बाह्य तथा आभ्यंतर तपविधान, मासादिक अनेक प्रतिमा, विचित्र द्रव्य आदि ग्रहण करना, स्नान न करना, भूमि शयन, केशलोच, निष्प्रति-क्रमं शरीरता, सर्वदा गुरु निर्देश पालन, भूख-प्यास आदि की सहन शक्ति, दिव्यादि उत्सर्ग विजय, लब्ध-अलब्ध वृत्तिता आदि[2]। अतः मन-वचन और शरीर से अहिंसा एवं ब्रह्मचर्य का पालन ही इसके विधान का मूल है[3]। तप-साधना में शरीर जर्जर हो जाता है। तप के मुख्यतया दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यान्तर।

बाह्य तप के छः प्रकार हैं, यथा—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन एवं कायक्लेश। आभ्यंतर तप के भी छः प्रकार हैं, यथा—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत, स्वाध्याय, व्युसर्ग और ध्यान। इन दोनों प्रकार के तपों की साधना श्रमणों के लिए आवश्यक मानी गयी है, क्योंकि तप के बिना मनुष्य मानवमन में व्याप्त अनाचारिक भावनाओं से कभी भी मुक्ति नहीं पा सका है। जब तक शरीर तप-साधना से निर्जर नहीं हो जाता है, तब तक ब्रह्मचर्य धर्म के अनुपालन में कठिनाई आने की सम्भावना रहती है। इन दोनों प्रकार के तपों के अलावा 'दशवैकालिक सूत्र' में श्रमणों के लिए हिंसा, असत्य भाषण, चौरकर्म, सम्भोग, सम्पत्ति, रात्रि भोजत, क्षितिशरीरी—जीवोत्पीड़न, वानस्पतिक जीवोत्पीड़ण, वर्जितवस्तु, गृहस्थ के पात्रों में भक्षण, पयंक प्रयोग, स्नान और अलंकार आदि वर्जित

१. समराइच्चकहा १, पृष्ठ ६२।
२. समराइच्चकहा—१, पृ० ६६-६७; ३, पृष्ठ १९७-९८; ६, पृष्ठ ५८५-८६।
३. समराइच्चकहा—२, पृष्ठ १४०-४१; ४, पृष्ठ २८८; ८, पृष्ठ ७८०-९०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बताये गये हैं[1]। उपर्युक्त सभी आचरण-सम्बन्धी नियमों का अनुपालन अत्यन्त ही कठिन कार्य है। इसका अनुपालन साधारण व्यक्तियों से सम्भव नहीं है। फिर भी इसको सत्य चरितार्थ करते हुए लाखों-लाख जैन सम्प्रदायी दृष्टिगोचर होते हैं, अतः ये श्रमण अवश्यमेव आदरणीय एवं श्लाघनीय हैं।

प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले को एक स्थान पर सर्वदा रहना निषिद्ध बतलाया गया है। उन्हें हमेशा घूमते रहना था। भ्रमण के क्रम में रास्ते में मिलने वाले लोगों को शिक्षा एवं प्रवचन से प्रभावित कर सदाचार भरना मुख्य कार्य बतलाया गया है। इसी भ्रमण को श्रवण-विहार से जाना जाता है। श्रवणाचार के अन्तर्गत ग्राम में एक रात्रि और शहर में पाँच रात्रि अकेले घूमने का विधान था[2]। लेकिन वर्षाकाल में अनेक जीवों की उत्पत्ति को ध्यान में रखकर हिंसा आदि से बचने के लिए उचित स्थान का चुनाव कर पूर्ण वर्षाकाल बिताते थे। 'आचारांग सूत्र' में विहार करने के सन्दर्भ में बताया गया है कि भिक्षु या भिक्षुणी को जब मालूम हो जाये कि वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है एवं वर्षा के कारण विविध प्रकार के जीवों की सृष्टि हो चुकी है तथा मार्गों में अंकुर आदि के कारण गमनागमन दुष्कर हो गया है, तब वह किसी निर्दोष स्थान पर वर्षावास अर्थात् चातुर्मास करके रुक जाये, लेकिन जहाँ स्वाध्याय आदि की अनुकूलता न हो वहाँ न रहे[3]। श्रमणाचार्य भी शिष्यों के साथ मासकल्प विहार करते तथा चैत्यों में विश्राम करते थे[4]। जैनाचार में भी बतलाया गया है कि निर्ग्रन्थ श्रमण वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहते थे तथा शेष ऋतुओं में पदयात्रा करते हुए स्थान-स्थान पर घूमते रहते थे[5]।

श्रमणाचार के अन्तर्गत भोजन का प्रमुख आधार भिक्षा वृत्ति बतलाया गया है। भिक्षा वृत्ति से दिन में मात्र एक ही बार भोजन करने को व्यवस्था बतायी गयी है[6]। भिक्षाटन के लिए प्रस्थान करने के पूर्व श्रमणों को अपने आचार्य से आज्ञा लेनी पड़ती थी[7]। 'आचारांग' में बतलाया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को आलाबु, काष्ठ व मिट्टी का पात्र रखना अकल्प्य है, उन्हें बहुमूल्य वस्त्र की तरह बहुमूल्य पात्र भी नहीं रखने का विधान था[8]। श्रमणलोग श्वेतवस्त्र भी पहनते थे। 'समराइच्चकहा' में श्वेताम्बर श्रमण सम्प्रदाय का स्पष्ट वर्णन है। उन्हें श्वेतवस्त्रधारी बतलाया गया है। 'आवश्यक सूत्र' के उल्लेखों से स्पष्ट है कि श्रमण अपने

---

१. दशवैकालिक सूत्र, ६।८।
२. समराइच्चकहा—४, पृ० ३५३; ७, पृ० ७२७।
३. आचारांग सूत्र—२; १, ३।
४. समराइच्चकहा—२, पृ० १२०; ३, पृ० १८१; ५, पृ० ४८८; ९, पृ० ९३८।
५. मोहनलाल मेहता—जैनाचार्य, पृ० १७६।
६. समराइच्चकहा—३, पृ० २२८; ७, पृ० ७७५।
७. ,, —४, पृ० ३४६, ३५३; ७, पृ० ६२४।
८. आचारांग सूत्र—२; १६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पास वस्त्र, भिक्षापात्र, कम्बल, पाढ-पोंछन आदि लिये रहते थे तथा गोचरी द्वारा अपनी जीविका चलाते थे।

जैन-परम्परा में व्रतधारी गृहस्थ को श्रावक कहा जाता है। ये वे लोग होते हैं, जो गृहस्थ जीवन में श्रमण एवं श्रमणी का प्रवचन श्रद्धापूर्वक सुनते थे तथा उनकी उपासना भी करते थे। नारी जाति को श्राविका कहा जाता है। श्रावकों की भाँति स्त्रियों में भी श्राविका या श्रमणोपासिका (साध्वी), अणुव्रताचरण का पालन करती हुई श्रमणियों की उपासना करती थीं[1]। ये श्राविकाएँ भी गृहस्थाश्रम में ही श्रावक सा आचरण अपनाती थीं[2]। जैन-परम्परा में जहाँ श्राविकाएँ श्रावकों का-सा आचरण करती थीं, वहीं श्रमणी भी श्रमणों का-सा आचरण करती थीं। 'समराइच्चकहा' से पता चलता है कि नारी वर्ग भी माता-पिता अथवा पति की आज्ञा लेकर जैनधर्माचरण के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करती थीं[3]। प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् पुरुषों की भाँति नारियों को भी तप-संयम-व्रत आदि आचारों का पालन करना था[4]। श्रेष्ठ श्रमणियों को गणिनी कहा जाता था तथा उनसे धर्म-कथा का श्रमण कर पुरुष एवं स्त्री वर्ग शिक्षित एवं प्रव्रजित होते थे।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वाभाविक रीति से शुद्ध एवं सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसमें जो अशुद्धि, विकार या दुःखरूपता दृष्टिगोचर होती है, वह तो अज्ञान और मोह के अनादि प्रवाह के कारण से है। अविद्या और तृष्णा ये दुःख के मुख्य कारण हैं। अविद्या और तृष्णाजन्य दुःख के कारणों का नाश होते ही दुःख अपने आप नष्ट हो जाता है। यही जीवन के मुख्य साधन हैं। अतः अज्ञान को कम करने और नष्ट करने के लिए तथा मोह का विलय करने के लिए जैनदर्शन एक ओर विवेक को विकसित करने और दूसरी ओर राग-द्वेष के संस्कारों को नष्ट करने के लिए कहता है। जैनदर्शन ने आत्मा (जीव) को तीन भूमिकाओं में विभाजित किया है। पहली भूमिका वह है, जिसमें आत्मा अज्ञान और मोह के प्राबल्य के कारण वास्तविक तत्त्व का विचार नहीं करती और न सत्य एवं स्थायी सुख की ओर एक कदम भी उठाने के लिए तैयार नहीं होती। इसे बहिरात्मा भी कहा गया है। यह भूमिका जब तक चलती रहती है, तब तक पुनर्जन्म का चक्र भी चलता रहता है। इसमें लौकिक दृष्टि से आत्मा में चाहे जितना भी विकास दिखाई पड़े, पर वह वास्तविक दृष्टि से अविकसित आत्मा ही रहती है। किन्तु आत्मा में जब विवेकशक्ति का प्रादुर्भाव और राग-द्वेष के संस्कारों की कमी होने लगती है, तब दूसरी भूमिका प्रारम्भ होती है। इसे ही अन्तरात्मा कहा जाता है। इसमें फिर कितने ही सोपानों का अतिक्रमण करने पर आत्मा परमात्मा की दशा अर्थात् मोक्ष की दशा प्राप्त करती है। इसे तीसरी और अन्तिम भूमिका कहते हैं। जैनधर्म का यह सिद्धान्त पूर्णरूपेण इस कथा-ग्रन्थ में लागू होता है। गीता में लिखा है—

१. समराइच्चकहा—७, पृ० ६०९।
२. मोहनलाल मेहता—जैनाचार श्रावकाचार में श्राविका।
३. समराइच्चकहा—४, पृ० ३४६–४७।
४. समराइच्चकहा—८, पृ० ८०९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'उद्धरेदात्मानम्' अर्थात् मनुष्य स्वयं अपना उद्धार करे। जैनधर्म भी यही कहता है। किन्तु आत्मा कल्याण के लिए श्रमणत्व या श्रावकत्व का पालन आवश्यक बतलाया गया है। यह अन्य देवी-देवताओं एवं ईश्वर का अवलम्बन छोड़कर आत्मनिर्भरता की शिक्षा प्रदान करता है। नवीन विज्ञान के अनुसार भी प्रकृति-जगत् एक स्वतन्त्र समष्टि है, जिसकी प्रत्येक घटना अटूट नियमों के अनुसार घटती रहती है। इन नियमों में कोई बाहरी शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती। ईश्वर को सृष्टि का स्रष्टा मानना तो प्रकृति की अखण्डता और स्वतन्त्रता में अविश्वास करना है। हिन्दू-दर्शन की भाँति जैनदर्शन ने भी मोक्ष में विश्वास प्रकट किया है। जैन-विचार-धारा के अनुसार जब समुचित साधना से सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाते हैं और जीव सर्वज्ञता की स्थिति में पहुँच जाता है, तब वह मुक्त हो जाता है और मृत्यु के पश्चात् लोकाकाश में पहुँच कर सदा के लिए शान्ति और आनन्द की अवस्था में स्थित हो जाता है,[1] अर्थात् जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तप, संयम, नियम, व्रत आदि के द्वारा ही भवोपग्राही कर्मों का नाश करके, केवल ज्ञान की प्राप्ति और केवल ज्ञान से ही इस भौतिक देह-पंजर का त्याग करके परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करना ही श्रमण धर्म का चरम-लक्ष्य माना गया है।

जैनियों का मोक्ष-सिद्धान्त बौद्ध निर्वाण के समान अभावात्मक नहीं, वेदान्त के ब्रह्म के समान अद्वैत रूप नहीं, सांख्य के पुरुष के समान निष्क्रिय तथा परावलम्बी नहीं, नैयायिकों के समान अचेतन रूप नहीं, प्रत्युत् यह भावात्मक, चैतन्ययुक्त, स्वावलम्बी, स्वतन्त्र, नित्य तथा अनन्त गुणों से युक्त आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा है—

"अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं॥"[2]

श्रमण धर्म में काफी विशेषताएँ हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह धर्म वर्णव्यवस्था पर विश्वास नहीं करता। कुछ आचार्य इसको क्षत्रिय-ब्राह्मण संघर्ष का परिणाम मानते हैं। कुछ विद्वान् इस वर्ण व्यवस्था में क्षत्रिय को सर्वोपरि स्थान देते हैं। इस धर्म में आचार संहिता पर काफी बल दिया गया है। पवित्र मन, सभी जीवों के प्रति समव्यवहार और तप इसकी प्रमुख तीन विशेषताएँ सामने आती हैं, अर्थात् यह धर्म विनय-मूलक है। कुछ विद्वान् इस धर्म को वैदिक धर्म की घोर हिंसा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न मानते हैं। इस धर्म में अहिंसा को प्राण माना गया है। श्रमण धर्म तप पर काफी बल देता है। ऋषभदेव और अरिष्टनेमि का वर्णन ऋग्वेद, विष्णुपुराण और भागवत पुराण में पाया जाता है। यहाँ इन्हें महायोगी योगेश्वर और योग तथा तप मार्ग का प्रवर्तक कहा गया है। यह तप काफी कठिन-कठोर रहा होगा, जिसकी हल्की सी झाँकी "दशवैकालीय" के 'खुड्डियारकहा' और 'महायारकहा' में मिलती

१. भगवती सूत्र—७।१।२२५।
२. प्रवचनसार—१।१३।
३. संस्कृति के चार अध्याय; पृ० ६१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। वर्ण-व्यवस्था की तरह आश्रम-व्यवस्था भी श्रमण-धर्म को स्वीकार्य नहीं है। ब्राह्मण धर्म में मनुष्य को चतुर्थ सोपान में संन्यास ग्रहण करने के लिए उत्प्रेरित करते हुए मिलता है, परन्तु शेष तीनों सोपान में अलग-अलग कर्मों का सम्पादन आवश्यक माना गया है। परन्तु श्रमण धर्म में किशोर और किशोरियों को भी श्रमण धर्म के लिए उत्प्रेरित किया गया है। मोक्ष-प्राप्ति के विषय में श्रमण धर्म का वैदिक धर्म से भिन्न मत पाया जाता है। यज्ञ की ओर हिंसा और दानजीवी ब्राह्मण जाति के प्रति इसकी आस्था नहीं रही। श्रमण वर्ग के लिए अमिश्रित और परपाकित भोजन ग्रहण करने की व्यवस्था है। उसे पूर्णतः मधुकरी वृत्ति से जीवन-यापन करना है, जिसका वर्णन दसवेंआलियं की द्रुम पुप्फिया में द्रष्टव्य है। यह धर्म मोक्ष (कैवल्य) को तप सम्भव मानता है। कैवल्यप्राप्त प्राणी पुनः जन्म-ग्रहण नहीं करता। कैवल्य-प्राप्ति हेतु आचार को ही कारण माना गया है।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रमणधर्म निवृत्ति-मूलक धर्म है, जो मूलतः तप, अहिंसा और आचार-संयम पर आधारित है। इसके सम्बन्ध में निम्नोद्धृत कथन इस सत्य की पुष्टि करता है—

"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो[1]॥"

वैदिक धर्म (ब्राह्मण धर्म)

आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'समराइच्चकहा' में जैन धर्म का विस्तृत वर्णन किया है, लेकिन प्रमुख कथा के साथ अनेक उपकथाओं के रोचक सामंजस्य द्वारा आंशिक रूप से, परन्तु सुस्पष्टवैदिक धर्म का यत्र-तत्र उल्लेख भी किया है। उन्होंने वैदिक तापस, तापसी एवं कुलपति की प्रकृति एवं कार्यों के चित्रांकन। द्वारा वैदिक धर्म पर काफी प्रकाश डाला है। तत्कालीन वैदिक तापस अधिकतर आश्रम बनाकर जंगलों में रहते थे तथा वहीं शान्तिपूर्ण जीवन बिताते हुए पूजा-पाठ एवं ईश्वरोपासना किया करते थे[2]। कुछ तपस्वी विन्ध्यारण्यवासी के रूप में भी वर्णित हैं, जो गिरिकन्दराओं में तपस्या करते तथा जंगली फलाहार कर अपनी जीविका चलाते थे[3]। मुनि-सेवित धर्म को परलोक का बन्धु माना जाता था। यही कारण है कि तपोवन में संयम-नियम करने वाले तपस्वी आदर की दृष्टि से देखे जाते थे[4]। ये तपस्वी जंगल एवं झाड़ियों में अत्यन्त एकान्त अबाधित भाव से पूजा, आराधना, यज्ञ, हवन एवं व्रत आदि के द्वारा तपाचरण करते थे। अतः इन लोगों को 'तपोवनवासी' से भी संबोधित किया जाता था[5]।

---

१. दशवैकालिक—१-१।
२. समराइच्चकहा—५, पृ० ४१५, ४१८, ४२२।
३. ,, ,, —८, पृ० ७९०, ८००
४. ,, ,, —१, पृव २८; २, पृ० ८४; ५, ३९२; ७, पृ० ६६४।
५. ,, ,, —१, पृ० १२, १४, १६, १७, २३, २४, ४०; ५, पृ० ४२३-२४-४७; ७, बृ० ६६२ ६३-६४-६१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वप्रथम वैदिककालीन ऋषियों के लिये ऋग्वेद में वैखानस शब्द का प्रयोग हुआ है[1]। वानप्रस्थी ही बाद में चलकर संन्यासी हो जाता है तथा इन्हें ब्रह्मचर्य, इंद्रिय-निग्रह, भोजन-नियम आदि का पालन करना पड़ता था तथा ब्रह्मज्ञान के लिए सदा प्रयत्नशील रहना पड़ता था[2]। 'आपस्तम्बधर्म सूत्र' के अनुसार फूल, फल, वर्ण और तृण से आरंभ कर अप, वायु और आकाश के सहारे वानप्रस्थी को जीवित रहने का अभ्यास करना पड़ता था[3]। 'समराइच्च कहा' में उल्लिखित तपस्वीजनों के आचरण एवं रहन-सहन के इसके समक्ष होने से इसकी पुष्टि हो जाती है कि वानप्रस्थी का आचरण भी तपस्वीजनों के सदृश था।

वैदिक धर्माचरण के अनुसार हरिभद्रसूरि ने तापसों एवं संन्यासियों के लिए सर्वतोमुखी सद्गुणों से ओत-प्रोत होना बतलाया है। संन्यासियों के लिए स्त्री-दर्शन करना तथा अलोक वचन बोलना निषिद्ध था[4]। मनु एवं गौतम स्मृतियों में संन्यासी को ब्रह्मचारी होना, सदैव ध्यान एवं आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति आकर्षण रखना और इन्द्रिय सुख एवं आनन्दप्रद वस्तुओं से दूर रहना आवश्यक बतलाया गया है। इसके साथ-साथ अनाथ एवं दुर्बल जीवों पर दया करना, शत्रु-मित्र में समान भाव रखना मणि-मुक्ता को तृणवत् समझना, जीवों को कष्ट नहीं देना एवं असत्य भाषण से दूर रहना, सत्य की अप्रवंचना, क्रोध-हीनता, विनीतता, पवित्रता, अच्छे-बुरे का भेद जनाना, मन की स्थिरता, मन-नियत्रण, इन्द्रिय-निग्रह तथा आत्मज्ञान आदि गुणों से संन्यासियों को युक्त बतलाया गया[5]। तत्कालीन साधु-संन्यासी उपर्युक्त गुणों को अपने जीवन के साथ चरितार्थ करने के लिए सन्ध्योपासना करते तथा कुसुम, समिधा आदि से यज्ञ, हवन आदि किया करते थे[6]। मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार संन्यासी को प्राणायाम तथा अन्य योगों द्वारा मन पवित्र करना बतलाया गया है[7]।

तत्कालीन तपाचरण करने वाले वैदिक साधुसंन्यासियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:—

प्रथम—साधारण तापस

द्वितीय—कुऌपति।

प्रथम एवं द्वितीय में भेद सिर्फ श्रेष्ठता का था। जो अधिक श्रेष्ठ तथा यतिधर्म पालन में निपुण एवं दिव्य ज्ञान से युक्त होते थे, उन्हें कुलपति एवं उनके अनुयायी या पथगामी को साधारण तापस के रूप जाना जाता था। 'समराइच्चकहा' के अनुसार वैदिक तपस्वियों में

१. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४८९।
२. ,, ,, — ,, ,, भाग १, पृ० ४८९।
३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२।९।२२।
४. समराइच्चकहा ७, पृ० ६६३।
५. मनुस्मृति ६।४०, ४७-४८; याज्ञवल्क्य स्मृति ३।६१' गौतम धर्मसूत्र ३।२३।
६. समराइच्चकहा ५, पृ० ४२४; ७, पृ० ६८४-७५।
७. मनुस्मृति ६।७०-७५; याज्ञवल्क्य स्मृति ३।६२, ६४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रेष्ठ तथा आश्रम के आचार्य को कुलपति कहा जाता था[1]। शुभ मुहूर्त में कुलपति अपने आश्रम में तपस्वियों को दीक्षित करते थे। दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् ये तपस्वी कुलपति की सेवा करते हुए तप, व्रत, धर्म आदि का आचरण करते थे[2]। अतः वे वनवासी, जो आश्रम में कुलपति की सेवा करते हुए तपाचरण करते थे, तापस, बालक, मुनि या मुनिकुमार के रूप में जाने जाते थे[3]। कुलपतियों को तपस्वयों से लेकर साधारण गृहस्थ तक उन्हें वन्दना-पूजा के साथ सम्मान प्रदान करते थे[4]। 'समराइच्च कहा' में कुलपति को ही ऋषि कहा गया है[5]।

वैदिक धर्माचरण करनेवाली तापसी भी कुलपति के आश्रम में होती थी जो पुत्रंजीवक माला गले में धारण करती, वल्कल वस्त्र पहनती तथा हाथ में कमण्डलु लिए रहती थी[6]। तापसी कुलपति की अज्ञानुसार अपना जीवन बिताती तथा धर्माचरण को जीवन में सही उतारने के लिए तपाचरण से कृशगात कन्दमूल-फल आदि खाकर अपनी वृत्ति चलाती थी। 'समराइच्च कहा' के इन उल्लेखों का समर्थन वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। कुछ लोग विना गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए सीधे वैखानस व्रत धारण कर लेते थे। इसी पद्धति को ध्यान में रखते हुए 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में जिज्ञासा करते हैं कि क्या वह विवाह होने तक वैखानस व्रत का पालन करेगी अथवा यावज्जीवन[7]?

'समराइच्चकहा' में तापसों के भोजन एवं वस्त्र का भी वर्णन आया है। वैदिक धर्मावलम्बी (तापस) वल्कल वस्त्र पहनते, अपने शरीर में त्रिपुण्ड्र भस्म (हवन की राख) लगाते तथा कमण्डलु लिए रहते थे[8]। 'बौधायन धर्मसूत्र' में वर्णन है कि संन्यासी सिर, दाढ़ी तथा शरीर के सभी अंगों के बाल बनाकर, तीन दंडो को एक में जोड़कर, जल छानने के लिए एक छोटा कपड़ा, एक कमण्डलु तथा एक जलपात्र साथ में रखकर पूजा किया करते थे[9]। तापसी कन्दमूल फलादि खाते तथा मासपारण व्रत करते थे। मासपारण व्रत का अर्थ है कि एक माह तक उपवास रहकर मासान्त में भिक्षाटन के माध्यम से पारण करना। भिक्षाटन में यह भी नियम था कि प्रथम घर से प्राप्त भोजन का ही पारण आवश्यक था। अगर मास पारण के दिन भिक्षुक को प्रथम घर में पारण नहीं हुआ, तो उसे पारण के अगले माहतक

---

१. समराइच्चकहा ५, पृ० ४१७।
२. ,, ,, १-पृ० १४।
३. ,, ,, १-पृ० १२, १४, १७, २६-४०।
४. ,, ,, १-पृ० १६, १७, २१,-२४, २६, ३१ ३३, ४१; ५, ४१४, १८, ४७; ७, पृ०६६६,८९, ९०।
५. समराइच्चकहा—१पृ०१३; ५,पृ०४३६, ४३८; ६, पृ०५६६ :९, पृ९२०, ९२२।
६. समराइच्चकहा—५, पृ०४१०-११,४२३-२४,।
७. अभिज्ञानशाकुंतलम् १। २७।
८. समराइच्चकहा, पृ० १२; ५ पृ० ४१०, ४११, ४३३, ४२४।
९. बौधायन धर्मशास्त्र २।१०।११-३०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिक्षा करनी पड़ती थी। शरीर त्यागने के लिए तत्कालीन तापस इसी व्रत का अनुपालन करते थे। 'समराइच्चकहा' के प्रथम भव में पात्र अग्निशर्मा के चरित्रावलोकन से हमें इसका ज्वलन्त उदाहरण प्राप्त होता है। हर धर्म में अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं, जो जनमानस को आकृष्ट कर अनुगामी बनने के लिए बाध्य करती हैं। वैदिक धर्म की भी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। 'ब्राह्मण विचार धारा' नाम से ही ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचारधारा तत्कालीन समाज के ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित, विश्लेषित एवं व्याख्यायित होगी। साथ ही, यह विचारधारा अवश्य ही समाज के ऊँचे वर्गों के लिए कल्याण-प्रद तथा निम्न वर्गों के लिए अस्पृश्य एवं अपाठ्य थी। इसकी सम्पूर्ण मान्यता वेदों पर आधारित है। यज्ञ पर ब्राह्मण-परम्परा काफी बल देती थी, जिसमें पशु-बलि का प्रचलन था। यही कारण है कि आज भी यज्ञ में पशुओं की बली दी जाती है।

ब्राह्मण विचारधारा जीवन को चार आश्रमों में विभक्त करती है -- ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। ब्रह्मचर्याश्रम में अध्येता अपने तपबल से बुद्धिबल एवं शारीरिक बल की वृद्धि करता था, ताकि गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर अपने त्रिऋण (देव-ऋण, पितृ-ऋण एवं गुरु-ऋण) से उऋण हो सके। गृहस्थाश्रम में गृहस्थ सभी सद्गुणों से संयुक्त होकर गृह में ही निवास करते हुए आजीविका का सारा प्रबन्ध कार्य सम्भालकर सृष्टि-सृजन करते हुए जीवन बिताते थे। वानप्रस्थाश्रम में वानप्रस्थी वन-वन घूमकर अपने प्रवचनों द्वारा मानव-कल्याण करता था। संन्यासाश्रम में संन्यासी मोक्ष-प्राप्ति हेतु संसार की सारी मोहमाया को त्यागकर तपाचारण करता था। ब्राह्मण विचारधारा पुनर्जन्म पर काफी विश्वास करती है। जन्मान्तर में कर्मफल को छोड़ा नहीं जा सकता। पूर्व जन्म में की गई अच्छाई एवं बुराई से उत्पन्न फल दूसरे जन्म में वृक्ष की उत्पत्ति की भाँति बीज का कार्य करता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की परिकल्पना आर्य-साहित्य की एक महानतम उपलब्धि है, जो सम्पूर्ण विश्व को एक अखण्डित कौटुम्बिक परिवार मानकर इसके अविकल ऐश्वर्य और सुखद सौभाग्य की महत्वाकांक्षा रखता है। हिन्दूधर्म आज भी इस पवित्र परिकल्पना को साकार करने के लिए सतत सचेष्ट है। ब्राह्मणधर्म आत्मदर्शन और परमात्मदर्शन को अपना प्राणतत्त्व मानता है। अद्वैतवाद की परिकल्पना इसी धर्म की देन है।

निष्कर्षतः ब्राह्मणधर्म भोगमूलक एवं प्रवृत्तिमूलक धर्म को स्वीकारता है। आधुनिक हिन्दूधर्म में ब्राह्मणधर्म नींव रूप में विद्यमान है। लेकिन व्यापक दृष्टि से देखने पर इसका अस्तित्व हिन्दू-धर्म में आज नहीं के बराबर है[1]।

---

१. भारत की प्राग्वैदिक संस्कृति ने आर्यों की वैदिक संस्कृति के चारों ओर अपना जो विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह रूपक काफी समीचीन लगता है कि "भारतीय संस्कृति के बीच वैदिक संस्कृति समुद्र में टापू के समान है।"

—संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ६०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्राह्मण और श्रमण विचार धारा में अन्तर

ब्राह्मण विचार-धारा	श्रमण विचार-धारा
(१) सामाजिक व्यवस्था के लिए ब्राह्मण व्यवस्था वर्ण-संघटन को आवश्यक मानती है, जो ब्राह्मण को सर्वोपरि महत्व देती है और शूद्र को अछूत एवं यज्ञादि कर्मों का अनधिकारी मानती है।	(१) श्रमण धर्म सामाजिक व्यवस्था के लिए वर्ण-संघटन को महत्व नहीं देता। यह धर्म अहिंसा का कट्टर समर्थक है तथा जीवों के रक्षक होने के नाते यह धर्म जीवों के रक्षक यानी क्षत्रिय को सर्वोपरि मानता है।
(२) ब्राह्मण धर्म की अन्तिम लक्ष्य प्राप्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति हेतु यज्ञ करने एवं दान देने के कारण यह धर्म अति व्यय कारक है। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए सिर्फ सम्पन्न व्यक्ति ही उद्यत होते हैं।	(२) श्रमण धर्म द्वारा मोक्षप्राप्ति आर्थिक दृष्टि से सर्व सुलभ और सहज साध्य है। मधुकरी वृत्ति इसकी कैवल्य-यात्रा का साधन है।
(३) ब्राह्मणधर्म शौच-मूलक धर्म है।	(३) श्रमण धर्म विनय-मूलक धर्म है।
(४) ब्राह्मणधर्म में यज्ञ में बलि-प्रथा का प्रचलन है। यज्ञ में जानवरों की बलि देकर इष्टदेव को खुश करने की प्रथा है।	(४) श्रमण धर्म बलि-प्रथा का घोर विरोधी है, क्योंकि यह अहिंसा पर सर्वाधिक बल देता है।
(५) ब्राह्मण-धर्म आनन्द की प्राप्ति चाहता है। आनन्दाचरण में ही यह स्वर्गाकांक्षी है।	(५) श्रमण-धर्म कैवल्यज्ञान प्राप्त कर मोक्ष तक पहुँचाना चाहता है, क्योंकि कैवल्य ही इसकी सर्वोच्च उपलब्धि है।
(६) ब्राह्मण-धर्म योगवादी या प्रवृत्तिवादी है। यह जीवन के प्रति रागात्मक आस्था रखता है।	(६) श्रमण धर्म निवृत्ति-परक है। जीवन इसके लिए कैवल्य-प्राप्ति का साधन है, राग-निदर्शन का साध्य नहीं।
(७) ब्राह्मण धर्ण में आश्रम-व्यवस्था अनिवार्य है। बचपन में मनुष्य शिक्षा ग्रहण करता है, द्वितीय सोपान में मनुष्य सृष्टि करता है, तृतोय सोपान में ऋचात्रय से मुक्ति का प्रयास करता है तथा चौथी अवस्था में संन्यास धारण करता है।	(७) श्रमण धर्म में संन्यास ग्रहण करने के लिए वय-सीमा का बन्धन आवश्यक नहीं। मनुष्य किसी भी सोपान में श्रमण बन सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्राह्मण विचार-धारा	श्रमण विचार-धारा
(८) स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण धर्म यज्ञादि आधार को आवश्यक मानता है।	(८) श्रमण धर्म यज्ञ को आवश्यक मानता है और मोक्षप्राप्ति के लिए आचार को आवश्यक।
(९) ब्राह्मण धर्म में संयम एवं तपश्चरण को आवश्यक माना गया है।	(९) श्रमण धर्म में संयम एवं तपश्चरण द्वारा आचार पालन करने का विधान है।
(१०) ब्राह्मणवादी व्यवस्था में संन्यासियों को ठहरने का स्थान एवं समय सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं है।	(१०) श्रमण व्यवस्थान्तर्गत श्रमणों का एक जगह पर ठहरना निन्दनीय है। हाँ वर्षा ऋतु में चार माह तक एक स्थान पर ठहरना आवश्यक माना गया है।
(११) ब्राह्मणवादी व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण ही वेदाध्ययन के अधिकारी थे, शूद्र नहीं।	(११) श्रमण धर्म की परिणति भक्ति में हुई है। भक्ति मार्ग शूद्रों को भी पूजन का अधिकार देता है।
(१२) ब्राह्मणवादी व्यवस्था में महिलाओं का अनादर पाया जाता है।	(१२) श्रमण व्यवस्था में महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार तथा प्रतिष्ठा प्राप्त है।

ब्राह्मण और श्रमण धर्म में प्रधानता किसको ?

विश्वदर्शन एवं विश्वधर्म के ऐतिहासिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि संसार के सभी धर्म समान लक्ष्य रखते हैं, लेकिन उनकी अभिव्यक्ति के द्वार भिन्न-भिन्न होते हैं। सर्वज्ञातव्य है कि उन सभी धर्मों का लक्ष्य समाज को सन्मार्ग दिखाना एवं अन्त में मोक्ष प्राप्त कराना है, किन्तु इन धर्मों के अनुयायिकों को जहाँ परस्पर सहानुभूति-शान्ति से रहना चाहिए, वहाँ ये भ्रान्ति, घृणा, उपद्रव एवं गृह-युद्ध की आधार-भूमि बन जाते हैं। लेकिन ऐसा तभी होता है, जब तथाकथित धार्मिक व्यक्ति धर्म में अन्तर्निहित व्यापक तत्त्वदर्शन को समझने में असमर्थ रह जाते हैं और बाह्य लौकिक आधारों को ही धर्म की संज्ञा देकर उसकी मौलिकता से दूर चले जाते हैं। फलतः वैसे लोग धर्म के तात्विक स्वरूप पर उसके प्रचलित अर्थ का आरोप कर देते हैं, कोई सामञ्जस्य-सामरस्य स्थापित नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में हमें ब्राह्मण एवं श्रमण धर्म के तात्त्विक स्वरूप का दिग्दर्शन करना है और उनमें व्याप्त अच्छाई एवं बुराई का निष्पक्ष एवं तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन कर उनकी अन्तर्निहित समस्या का समाधान निकालना है।

धर्मेतिहास में इन दोनों धर्मों के परस्पर सम्बन्ध को ढूंढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण धर्म का मूल उत्स वेद है। श्रमण धर्म वेद की रचना के पूर्व से ही प्रचलित था, लेकिन वेद-पूर्व का इतिहास अनुपलब्ध है। वेद-पूर्व से ही अहिंसा को धर्म का लक्षण माना गया है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अहिंसार्थाय भूतानाम् धर्म प्रवचनं वृतम् ।
यः स्यादहिंसा संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥"[1]

इस प्रकार अहिंसायुक्त धर्म ही ग्राह्य माना गया है। श्रमण धर्म अहिंसा का कट्टर समर्थक है। अहिंसा श्रमण धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है। अहिंसा बौद्ध धर्म के द्वारा भी प्रशस्य-प्रश्रेय मानी जाती है। महावीर के पूर्व; तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अपने चतुर्याम धर्म में इसको सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। जैन पण्डितों के अनुसार तीर्थंकर नेमिनाथ महाभारत काल में श्रमण संघ के नेता थे, जो बाइसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह परम्परा नेमिनाथ के समक्ष श्रीकृष्ण से सैकड़ों वर्ष पूर्व ही प्रचलित थी, अर्थात् अतिपुरातन काल से लेकर आज तक अहिंसा को महान् धर्म के रूप में मान्यता प्राप्त है। महाभारत में श्रीकृष्ण ने कहा है कि उत्तम यज्ञ वह है, जिसमें किसी भी जीव की हत्या न हो, प्रत्युत जिस यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपने को परोपकार-परमार्थ में लगा लेता है। लौकिक वैदिक यज्ञ हिंसा एवं अहिसा के ऊहा-पोह से घिरा हुआ दिखलाई पड़ता है। वैदिक धर्म का जनक वेद एक ओर अहिंसा की महिमा को स्वीकार करता है, तो दूसरी ओर याज्ञिक हिंसा को भी। जहाँ एक ओर ब्राह्मण ग्रन्थों में 'मा हिंसात् सर्वभूतानि' की घोषणा मिलती है, तो वहीं दूसरी ओर मोक्ष एवं स्वर्ग की परिकल्पना करने वाले धार्मिक व्यक्ति के लिए यज्ञादि अनुष्ठानार्थ प्रोत्साहित कर जानवरों की बलि का निर्देश भी प्राप्त होता है। जैन शास्त्रों में उपर्युक्त कथनों को लेकर कई स्थलों पर श्रमण-ब्राह्मण विवाद की स्पष्ट चर्चा है, जिनमें ब्राह्मणों पर श्रमणों की विजय है। बौद्ध साहित्य में भी श्रमण-ब्राह्मण के इस सर्प-नकुल संघर्ष का उल्लेख मिलता है, अर्थात् अहिंसा, निवृत्ति-परक धारणा आदि श्रमण धर्म की मूल विशेषता के रूप में परिग्राह्य हैं। परन्तु, ब्राह्मण धर्म में इनका विरोध झलकता है।

श्रमण धर्म की दूसरी परिगण्य विशेषता है—तप और संयम। श्रमण धर्म के कठोर नियम के अनुपालन के योग्य बनने के लिए तप एवं संयम को आवश्यक माना गया है। इनके अभाव में सिद्धि अकाल्पनिक है। इसका सर्वाधिक कठोर विश्वास जैन धर्म में मिलता है। 'मज्झिम निकाय' के 'महासिंहनाद सूत्त' में चार प्रकार के तप बतलाये गये हैं, परन्तु ये सभी क्रमशः कठोर से कठोरतम हैं। ये चार तप हैं—तपस्विता, रूक्षता, जुगुप्सा और प्रतिविक्तता। तपस्विता में नग्न रहना, पाणि-पात्र होना, काँटों पर नींद लेना आदि कठोर व्रतों का अनुपालन बतलाया गया है। रूक्षता का अभिप्राय शरीर पर धूल आदि लगाये रहना है। पानी की बूंद पर भी कृपा-करुणा प्रदर्शित करने के भाव को जुगुप्सा तथा वन में अकेले रहने की स्थिति को प्रतिविक्तता कहा गया हैं। वेदों के गार्हस्थ्य-प्रधान युग में भी ऋषि वैराग्य, अहिंसा एवं तपश्चर्या के कठोर व्रतों का पालन करते थे, जिनमें ऋषभदेव का नाम आज भी हम आदर से लेते हैं। लेकिन, ब्राह्मण धर्म को भोगवादी या प्रवृत्तिवादी बतलाया गया है। यह जीवन के

---

१. महाशान्ति–१०९।१२ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रति रागात्मक आस्था रखता है, यह आनन्द की प्राप्ति चाहता है और आनन्द-प्राप्ति के माध्यम से स्वर्गोपलब्धि इसकी सर्वोच्च परिकल्पना है।

ब्राह्मण धर्म ने सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। इसने ब्राह्मण को समाज का शिरमौर बना दिया। इतना ही नहीं, सत्कर्म का भी अधिकार मात्र ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को ही उपलब्ध कराया। इसने शूद्रों के धर्मादि-कार्यों पर रोक लगा दी। नारियों के साथ भी अवमानना किया गया। इससे समाज कई भागों में विभक्त हो गया और ऊँच-नीच तथा छूआछूत जैसी महामारी फैल गयी। लेकिन, श्रमण धर्म में शूद्रों को भी श्रमण एवं श्रावक बनने का अधिकार प्राप्त है। इसमें अहिंसा एवं सदाचरण करने वाले सभी व्यक्तियों को समान दृष्टि से देखा जाता हैं।

अतः उपर्युक्त तथ्यों के अवलोकन से यह पुष्ट हो जाता है कि श्रमण धर्म, ब्राह्मण धर्म से श्रेष्ठतर है।

———

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन धर्म-दर्शन में लेश्या : एक शास्त्रीय विवेचन

डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी*

लेश्या का स्वरूप—विश्व के सभी धर्मों में लेश्या की अवधारणा जैनधर्म की अपनी मौलिक और विशिष्ट अवधारणा है जिसमें जीवों के मनोभावों का अति सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया है। वस्तुतः जैन तत्वज्ञान का यह एक अपना विशेष मनोवैज्ञानिक पहलू है जिसका विवेचन विपुल जैन-साहित्य के अनेक प्रमुख ग्रन्थों में किया गया है। लेश्या शब्द का अर्थ है आणविक-आभा, कान्ति, प्रभा या छाया[1]। कषाय के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काय रूप योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं[2]। लेश्या के इस लक्षण में मात्र कषाय और मात्र योग को लेश्या नहीं कहा अपितु कषायानुबिद्ध योग प्रवृत्ति को ही लेश्या कहा है। जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है[3] अथवा जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है उनके अधीन करता है उसे लेश्या कहते हैं[4]।

जिस प्रकार आमपिष्ट से मिश्रित गेरू मिट्टी के लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भाव रूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है उसे लेश्या कहते हैं[5]। इसीलिए जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्म का सम्बन्ध करने वाली होती है उसे लेश्या कहा गया है। वस्तुतः कर्म पौद्गलिक होते हैं अतः आत्मा के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण होता है और वे पुद्गल उसके चिंतन को प्रभावित करते हैं। इसीलिए जीव के शुभाशुभ परिणाम को लेश्या कहा जाता है। अच्छे कर्म-पुद्गल अच्छे चिंतन में और अशुभ पुद्गल अशुभ चिंतन में सहायक बनते हैं।

---

*अध्यक्ष जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. लेशयति—श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या—अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया।—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्तिपत्र ६५०।

२. (क) जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजियाहोई —गो० जीवकाण्ड ४९०।
(ख) कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या -सर्वार्थसिद्धि २/३।

३. लिम्पतीति लेश्या कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारापेक्षित्वात्—धवला १/१, १,४पृ० १५०।

४. लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णिउउ पुण्ण पावं च।
जीवोत्ति होई लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खाया॥ पंचसंग्रह, १/१४२, गो० जी० ४८८।

५. जह-गेरुवेण कुड्डी लिप्पइ लेवेण आम पिट्टेण।
तह परिणामो लिप्पइ सुहासुह यत्ति लेव्वेण॥ पंचसंग्रह १४३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेश्या के दो भेद हैं – द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या[1]। वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ शरीर का वर्ण अर्थात् शरीर के वर्ण और आणविक आभा को द्रव्यलेश्या तथा मोहनीयकर्म के उदय या क्षयोपशम या उपशम या क्षय से जो जीव के प्रदेशों की चंचलता होती है उसे भावलेश्या कहते हैं[2]। अर्थात् जीव के परिणामों और प्रदेशों का चंचल होना भावलेश्या है। वस्तुतः परिणामों का चंचल होना कषाय है और प्रदेशों का चंचल होना योग है। इसी से योग और कषाय से भावलेश्या होती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से जीव के जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भी भावलेश्या है। सामान्य रूप में आत्मिक विचारों को भावलेश्या तथा उनके सहायक पुद्गलों को द्रव्यलेश्या कहते हैं। द्रव्यलेश्या के छः भेद हैं – कृष्ण, नील, कापोत, तेजस् (पीत), पद्म और शुक्ल।[3] इनमें एक-एक भेद अपने-अपने उत्तर भेदों द्वारा अनेक रूप हैं[4]। सामान्य से ये ही भेद भावलेश्या के हैं। किन्तु लेश्याओं के असंख्यात लोक-प्रमाण भेद हैं। वर्णों (रंगों) के अनुसार जिस प्रकार विविध तारतम्य पाया जाता है उसी प्रकार भावों के तारतम्य से भावलेश्या के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद होते हैं।

द्रव्य और भाव दोनों रूप छहों लेश्याओं में प्रथम तीन लेश्यायें संक्लिष्ट होने से दुर्गति की ओर ले जाने वाली हैं तथा बाद की तीन लेश्यायें असंक्लिष्ट होने से सुगति की ओर ले जाने वाली हैं। लेश्याओं का सम्बन्ध शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों से है। अप्रशस्त और प्रशस्त इन द्विविध मनोभावों के उनकी तारतम्यता के आधार पर छह भेद बताये गये हैं[5]।

अप्रशस्त मनोभाव

१. कृष्ण—तीव्रतम अप्रशस्त मनोभाव (अशुद्धतम)।
२. नील—तीव्र अप्रशस्त मनोभाव (अशुद्धतर)।
३. कापोत—अप्रशस्त मनोभाव (अशुद्ध)।

प्रशस्त मनोभाव

४. तेजस्—प्रशस्त मनोभाव (शुद्ध)।
५. पद्म—तीव्र प्रशस्त मनोभाव (शुद्धतर)।
६. शुक्ल—तीव्रतम प्रशस्त मनोभाव (शुद्धतम)।

---

१. लेश्या द्रव्यभावभेदाद् द्वेधा—गोम्मटसार जी, जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका ४८९।
२. वण्णोदयसंपादिद सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
मोहुदयखओवसमोवसखयज जीवफंदणं भावो ॥ गो० जीवकाण्ड ५३६।
३. मूलाचारवृत्ति १२/९६, सर्वार्थसिद्धि २/६, पृ० ११९।
४. सा सोढा किण्हादी अणेय समेयेण—गो० जी० ४९४।
५. उत्तराध्ययन ३४/३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तुतः आत्मा की परिणति दो प्रकार की होती है—शुद्ध और अशुद्ध रूप। इनमें कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन रंग अशुद्ध माने गये हैं। अतः ये अधर्म रूप लेश्यायें अशुभ या अशुद्ध हैं। तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीन रंग शुद्ध माने गये हैं अतः ये शुभ या शुद्ध रूप धर्म-लेश्यायें हैं।

अतः कृष्ण, नील आदि छह वर्णों (रंगों) की अपेक्षा[1] तथा कटु, तिक्त आदि रसों की अपेक्षा[2] द्रव्यलेश्या के छह भेद हैं—

१—भौंरा या कजल के समान कृष्णवर्ण और नीम या तुम्बे से अनन्त गुण कटु पुद्गल के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है वह कृष्ण लेश्या है।

२—नीलम के समान नीलवर्ण और सोंठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण पुद्गल के सम्बन्ध से होने वाले आत्मा के परिणाम को नीललेश्या कहते हैं।

३—कबूतर के गले के समान रक्त एवं कृष्ण वर्ण तथा कच्चे आम (कैरी) के रस से अनन्तगुण तिक्त पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है, वह कापोत लेश्या है।

४—हिंगुल (सिन्दूर) के समान रक्तवर्ण और पके आम के रस से अनन्त गुणा मधुर पुद्गलों के संयोग से जो आत्मा के परिणाम होता है वह तेजस् लेश्या है।

५—हल्दी के समान पीतवर्ण तथा मधु में भी अनन्त गुणा मिष्ट पुद्गलों के संयोग से आत्मा का जो परिणाम होता है वह पद्म लेश्या है।

६—शंख के समान श्वेतवर्ण और मिश्री के समान अनन्त गुण मीठे पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा का जो परिणाम होता है वह शुक्ल लेश्या है शान्त-मन, जितेन्द्रियता, वीतरागता आदि शुक्ल लेश्या के परिणाम हैं।

गन्ध की दृष्टि से कृष्ण, नील और कपोत ये तीनों अप्रशस्त लेश्यायें मृत गाय, श्वान और सर्प के कलेवर की गन्ध से भी अनन्त गुणा अमनोज्ञ तथा तेज, पद्म और शुक्ल—इन तीन प्रशस्त लेश्यायें सुगन्धित पुष्पों की सुगन्ध के समान अनन्तगुणा मनोज्ञ होती है।[3]

स्पर्श की दृष्टि से तीन अप्रशस्त लेश्यायें करवत, गाय की जीभ तथा शाक के पत्तों के कर्कश स्पर्श से भी अनन्तगुणा कर्कश तथा तीन प्रशस्त लेश्यायें नवनीत (मक्खन) तथा सिरीष के पुष्पों के मृदु स्पर्श से भी अनन्तगुणा मृदु स्पर्श होती हैं।[4]

गोम्मटसार के अनुसार षड्विध भावलेश्या की दृष्टि से जीव निम्नलिखित प्रकार के स्वभाव और विचारों के होते हैं—[5]

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड ४९५।
२. उत्तराध्ययन ३४/१०–१५।
३. उत्तराध्ययन ३४/१६-१७।
४. वही ३४/१८–१९।
५. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५०९–५१७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. कृष्ण--जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया; लोभ से युक्त, निर्दय, कलहप्रिय, मद्य-मांस के सेवन में आसक्त, दुष्ट हो तथा जो किसी के वश का न हो आदि ये सब कृष्ण लेश्या के लक्षण हैं।

२. नील—जो बहुत निद्रालु, घमण्डी, मायावी, ठग, कायर, पंचेन्द्रिय विषय लम्पटी, अनेक प्रकार के परिग्रह में आसक्त अति चपल हो तथा कार्यनिष्ठा से रहित जीव नील लेश्या युक्त होते हैं।

३. कपोत लेश्या—जो पर की निन्दा, आत्मप्रशंसा से प्रसन्न होता है, हानि-लाभ को नहीं देखता, लड़ाई होने पर मरने-मारने को तैयार रहता है, दूसरों को अच्छा न देख सकता हो, अविश्वासी, बहुत डर, शोक एवं ईर्ष्या करने वाला जीव कपोत लेश्या वाला है।

४. तेजो (पीत)—जो अपने कर्तव्य-अकर्तव्य तथा सेव्य-असेव्य को जानता है, सबको समान रूप से देखता है, दया और दान में प्रीति रखता है, ज्ञानी तथा मृदुस्वभावी है, दृढ़ता-मित्रता-सत्यवादिता तथा स्वकार्यपटुता आदि गुणों से समन्वित जीव तेजो या पीत लेश्या से युक्त होता है।

५. पद्म—जो त्याग और क्षमागुणों से युक्त भद्र परिणामी, सरल स्वभावी, शुभ कार्य में उद्यमी, कष्ट तथा अनिष्ट उपद्रवों को सहने वाला, मुनि और गुरुजनों की पूजा में प्रीति रखने वाला जीव पद्म लेश्या वाला होता है।

६. शुक्ल—जो पक्षपात (माया) और निदान से रहित, सबमें समान भाव रखने वाला, इष्ट-अनिष्ट में रागद्वेष रहित, पाप कार्यों से उदासीन, श्रेयोमार्ग में रुचि वाला, परनिन्दा रहित, पुत्र, मित्र और स्त्री में रागरहित—ये सब शुक्ल लेश्या से समन्वित जीव के लक्षण हैं।

ये छहों लेश्याएँ यथासम्भव सभी सम्भव सभी संसारी जीवों में पायी जाती हैं। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर दशम सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति से होने वाली लेश्याएँ हैं तथा ग्यारहवें उपशान्त मोह, बारहवें क्षीणमोह तथा तेरहवें संयोगकेवली—इन गुणस्थानों में कषायों का अभाव हो जाने पर भी योग विद्यमान होने से इनसे शुक्ललेश्या का सद्भाव होता है। अयोगकेवली नामक चौदहवां गुणस्थान तथा सिद्ध भगवान् लेश्यारहित है, क्योंकि इनमें योग का भी अभाव होता है[1]।

लेश्या वृक्ष का उदाहरण—गोम्मटसार[2] में वृक्ष से फलप्राप्ति के एक उदाहरण द्वारा छह लेश्याओं को छह व्यक्तियों के मनोभावों की दशाओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। जिसका चित्र प्रायः सभी जैन मन्दिरों की दीवारों पर भी देखा जाता है; इस प्रकार है—

कृष्ण आदि एक-एक लेश्या वाले छः पथिक वन में मार्ग भूल गये। क्षुधा, पिपासा, पीड़ित, थके-हारे उन पथिकों ने उस वन के मध्य फलों से युक्त लहलहाता हुआ

१. आचार्य श्री धर्मसागर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५०४।
२. गोम्मटसार जीवकाण्ड ५०७-५०८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक सघन वृक्ष देखा। इन छहों का बाह्य वर्ण भी कृष्ण, नील आदि रूप था, साथ ही अन्तरंग कषाय योग प्रवृत्ति भी भिन्न-भिन्न थी। उस फलयुक्त वृक्ष को देखकर—प्रथम कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति विचार करता है कि मुझे इस वृक्ष के फलों से अपनी क्षुधा शान्त करना है, अतः इसके फल प्राप्ति के लिए इस वृक्ष को जड़ से ही उखाड़कर इसके फल खाऊँगा। दूसरा नीललेश्या वाला सोचता है—फलप्राप्ति के लिए समूचे वृक्ष को उखाड़ने की क्या जरूरत? इसका मात्र स्कन्ध (तना) काटकर ही फल प्राप्त करके क्षुधा शान्त कर लेंगे। तीसरा कापोतलेश्या वाला व्यक्ति सोचता है कि इस वृक्ष की बड़ी डाल (शाखा) काटकर फल खाऊँगा। चौथा पीतलेश्या वाला व्यक्ति छोटी-छोटी टहनियों (शाखाओं) को काटकर फल खाने की इच्छा रखता है। पंचम लेश्या वाला (पद्म लेश्या) व्यक्ति वृक्ष के मात्र सीधे फलों को ही तोड़कर खाने की इच्छा रखता है। छठा शुक्ललेश्या वाला पथिक विचार करता है कि जमीन पर टूटकर गिरे हुए फलों को ही खाऊँगा। इस प्रकार मनपूर्वक जो वचन होता हैं, वह क्रम से उन लेश्याओं का कार्य होता है। इस उदाहरण में प्रथम पथिक से लेकर छठे तक के सभी पथिकों की मानसिक परिणामों की स्थिति उत्तरोत्तर विशुद्ध है। सभी पथिक फल तो खाना चाहते हैं, किन्तु उनकी प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार कषायों के तर-तम भाव ही लेश्या के अनेक भेदों का जनक होता है। इस उदाहरण द्वारा लेश्याओं का स्पष्ट रूप ज्ञात हो जाता है और यह मात्र परिणामों की तरतमता दिखलाता है।

जीवों में लेश्या का सद्भाव—तिर्यञ्चों और मनुष्यों में लेश्याओं का इस प्रकार सद्भाव होता है—एकेन्द्रिय; विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियों में कापोत नील और कृष्ण—ये तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। असंख्यात आयु वाले भोगभूमि के जीवों में तेज, शुक्ल और पद्म ये तीन लेश्याएँ होती हैं। शेष कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यञ्चों और मनुष्यों में छहों लेश्याएँ होती हैं।[1] यहाँ पर भी किन्हीं जीवों के द्रव्यलेश्या अपने आयु-प्रमाण निश्चित हैं, किन्तु सभी जीवों की भाव लेश्या अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तन करने वाली होती हैं, क्योंकि कषायों की हानि-वृद्धि से उनकी हानि वृद्धि जानना चाहिये।

देवों में भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क को जघन्यतेजोलेश्या, सौधर्म और ईशान में मध्यमतेजो लेश्या, सानत्कुमार, माहेन्द्र इनमें उत्कृष्टतेजो लेश्या और जघन्यपद्मलेश्या, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र—इन छहों में मध्यमपद्मलेश्या, शतार और सहस्रार—इन दो में उत्कृष्ट पद्म तथा जघन्यशुक्ललेश्या. आनत, प्राणत, आरण और अच्युत सहित नवग्रैवेकों में अर्थात् इन तेरहों में मध्यमशुक्ललेश्या, नवअनुदिश और पाँच अनुत्तर इन चौदह विमानों में परम (सर्वोत्कृष्ट) शुक्ललेश्या होती है।[2]

नरक पृथ्वियों में लेश्याओं का विधान इस प्रकार है—रत्नप्रभा, शर्करप्रभा, वालुका-प्रभा, पंकप्रभा, धर्मप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा ये सात नरक की पृथ्वियाँ हैं।[3]

---

१. एइंदियवियलिंदिय असण्णिणो तिण्णि होंति असुहाओ। संखादीहाऊणं विण्णि सुहा छप्पि सेसाणं॥ मूलाचारसवृत्ति १२/९६।

२. मूलाचारवृत्ति १२/९४–९५।

३. मूलाचार १२/९३।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनमें क्रमशः रत्नप्रभा नरक में जघन्य कापोतलेश्या, द्वितीयाशर्करा में मध्यम कापोतलेश्या, तृतीय बालुकाप्रभा के ऊपरी भाग में उत्कृष्ट कापोतलेश्या और निम्न भाग में जघन्य नीललेश्या, चतुर्थ पंकप्रभा में मध्यम नीललेश्या, पंचम धूमप्रभा के ऊपरी भाग में उत्कृष्ट नीललेश्या तथा अधोमाग में जघन्य कृष्णलेश्या, षष्ठ तमप्रभा में मध्यम कृष्णलेश्या और सप्तम महातमप्रभा में उत्कृष्ट कृष्णलेश्या होती है।[१]

इस तरह विभिन्न लेश्याओं का विभिन्न गतियों और जीवों में तरतमता से सद्भाव पाया जाता है। किन्तु मरण समय में निम्नलिखित प्रकार से लेश्याएँ सम्भव होती हैं—

प्रथम पृथ्वी से छठी तक के असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी मनुष्यों में अपनी अपनी पृथ्वी योग्य लेश्याओं के साथ उत्पन्न होते हैं। अतः उनमें कृष्ण, नील, कापोत लेश्याएँ पायी जाती हैं। इसी प्रकार देवगति से असंयत सम्यग्दृष्टि देव मरकर अपनी-अपनी पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं के साथ मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देव, तिर्यञ्च और मनुष्यों में उत्पन्न होते समय नष्ट लेश्या अर्थात् अपनी-अपनी पूर्व लेश्या छोड़कर मनुष्यों और तिर्यञ्चों में उत्पन्न होने के प्रथम समय कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से परिणत हो जाते हैं।[२]

हम देखते हैं कि कषायों के प्रतिफल स्वरूप कर्मबंध होता है, तदनुसार जीव पुण्य और पाप रूप फल भोगता है। जबतक कषाय है, तबतक संसार वृद्धि होती रहती है। शुभ लेश्याओं से संसार निवृत्ति का संयोग बैठता है। जब व्रत, संयम, तप, धर्म आदि मोक्षानुकूल पुरुषार्थ जीव द्वारा होता है, तभी आत्मा के कर्म-मल को हटाया जाता है।

लेश्या-विशुद्धि का उपक्रम - भगवती आराधना में लेश्याओं की विशुद्धि का उपक्रम बतलाते हुए कहा है[3] कि परिग्रह के त्याग से लेश्या में विशुद्धि आती है। परिणामों की विशुद्धि होने से लेश्या की विशुद्धि होती है। जिसकी कषाय मन्द होती है, उसके परिणामों में विशुद्धि होती है। जो बाह्य परिग्रह का त्याग करता है, उसकी कषाय मन्द होती है, जिसकी कषाय तीव्र होती है वही सब परिग्रह रूप पाप को स्वीकार करता है। जैसे बाहर में तुष (छिलका) रहते हुए चावल की आभ्यन्तर शुद्धि सम्भव नहीं है, वैसे ही परिग्रही जीव के लेश्या की विशुद्धि सम्भव नहीं है। अन्तरंग में कषाय की मन्दता होने पर नियम से बाह्य परिग्रह का त्याग होता है तथा आभ्यन्तर में मलीनता होने पर भी जीव बाह्य परिग्रहों को ग्रहण करता है। जैसे ईंधन से आग बढ़ती है और ईंधन के अभाव में बुझ जाती है—वैसे ही परिग्रह से कषाय बढ़ती है और परिग्रह के अभाव में ही मन्द हो जाती है। इस प्रकार लेश्या में निरन्तर विशुद्धि होती जाती है। लेश्याओं द्वारा भावनाओं एवं विचार तरंगों का जितना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जायेगा, उतना ही इनकी महत्ता सिद्ध होगी, क्योंकि मानसिक विचारों की श्रेणियों को ही लेश्या कहा गया है।

●

---

१. मूलाचार वृत्ति १२/९३।
२. धवला २/१, १/५११, ६५६।
३. भगवती आराधना गाथा —१९०४–१९०६, १९११, १९०९, १९०७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राचीन भारतीय जैन समाज में नारी शिक्षा

जयन्त कुमार

एक समय मैडम कैम्पन से वातों के क्रम में नेपोलियन ने पूछा था, "शिक्षा का पुराना ढंग वहुत रद्दी मालूम पड़ता है ! किस कमी की पूर्ति होने से मनुष्यों को ठीक-ठीक शिक्षा मिल सकती है ?" मैडम ने उत्तर दिया था, "माताओं की त्रुटियों की पूर्ति से।" इस उत्तर का नेपोलियन पर बहुत असर पड़ा और उसने कहा—"सम्पूर्ण शिक्षा का सार इसी एक शब्द में भरा पड़ा है। माता को शिक्षित बनाओ, जो बच्चों का पालन जानें[1]। अत्यन्त प्राचीनकाल में ही जैन मनीषियों को नारी की शक्ति का अनुमान हो गया था। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने नाटी को शिक्षित करने का यथासंभव प्रयास किया।

यद्यपि जैन वाङ्मय में नारी शिक्षा से सम्वन्धित तथ्यों पर प्रत्यक्ष रूप से कोई विचार नहीं किया गया है, तथापि जैन आगमों में एवं कथा-साहित्यों में यत्र-तत्र नारी शिक्षा की झलक दृष्टिगोचर होती रहती है। "अनेक ऐसी जैन कथाएँ हैं, जिनसे स्पष्ट होता है, कि अनेक विधाओं में निपुण होकर नारियों ने धर्म प्रचार किया और सांसारिक माया का त्याग कर मानव सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। भगवान् महावीर की शिष्या 'चन्दनवाला' इसी ही एक स्त्री रत्न थीं[2]।

नारियों के शिक्षारम्भ संस्कार पर आदिपुराण के अतिरिक्त लगभग सभी जैन ग्रन्थ मौन हैं "वौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन" जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी इनके शिक्षारम्भ संस्कार पर प्रकाश डालने में असमर्थ है। आदिपुराण के अनुसार "अपनी पुत्रियों को विद्या का महत्त्व समझाकर भगवान् वृषभदेव ने विशाल स्वर्ण के पट्ट पर अपने चित्रों में श्रुतदेवता का पूजन कर स्थापन किया। फिर दोनों हाथों से अ, आ, इ, ई आदि अक्षर मालिका लिखी तथा अनुक्रम से इकाई-दहाई आदि अंकों के द्वारा संख्या का ज्ञान कराया। इस प्रकार उन दोनों पुत्रियों को भगवान् ने लिखने का उपदेश दिया[3]।"

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने शिक्षारम्भ की उम्र पाँच वर्ष स्वीकार की है। 'आदिपुराण में पाँच वर्ष की आयु में लिपिसंस्कार करने का उल्लेख है, जिसमें स्वर्ण पट्ट पर अक्षर ज्ञान प्रारम्भ कर दिया जाता था। शास्त्रों का अध्ययन यहाँ भी उपनीति क्रिया के

---

१. डा० कैलाशचन्द्र जैन, हमारी शिक्षा पद्धति, दिल्ली, १९३२ ई०, पृ० १४–१५।

२. श्रीचन्द्र जैन, जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, जयपुर, १९७१ ई० पृष्ठ ८०।

३. पं० लालाराम जैन द्वारा अनुवादित, जिनसेम का आदिपुराण, इन्दौर, १९७३ वि० सं०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाद माना गया है[४]।' सम्भवतः नारी की शिक्षारम्भ पाँच वर्षों की अवस्था में हो जाता था। पाँच से आठ वर्षों के बीच अक्षराभ्यास कराकर बालकों को कलाचार्य के पास भेज दिया जाता था। बालिकाओं को यों तो किसी राजकीय पाठशाला में भेज दिया जाता था अथवा उनके लिए महलों में ही शिक्षकों की व्यवस्था की जाती थी[५]।

जैन समाज में दो प्रकार की छात्राएँ थीं—प्रथम कोटि की वे छात्राएँ थीं, जिनका अध्ययन काल आठ वर्षों का था और दूसरी कोटि में वैसी छात्राएँ थीं, जो भिक्षुणी बनकर आजीवन अध्ययन करती रहती थीं[६]। वस्तुतः स्त्रियाँ अपनी पारिवारिक स्थिति के अनुसार शिक्षा प्राप्त करती थीं। यही कारण है कि चौंसठ कलाओं में निपुण एवं साधारण ज्ञान से सन्तोष प्राप्त कर लेने वाली दोनों प्रकार की छात्राओं की चर्चा हमें जैन वाङ्मय में प्राप्त होती हैं।

नारियों के लिए पुरुष एवं स्त्री दोनों प्रकार के शिक्षकों की व्यवस्था की गयी थी। पुरुष शिक्षक से निम्नांकित योग्यताओं की अपेक्षा रखी जाती थी—

"उत्तम क्षमादि धर्म जिसे प्रिय हो, जो शुद्ध धर्म वाला हो, धर्म में हर्ष करने वाला हो, पाप से डरता हो, अखण्डित आचरण वाला हो, हितोपदेशी हो, गुणों में अगाध हो, पाखण्डियों से दबने वाला न हो, चिरकाल का दीक्षित हो, अल्पभाषी हो, आचार अथवा प्रायश्चित्त आदि ग्रन्थों को जानने वाला हो[७]।"

भिक्षुणी संघ नारी की शास्त्रीय शिक्षा का प्रधान साधन था। अतः यह कहा जाता है कि बौद्ध एवं जैन युगीन भिक्षुणी संघ से नारी शिक्षा को प्रश्रय मिला। गम्भीरता से सोचने पर स्पष्ट होता है कि भिक्षुणी संघ में शास्त्रीय शिक्षा देकर केवल अनागारावस्था में स्थित नारी को अनुशासन में रखने का उचित प्रबन्ध किया गया[८]।

गणिकाओं को भी जैन समाज ने शिक्षिका के पद पर प्रतिष्ठित किया था। "वेश्या वैदिक शास्त्र की पण्डित होती थीं। इस शास्त्र का अध्ययन करने के लिए कितने ही लोग वेश्याओं के पास जाया करते थे[९]।' 'चम्पा नगरी में देवदत्ता नाम की गणिका निवास

---

४. डा० प्रेम सुमन जैन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली, १९७५ ई० पृ० २२८।

५. डा० डी० सी० दास गुप्ता, जैन सिस्टम ऑव एजुकेशन, कलकत्ता १९४२, पृ० ४१–४२।

६. डा० एन० एन० शर्मा, जैनवाङ्मय में शिक्षा के तत्त्व, शोध-प्रबन्ध, पटना विश्वविद्यालय, १९७५ ई०, ५१६।

७. वही एवं मूलाचार १८३–८४।

८. डा० कोमलचन्द्र जैन, बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन, अमृतसर, पृ० १९६।

९. मधुकरमुनि, सूत्रकृताङ्ग, ब्यावर १९८२ ई०, ४–१–२४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करती थी। वह समृद्ध थी, चौंसठ कलाओं में पण्डिता थी "देशी भाषाविशारद थी[10]।

जैन छात्राएँ विभिन्न प्रकार के विषयों का अध्ययन करती थीं। कल्पसूत्र के अनुसार अभिजात्य वर्ग की स्त्रियाँ चौंसठ कलाओं में निपुण होती थीं। चौंसठ कलाएँ निम्न-लिखित थीं :—

नृत्य, औचित्य, चित्र, वादित्र, मन्त्र, तन्त्र, ज्ञान, विज्ञान, दम्भ, जलस्तम्भ, गीतमान, तालमान, मेघवृष्टि, फलावृष्टि. आरामरोपण, आकारगोपपा, धर्मविचार, शकुनसार, क्रियाकल्प, संस्कृतजल्प, प्रासाद नीति, धर्मरीति, वर्णिका बुद्धि, स्वर्णसिद्धि, सुरभि तैलकरण, लीलासञ्चन, हयगज परीक्षण, पुरुष-लक्षण, स्त्री-लक्षण, हेमरत्न भेद; अष्टादश लिपि परिच्छेद, तत्काल बुद्धि, वास्तुसिद्धि, कामविक्रिया, वैद्यक क्रिया. कुम्भभ्रम, सारिश्रम, अञ्जनयोग, चूर्णयोग. हस्तलाघव, वचनपाटव, वाणिज्य विधि, मुखमण्डन, शीलखण्डन, कथाकथन, पुष्पग्रन्थन, वक्रोक्ति, काव्यशक्ति, स्फारविधिवेष, सर्वभाषा, विशेष, अभिधान ज्ञान, भूषण परिधान, भृत्योपचार, गृहाचार, व्याकरण, परनिराकरण, रन्धन, केशबन्धन, वीणानाद, वितण्डावाद, अंकविचार, लोक व्यवहार, अन्त्याक्षरिका, प्रश्नप्रहेलिका[11]।

प्राचीन भारत में आधुनिक युग की भाँति परीक्षापद्धति का विकास नहीं हुआ था। उनका सम्पूर्ण जीवन ही परीक्षा केन्द्र था। शिक्षितों को कोई भी शास्त्रार्थ के लिए ललकार सकता था। अतः उन्हें पग-पग पर परीक्षाओं से दो-चार होना पड़ता था। नायकुमार-चरिउ में पंचसुगन्धा की एक रोचक कथा है, जो अपनी दो पुत्रियों को लेकर नागकुमार के पास वीणावादन की परीक्षा के लिए आती है। सफलता प्राप्त होने पर राजा से अपनी पुत्रियों के लिए नागकुमार को मांग लेती है[12]।

परीक्षोपरान्त उपाधि देने की प्रथा भी थी। इस क्षेत्र में स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे न थीं। ये उपाधियाँ राजा, संघ अथवा समाज के द्वारा उन्हें अध्ययन एवं साधना के वल पर प्राप्त होती थीं। कुछ प्रमुख उपाधियाँ थीं :—

पण्डिता, आर्यिका, आचार्या, महत्तरा, प्रवर्तिनी, गणिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका, प्रतिहारी, क्षुल्लिका, साध्वी, स्थविरा आदि[13]।

जहाँतक नारी शिक्षाकेन्द्र का प्रश्न है, प्रायः स्त्रियाँ पाठशाला में, स्वतन्त्र गुरु से, गणिका से अथवा भिक्षुणी संघ में शिक्षा प्राप्त करती थीं। जैन संघ में नारी की अवस्था भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ नीची थी। तीन वर्षों का उपसम्पन्न भिक्षु तीस वर्षों की उपसम्पन्न

---

१०. पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र, पाथर्डी, १९६४, अण्डक नामक तृतीय अध्ययन पृ० १५९।

११. एच० आर० कपड़िया, जैन सिष्टम ऑव एडुकेशन, जर्नल आव द बम्बई यूनिवर्सिटी, भाग ८, खण्ड ४, पृ० २०१—२०२।

१२. डा० हीरालाल जैन, णायकुमारचरिउ, नईदिल्ली—१९४४ ई० ३/६—७।

१३. डा० एन० एन० शर्मा, जैन वाङ्मय में शिक्षा के तत्त्व, पृ० ५१८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भिक्षुणी का उपाध्याय एवं पाँच वर्षों का उपसम्पन्न भिक्षु साठ वर्षों की उपसम्पन्न भिक्षुणी का आचार्य हो सकता था[१४]।

सम्भवतः इसका कारण था, प्राचीन भारतीय समाज द्वारा स्त्रियों पर सारी अयोग्यताएँ थोप देना। यथा :—

नारियों में चार प्रकार की अयोग्यताएँ होती हैं—वे तुच्छ हैं, घमण्डी हैं, उनके ज्ञान के अंग सरल हैं, वे चञ्चल दिमाग की होती हैं और कमजोर होती हैं।[१५] भूदेव सूरि के अनुसार एक बुद्धिमान यह समझ सकता है कि गंगा में कितनी रेत है, महासागर में कितना पानी है, विशाल पर्वत का परिमाण कितना है ? किन्तु वह एक स्त्री को भली-भाँति नहीं समझ सकता।[१६]

सम्भवतः इन्हीं कारणों से जैनधर्म का एक सम्प्रदाय नारी को मोक्ष के लिए अयोग्य मानता है। अब कुछ लोग यह कहना चाहते हैं कि संघ में ब्रह्मचर्य की अटूट साधना के लिए पुरुष वर्ग ही निभ सकता था, नारी वर्ग नहीं। कारण —यदि पुरुष की इच्छा न हो तो उसे ब्रह्मचर्य से च्युत करना सम्भव नहीं। जबकि ब्रह्मचर्य से रहने की तीव्र इच्छा रहने पर भी नारी को उससे सहज में ही च्युत किया जा सकता है।[१७]

इस कोटि के विद्वान् स्त्री के निर्बल पक्ष को ही देखते हैं। सम्भवतः इस समय वे उत्तराध्ययन की राजीमति जैसी स्त्रियों को भूल जाना चाहते हैं, जिसे निर्वस्त्रावस्था में देखकर साधनारत रथनेमि हृदय डोल जाता है। राजमति की फटकार से उसके होश ठिकाने आते हैं।[१८] ऐसे अनेक उदाहरण जैन वाङ्मय में भरे पड़े हैं, जब नारी ने पुरुषों का मार्गदर्शन किया।

वस्तुतः तत्कालीन नारी की अवस्था को आधुनिक नारी को ध्यान में रखकर समझना टेढ़ी खीर है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि नारी को अयोग्य मानने के लिए चञ्चला, दुर्बला आदि कहना पुरुष प्रधान समाज के बहाने हैं। समाज में यदि दुश्चरित्र स्त्रियाँ थीं तो दुश्चरित्र साधु भी थे।[१९] ऐसी स्थिति में मात्र नारी पर सारी अयोग्यताएँ थोपना तत्कालीन समाज की आवश्यकता थी। जिसपर आवरण डालना अब सम्भव नहीं।

●

---

१४. व्यवहार भाष्य ७/१९–२०।
१५. एच० आर० कपडिया, जैन सिस्टम ऑव एडुकेशन, पृ० २३९।
१६. बी० ए० सांगव, जैन कम्यूनिटी, बॉबे पोपुलर प्रकाशन, १९८० ई०, पृ० १६८।
१७. डा० कोमलचन्द्र जैन, बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन, पृ० १७६–७७।
१८. साध्वी चन्दना, उत्तराध्ययन सूत्र, आगरा, १९७२, बारहवाँ अध्ययन।
१९. डा० छगनलाल शास्त्री, समराइच्चकहा, बीकानेर, १९७६ ई०, प्रस्तावना पृ० १२–१३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-यात्रा

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त भारत की सामासिक संस्कृति के उद्गाता महाकवि हैं। भारतेन्दु ने पहले-पहल व्रजभाषा की कविता के माध्यम से उस समय की हिन्दी को विषयगत विविधता तो प्रदान की, परन्तु कविता का माध्यम व्रजभाषा ही बनी रही और गद्य के लिए खड़ी बोली। अभिव्यक्ति की दृष्टि से हिन्दी दो भाषाओं में विभाजित सी थी। भारतेन्दु के असमय अवसान के कुछ वर्षों बाद ही हिन्दी के क्षितिज पर जब महावीर प्रसाद द्विवेदी का अवतरण हुआ, उन्होंने खड़ी बोली के लिए संगठित आन्दोलन किया— 'गद्य और पद्य की भाषा केवल खड़ी बोली हो।' उन्होंने स्वयं संस्कृत वर्णवृत्तों में खड़ी बोली में अनुकान्त कविताएँ कीं। पुरातनपन्थी व्रजभाषा समर्थकों ने इसका जमकर विरोध किया। पर, लौह-पुरुष द्विवेदीजी 'सरस्वती' की माध्यम से हिन्दो कविता के माध्यम के रूप में खड़ी बोली को दृढ़ता से स्थापित कर सके।

इसी पृष्ठभूमि में सन् १८८६ की अगस्त में महाकवि मैथिलीशरण गुप्त का जन्म चिरगाँव (झाँसी) के अतिसम्पन्न वैश्य परिवार में हुआ। पिता श्री रामचरण कनकने घी के व्यापारी थे और सीताराम के चरणों के प्रबल अनुरागी। जब-तब व्रजभाषा की भक्तिभावपूर्ण कविता भी करते। वैष्णव परिवार में 'मानस' का पारायण होता। किशोर होने पर स्वयं मैथिलीशरणजी 'मानस' का साप्ताहिक पारायण करते। उसी अल्पवय में गुप्तजी ने एक छोटी सी कविता (छप्पय) अपने पिताश्री की काव्य-पुस्तिका में स्वयं रचकर लिख दी। पिता ने लख लिया —'भावी महाकवि हिन्दी का जन्म ले रहा है।' बस घर पर ही हिन्दी और संस्कृत की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ और सहज भाव से काव्य-रचना की, साहित्य विद्या की भी शिक्षा का सूत्रपात हुआ। वह बीज वृक्ष ही कुछ वर्षों में पल्लवित, पुष्पित हो, सारे हिन्दी जगत् को अपने काव्य-सौरभ से आप्यायित और अनुप्रेरित करने लगा।

यों काव्य-रचना का 'ककहरा' तो गुप्तजी ने व्रजभाषा से ही शुरू किया। तब कलकत्ता से प्रकाशित 'वैश्योपकार' में आपके दोहे, चौपाई और छप्पय तथा अन्योक्तियाँ जब-तब छपा करते। खड़ी बोली की पहली कविता कानपुर से प्रकाशित 'मोहिनी' पत्रिका में छपी। वही कविता 'सरस्वती' में भी छपी विलम्ब से और सुधर करके। तभी से गुप्तजी आचार्य द्विवेदीजी के सम्पर्क में आये और उन्हें उनका अनुशासन, प्रोत्साहन और दिशा निर्देशन भी प्राप्त होता रहा, जिसने हिन्दी का ऐसा हितसंवर्द्धन किया कि कुछ ही वर्षों में वे रचनाओं की प्रचुरता, विषय की विविधता, शैली के वैलक्षण्य, काव्यरूपों की बहुरंगिता,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देशभक्ति और उच्चतर उदात्त मानवीय भावनाओं के अद्भुत सामञ्जस्य के कारण वे हिन्दी के प्रतिनिधि कवि और राष्ट्रकवि के रूप में विख्यात हो गये, क्योंकि उनकी कविता में पराधीन राष्ट्र की आत्मा का, सुख-दुःख का आनन्द और विषाद का स्वर गूँज उठा—

भगवान् भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।

उनका पहला लघु प्रबन्ध काव्य खड़ी बोली में १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ—रंग में भंग। राजस्थान की शौर्यगाथा से ओतप्रोत, हिन्दुत्व के गौरव से महिमा मण्डित। स्वयं गुप्तजी के अनुसार जब 'पूर्वदर्शन' नामक उनकी काव्यकृति छपी तो राजा रामापाल सिंह और स्वयं आचार्य द्विवेदीजी ने गुप्तजी को अनुप्रेरित किया कि देश के युवकों में देशानुराग उत्पन्न करने वाली प्रशस्त काव्यकृति रची जाय। आचार्य की प्रेरणा और अन्तर की अनुभूति से आन्दोलित हो गुप्तजी ने १९१२ ई० में 'भारत-भारती' जैसी महत्तर प्रेरक कृति के सृजन का गौरव पाया। पराधीन भारत में देश के गौरव-गान और पुनरुत्थान का उद्घोष कितना कठिन था। भारत-भारती की एक मूल पँक्ति यों थी।

यदि जन्म लेते थे महात्मा 'भीष्म' तुल्य कभी यहाँ,
तो जन्मते हैं 'तिलक' जैसे धीर-वीर अभी यहाँ।

इस 'तिलक' के प्रयोग पर भारी आपत्ति प्रकट गयी तो बहुत सोच-समझकर उसके बदले 'लोकमान्य' शब्द रखा गया। आचार्य द्विवेदीजी के परामर्श पर विवशतापूर्वक यह संशोधन स्वीकार किया गुप्तजी ने। परिवर्तित रूप यों हुआ—

तो जन्मते हैं कुछ दृढ़व्रत लोकमान्य अभी यहाँ।

इतनी सतर्कता बरतने पर भी तब पराधीन भारत के सहस्र-सहस्र लोग 'भारत-भारती' की सहज प्रवाहमय देशगाथा को गा-गाकर पढ़ते और सभाओं में व्याख्यान देते। 'भारत-भारती' देश में उठती हुई क्रान्ति की ज्वारभाटा का प्रतीक वर्षों तक बनी रही। बिहार और मध्यप्रदेश में तो स्कूलों में प्रचलित उसके 'विषय' के पाठ पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। 'भारत-भारती' की भाषा में सादगी थी, सफाई थी और थी प्रवाहमयता, जो किस सहृदय भारतीय युवक को मुग्ध न कर ले। भावों में तेज था, ओज था, पर काव्यात्मक सौन्दर्य नहीं। उसका निरतंकृत सहज प्रवाहमय रूप ही उसकी शक्ति है। खड़ी बोली के परिमार्जन का वह काल था, अलंकरण और लालित्य सृजन का नहीं। अपनी उसी दुर्दमनीय भाव सम्पदा के कारण 'भारत-भारती' जैसी उद्बोधनात्मक कृति सारे उत्तर भारत का कण्ठहार हो गयी। इसी एक कृति ने गुप्तजी को समस्त उत्तर भारत में ही नहीं, जहाँ भी हिन्दी भाषी लोग हैं, उनके बीच उन्हें राष्ट्रीय चेतना के गायक कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। 'भारत-भारती' खड़ी बोली की कविता का ज्योतिस्तम्भ हो गया।

'भारत-भारती' तथा अन्य आख्यान काव्यों के रचनाकाल के अन्तराल में गुप्तजी ने 'विरहिणी व्रजांगना' और 'मेघनाद वध' जैसे बंगला के (माइकेल मधुसूदन दत्त) काव्य का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुवाद कर खड़ी बोली को दक्षता और इतिवृत्तात्मकता ये मुक्त कर भाषा के लालित्य और भावों की कोमलता का पथ प्रशस्त किया ।

गुप्तजी का रचना-काल लगभग छः दशकों (साठ वर्ष) का है । इस लम्बी अवधि में उन्होंने उन्नीस छोटे-बड़े प्रबन्ध-काव्यों की रचना की और तीन नाटकों पर भी अभ्यास किया । बाद में छायावादी काव्यप्रवृत्ति भी इन पर हावी हुई तो इनकी प्रतिभा उस वेदना, वियोग और विषाद को स्वर देने में भी योगदान करने लगी, पर गुप्तजी की सहज प्रतिभा आख्यानों, प्रबन्ध काव्यों की कथाओं और चरित्रों के पुनरुद्भावन तथा महत् उद्देश्यों की परिकल्पना में कहीं अधिक रमती रही है । उपर्युक्त दो प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त जयद्रथ वध, विकट भट, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, द्वापर, नहुष, यात्री, शक्ति, झंकार, कावा और कर्बला, साकेत और यशोधरा मुख्य प्रबन्ध-काव्य हैं । अन्तिम दोनों महाकाव्य हैं । 'स्वस्ति और संकेत' नाम से प्रकाशित मरणोत्तर काव्यकृति है, उसके सम्पादक हैं महान् साहित्य स्रष्टा अज्ञेयजी, जो उन्हें अपना साहित्य गुरु मानते हैं ।

इन छोटे प्रबन्ध काव्यों में प्रतिपाद्य विषय की विविधता इस तथ्य का हमें ऐहसास कराती है कि गुप्तजी की सृजन-चेतना कितनी व्यापक और विविधताशाली थी । क्या प्रागैतिहासिक भारतीय आख्यान, पुराण, वीर काव्य (रामायण-महाभारत) हिन्दूकाल और आधुनिक काल तक उनकी कलादृष्टि का प्रसार हुआ है । इनमें प्रस्तुत कथा-प्रबन्धों, चरित्रों के माध्यम से गुप्तजी ने भारतीय संस्कृति की समग्रता का, उसकी जीवन्त शक्ति का, कालानुसरण-क्षमता की महागाथा हमारे समक्ष कलात्मक, काव्यात्मक संस्पर्श के साथ प्रस्तुत की । महनीय आर्यचरित्रों के उदात्त जीवन संस्कारों को गढ़ने और सँवारने में गुप्तजी की कला-तूलिका की स्पर्धा समकालीन हिन्दी कवियों में शायद ही कोई कर सके । उनके राम, लक्ष्मण, कृष्ण, बुद्ध, सीता, उर्मिला, कैकेयी और यशोदा आदि पात्र अपने उदात्त, त्याग और तप से चाहे कितने ही महान् क्यों न हों पर वे नितान्त मानवीय सुख-दुःख की संवेदना के संस्पर्श से तरल हैं । कवि के अन्तर में एक साथ ही वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, गुरु नानक, कबीर और गाँधी की चिन्तनधारा और कल्पना का अद्भुत सामञ्जस्य हुआ है, पर उस सामञ्जस्य में कहीं भी कलात्मक सौन्दर्य का अभिनिवेश बाधित नहीं हुआ है । सब में भारतीयता की उदात्त भावना की प्रतिष्ठा हुई है, यही कारण है कि गुप्तजी साहित्य सृजन की इस प्रक्रिया के माध्यम से एक रससिद्ध कलाकार के रूप में विख्यात हुए, वहीं वे भारतीय संस्कृति के प्रस्तोता और व्याख्याता के रूप में भी स्मरण किये जाते हैं । इस रूप में भी उनका 'राष्ट्रकवि' होना चरितार्थ होता है ।

विषयवस्तु की विविधता इतना दीर्घकाल व्यापी है, पुरातन से अद्यतन काल तक को अपने कथा काव्यों में गुप्त जी ने फूलों की माला के रचनाकार कुशल मालाकार की तरह रंग-विरंगे, रोचक, प्रभाशाली आख्यानों, चरित्रों और विविध रचनात्मक उद्देश्यों से पिरोया है, इस आर्य जाति के उत्थान-पतन और पुनरुत्थान की महागाथा नाना छन्दों,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाना रागों और बहुरंगी शैलियों में गाई है, वह उन्हें इस युग का आधुनिक 'व्यास' सहज रूप में बना देती है।

रचना का इतना लम्बा आयाम, कथ्य को प्रस्तुत करने के इतने रूप, शैलियों के इतने बदलते रूप, छन्दों के वैविध्य और उनकी नित्य परिवर्तनशील प्रयोगधर्मिता वर्तमान साहित्य प्रवृत्तियों के प्रति स्वागत का भाव, (मैं आगे आने वालों का जय-जयकार) स्वस्थ पुरातन परम्पराओं के प्रति आग्रह और भविष्यत् की आहट का संकेत (मैं अतीत ही नहीं, भविष्यत् भी हूँ आज तुम्हारा) उन्हें समकालीन सभी हिन्दी कवियों में विशिष्ट बना देता है। अज्ञेय का कथन सर्वथा सार्थक है कि—"पचास वर्ष से भी अधिक समय तक हिन्दी जगत् पर छाये रह कर भी वह कैसे परम्परा से बिना नाता तोड़े नए चिंतन को भी आत्म-सात् करते हुए युवतर पीढ़ी के लिए वे एक चुनौती बने रह सके।" (राष्ट्रकवि-स्मृति लेखा)

द्विवेदी युग के इतिवृत्तात्मक काव्य रूप से लेकर छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोग-वादी काव्य प्रवृत्तियों पर पूरे अधिकार के साथ अपनी प्रतिभा के प्रस्तोता गुप्त जी युगधर्म और कालानुसरण क्षमता की भावना से सदा उत्प्रेरित रहे। यही कारण है कि साठ वर्षों तक काव्यरचना के क्रम में कथ्य, प्रस्तुति, भाषा का परिस्कार, छन्दों का वैविध्य, काव्य रूपों की बहुरंगिता का विवेचन करने पर वह न केवल गुप्त जी की काव्यधारा के उद्भव और विकास का ही इतिहास है, अपितु पूरी आधी सदी में द्विवेदीयुग से अधुनातन काल तक हिन्दी काव्यधारा की जो यात्रा हुई है, उसका जीवन इतिहास गुप्त जी के इन प्रबन्ध-काव्यों में सुरक्षित है।

'भारत-भारती' से 'यशोधरा' तक की काव्ययात्रा के दो एक उद्धरणों के तुलनात्मक विश्लेषण से उनके विकास का इतिहास मूर्तिमान् हो उठता है।

क्षत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिका को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।
वैश्यो ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ? (भारत-भारती)

'भारत-भारती' के जातीय उद्बोधक गीत पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की इन पंक्तियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है—

अँगरेज-राज सुखसाज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

'भारत-भारती' की इतिवृत्तात्मक शैली और 'यशोधरा' तथा 'साकेत' आदि प्रबन्ध काव्यों के अन्तराल की—दो दशकों—की अवधि में गुप्त जी की काव्यभाषा और शैली उत्तरोत्तर मँजती और परिस्कृत ही होती नहीं गयो, उसमें चारुता, श्रुतिमधुरता और सुकुमारता सहज भाव से परिपल्लवित होने लगी। उदाहरण स्वरूप पंचवटी की काव्य-भाषा में वह प्रौढ़ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भले नहीं आई है जो 'साकेत' में, परन्तु इसकी खड़ी बोली में कहीं निखार, प्राञ्जलता और कांतिमयता का आविर्भाव हो गया है। एक उदाहरण हीं पर्याप्त है :—

"चारु चन्द्र की चञ्चल किरणें खेल रही थीं जल-थल में।" (पँचवटी)

यहाँ तक आते-आते गुप्तजी की लेखनी काव्य में रमणीयता के सृजन, अलंकरण और वाग्वैदग्ध्य की ओर तेजी से उन्मुख होती हुई दिखाई देती है। बाद में छायावादी गीति शैली की सुकुमार भाव व्यंजना, विरह-वेदना और लाक्षणिकता, अन्योक्ति पद्धति का प्रभाव पड़ा और उस नयी काव्यधारा में भी गुप्तजी का कवि खूब रमा और 'वैतालिक' तथा 'झंकार' जैसी नये ढंग की छायावादी चाल में ढली काव्यकृतियाँ प्रकाश में आयीं। एक छोटा सा उदाहरण पेश है—

निकल रही है उर से आह।
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, सम्पुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिये खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी ।। (झंकार)

गुप्त काव्य के विकास पथ में 'पंचवटी' भी मील का पत्थर है। इसकी रचना से कवि के कृतित्व के प्रारम्भिक काल की समाप्ति होती है, मध्यकाल का उदय होता है। गुप्तजी का कवि व्यक्तित्व हिन्दी की छायावादी प्रवृत्तियों से ज्यों-ज्यों प्रभावित होते गये, उनके आख्यान काव्यों और फुटकर काव्यों की भाषा परिष्कृत और परिमार्जित होती गयी। भावों की व्यंजना में लाक्षणिकता, वाग्वैदग्ध्य का समावेश होता गया। सब मिलाकर यों कहें कि उसी प्रभाव काल में उनके दो महाकाव्यों 'यशोधरा' और 'साकेत' की रचना हुई।

'यशोधरा' का विशिष्ट काव्य रूप क्या है, इसमें खुद गुप्तजी ने अपने अनुज सियारामशरण गुप्त को सम्बोधित करते हुए कहा था—''कविता लिखो, गीत लिखो, नाटक लिखो। अच्छी बात है। लो कविता, लो गीत, लो नाटक और गद्य-पद्य; तुकान्त-अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं।"

वस्तुतः गुप्तजी ने उन तीन दशकों में काव्य के विभिन्न रूपों की रचना में प्रवीणता हासिल कर ली थी। इस प्रबन्ध काव्य में उन्होंने विभिन्न काव्य रूपों का प्रयोग किया ही है, विषय की प्रस्तुति की दृष्टि से भी उन्होंने वैष्णव धर्म और बौद्ध धर्म को करुणा के सेतु पर समन्वय की विराट् कलात्मक चेष्टा की है। 'यशोधरा' वैष्णव धर्म की सुकुमार प्राणमयी करुण मूर्ति है, बुद्ध सत्य और अहिंसा के जाग्रत देवता। दोनों धर्म परम्पराओं के समन्वय की तलाश ही उनकी इस महत्तर कृति का लक्ष्य है। बुद्ध की बेचैनी का चित्र कितना प्रभाव व्यंजक और लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता से सम्पन्न है :—

देखी मैंने आज जरा!
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हाय ! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा ?
सूख जायगा मेरा उपवन, जो है आज हरा ?
रिक्त मात्र है क्या सब भीतर, बाहर भरा-भरा ?
कुछ न किया, पर सूना भव भी यदि मैंने न तरा ?

(यशोधरा : बुद्ध का चिंतन)

सिद्धार्थ कुमार के महाभिनिष्क्रमण से उनकी पत्नी यशोधरा के दुःख-दर्द, विरह की पीड़ा को गुप्तजी की सधी हुई लेखनी ने कितनी सुकुमारता से आँका है—

प्रियतम ! श्रुतिपथ से आये।
तुम्हें हृदय में रख कर मैंने अधर कपाट लगाये।
मेरे हास-विलास ! किन्तु क्या भाग्य तुम्हें रख पाये ?
दृष्टि मार्ग से निकल गये थे तुम रसमय मनभाये।
प्रियतम तुम श्रुतिपथ से आये।
यशोधरा क्या कहे अब, रहो कहीं भी छाये,
मेरे ये निःश्वास व्यर्थ यदि तुमको खींच न लाए ॥
प्रियतम ! तुम श्रुतिपथ से आये।

या बुद्ध के प्रति यशोधरा के निर्गत ये मर्मस्पर्शी उद्‌गार कितने कवित्वमय हैं :—

जाओ नाथ ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे रानी–
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण कहानी ?
तुम्हें अप्सरा विघ्न न व्यापे यशोधरा करधारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी ॥

\+ \+ \+

चेरी भी वह आज कहाँ कल थी जो रानी;
दानी प्रभु ने दिया उसे क्यों मन यह मानी ?
अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

यह भी एक अद्‌भुत तथ्य है कि मैथिलीशरण के अन्तर का कवि वाल्मीकि के क्रौञ्चवध की करुण घटना के समान उर्मिला के हृदय की पीड़ा-अन्तर्दाह के गीत सुलगाता

२१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुआ यशोधरा के करुणा विगलित जीवन की ओर मुड़ पड़ा—'राहुल जननी के दो-चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जायँ तो बहुत समझना और उनका श्रेय भी साकेत की उर्मिला देवी को ही है, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया[1]।" उसकी परिणति है यशोधरा जैसे करुण और सरस प्रवन्ध की रचना।

'साकेत' मैथिलीशरण गुप्त का और भी प्रशस्त, बड़ा प्रवन्ध-काव्य है, गुणशीलता में, काव्यसम्पदा में, कारुण्य के उद्भावम में। आधी सदी से भी कई वर्ष पूर्व विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक मौलिक प्रेरक साहित्यिक निवन्ध 'काव्येर उपेक्षिता' के नाम से लिखा था। जिसमें अन्य उपेक्षित नारी पात्रों के साथ लक्ष्मण-पत्नी उर्मिला की भी चर्चा थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने बाद में चलकर एक मार्मिक निवन्ध लिखा—"कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता।" यह निबन्ध कविवर गुप्तजी के लिए प्रेरणा का दीप बन गया। साकेत जैसे हिन्दी के श्रेष्ठ महाकाव्य की रचना हुई। खड़ी बोली की प्रकृति और चरित्र के अनुरूप ढला उच्चकोटि का प्रथम महाकाव्य और रामचरितमानस की रचना के साढ़े तीन सौ वर्षों बाद हिन्दी का यह प्रथम रामकाव्य है, जिसने आधुनिक हिन्दी को गौरव प्रदान किया। वर्तमान हिन्दी में गीत प्रवृत्ति को प्रश्रय मिलने के कारण प्रवन्ध-काव्यों की रचना की ओर मुड़ने वाले कवि नगण्य हैं। प्रबन्ध काव्य की रचना के लिए कहानी, उपन्यास और नाट्य-लेखन की समन्वित प्रवृत्ति, महत् चरित्रों की सृष्टि की अटूट उदात्त शक्ति अपेक्षित है, कल्पना और अनूभूति कलात्मक योग की अपेक्षा है, उनसे गुप्तजी की प्रतिभा ओत-प्रोत है। इसीलिए वो महादेवी ने गुप्तजी को 'आधुनिक तुलसी' कहा है। 'साकेत' में गुप्तजी ने जहाँ उर्मिला की विरह व्यथा की गाथा को ९ वें–१० वें सर्ग में करुण विप्रलम्भ रस से अश्रुसिक्त कर कविता का रूप दिया है, उसके तप, त्याग और विरह वेदना का एक से एक मार्मिक चित्र अंकित किया है, वहीं राम, सीता, भरत और लक्ष्मण जैसे महनीय चरित्रों के महत्त्व की भी रक्षा कर सके हैं। राम के तपोमय, त्यागमय चरित्र का गुणगान ही मानो उनका कवि-कर्म है ;—

राम तुम्हारा वृत्त ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है। (साकेत)

\+ \+

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या!
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करें,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे॥ (साकेत)

---

१. यशोधरा की भूमिका पृ०–५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राम के चारित्रिक उद्‌भावन में गुप्तजी की काव्य-कल्पना पर आधुनिक चिन्तन और गाँधीवादी प्रभाव पूर्णतया परिलक्षित होता है :—

सुख देने आया, दुख झेलने आया"

+ +

मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया"

+ +

मैं आया उनके हेतु कि जो शायित हैं,

जो विश्वविकल, बलहीन, दीन शायिन हैं।[1]

× +

गुप्तजी की अन्तःप्रज्ञा में राम का वह महत् चरित्र सदा अंकित रहता है, जिसने रावण की दानवी सम्यता को आमूल ध्वस्त आर्यसम्यता की स्थापना की थी :—

मैं आर्यों का आदर्श बनाने आया,

जन-सम्मुख धन को तुच्छ बनाने आया।

सुख-शाति हेतु मैं क्रांति मचाने आया,

विश्वासी का विश्वास बचाने आया।. (साकेत)

राम आर्य सम्यता के उत्थान के प्रतीक हैं। रावण पर राम की विजय आर्यत्व की विजय है तो सीताहरण उस उदात्त आर्य संस्कृति की उच्छेदन और उनका उद्धार भारत की सौभाग्य लक्ष्मी का उद्धार था। राम ने आर्यत्व की पुनः प्रतिष्ठा की, प्रकारान्तर से भारतीय स्वाधीनता भावी पुनरुद्धार का उसमें स्पष्ट संकेत है।

आर्य सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य धर्म आश्वस्त हुआ।

'साकेत' महाकाव्य की महीन बुनावट में भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक पारवारिक और राष्ट्रीय आदर्शों को बड़ी कलात्मकता के साथ कवि ने प्रस्तुत किया है। यह उल्लेखनीय है कि 'साकेत' महाकाव्य का बीज रूप 'उर्मिला' नाम का प्रबन्ध काव्य था। धीरे-धीरे वह इतना बड़ा आकार प्राप्त कर सका। राम, सीता, लक्ष्मण, मांडवी आदि अन्य चरित्रों का समावेश ही नहीं किया गया, अपितु राम के उदात्त चरित को रामकथा की आधुनिक सामाजिक और सांस्कृतिक चिंतन में ढाला गया। पर यह बात स्मरणीय है कि गुप्त जी की काव्यकला की सर्वोत्तम सिद्धि निहित है—रघुकुल की सर्वाधिक दुःखिनी बधू उर्मिला के युग-युग से उपेक्षित चरित्र के उद्‌भावन, प्रणय, विग्रह के चित्रण और त्याग के गौरव-गान में। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी की कविदृष्टि जिस उर्मिला की विरह-वेदना को काव्य के सुकुमार पृष्ठाधार पर उकेरने में असमर्थ हो गयी, गुप्त की की समर्थ प्रातिम कवि-दृष्टि नयी-नयी चारित्रिक घटनाओं, वेदना की विवृत्तियों से रच-रच कर उर्मिला का विरह

१. दुखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमर्दितम्—उत्तररामचरितः, भवभूति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रुदन करुणाप्लावित तूलिका से नाना रूपों और रंगों में उभारा है। यों तो उस विरहिनी नारी का करुण कातर स्वर साकेत में सर्वत्र गूंज रहा है, पर साकेत का ९–१० सर्ग उर्मिला की विरह-वेदना की मर्मस्पर्शी गाथा है। इस अवधि तक आते-आते गुप्त जी की रचनाधर्मिता पर छायावादी गीतशैली की कोमलता, अनूठी भाव-व्यञ्जना, लाक्षणिकता और अलंकरण-प्रियता का प्रभाव खूब बढ़ गया था। उक्त दोनों सर्गों में कथाप्रबन्ध शिथिल, वर्णता की अतिशयता कहीं अधिक प्रखर है। एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य है :—

ओ मेरे मानस के हास! खिल सहस्रदल, सरस सुवास।

\+ \+ \+

वेदने! तू भली बनी!
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिच तनी।

\+ \+ \+

सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल-चंचल, झलमल-झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भर के, उछल-उछल कर छल-छल कर के,
थल-थल तर के कल-कल धर के बिखराती है वारा।

\+ \+ \+

मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।

\+ \+ \+

निरख सखी ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये!
फैला उनके तन का आनप, मन ने सुर सरसाये,
घूमे वे उस ओर वहाँ ये हंस यहाँ उड़ छाये।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर से बन्धूक सुहाये॥

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने उर्मिला दुःखिनी के माध्यम से न केवल विरह-कातर नारी हृदय का मर्मंनुद चित्र अंकित किया है, अपितु युग-युग से उपेक्षित, शोषित परिवार और समाज के कल्याण की बलिवेदी पर समर्पित भारतीय नारी की नियति की गाथा गढ़ी है और गायी है, अत्यन्त कोमल, करुण, मांसल और मर्मस्पर्शी वाणी में। खड़ी बोली को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्होंने अपनी कलम की जादूगरी से परवान चढ़ाया। काव्यभाषा का, उसके सहज प्रवाहमय परिष्कृत भाषा का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत किया।

एक आलोचक ने ठीक ही कहा है कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह उनके भीतर भी एक नारी विद्यमान थी। इसीलिए उनका आकर्षण सीता, कैकेयी, उर्मिला, सुमित्रा कौशल्या, मांडवी, श्रुतिकीर्ति, यशोदा, कुब्जा, राधा और यशोधरा—सबके प्रति था, जो महान् मानवीय मूल्यों की रक्षा में अपने आपको हर युग में मौन भाव से उत्सर्ग करती आयी हैं। 'काव्य की उपेक्षिता' जैसे निबन्धों की ही प्रेरणा न थी, उसके मूल में अन्तः प्रेरणा थी, जिसने गुप्त जी की प्रतिभा को अन्तःप्रज्ञा को भारत के इन नारी-रत्नों के त्याग-मय, सेवामय, समर्पणमय चरित्रों के उद्भावन, उनकी विरह व्यथा को, कारुण्य धारा को यों उजागर करने की दृष्टि, शक्ति प्रदान की। गुप्त जी इन नारी-रत्नों में वाल्मीकि की संवेदना को और करुणा की धारा को आधुनिक युग तक ला सके।

गुप्त जी इस अर्थ में ही राष्ट्रकवि नहीं हैं कि भारतेन्दु की चेतना से अनुप्राणित हो भारत की स्वतन्त्रता के गीत वैतालिक की तरह आधी सदी तक रचते और गाते रहे, साथ ही माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह 'दिनकर', गोपाल सिंह 'नेपाली', सोहनलाल द्विवेदी और श्यामनारायण पाण्डेय जैसे हिन्दी के आधुनिक कवियों की काव्य-वाणी को किसी न किसी स्तर पर प्रभावित और अनुप्रेरित करते रहे। अपितु वे इसलिए भी राष्ट्रकवि सच्चे अर्थों में हैं कि अपने छोटे-बड़े प्रबन्ध काव्यों, काव्य-रूपकों के माध्यम से भारत के उत्थान-पतन, पुनर्जागरण, गुलामी की गहरी पीड़ा, स्वाधीनता का उद्‌बोधन, भारतीय सभ्यता और संस्कृति की बेचैन तलाश, राम, कृष्ण, बुद्ध, गुरु नानक, गाँधी, सीता, यशोधरा और उर्मिला आदि चरित्रों के युगानुकूल पुनरुद्भावन के माध्यम से भारतीय संस्कृति के नित गतिशील यात्रा का इतिहास गढ़ा है। उनकी तमाम रचनाओं में हिन्दी कविता के विकास का ही इतिहास निहित नहीं है, उसमें भारत की संस्कृति की गतिशील जीवन-धारा का इतिहास संजो दिया है। वस्तुतः भारत की आत्मा का स्पन्दन उनकी काव्यवाणी में मुखरित हुआ है, राष्ट्र की समग्र चेतना को उन्होंने वाणी दी है, इसलिए वे राष्ट्रकवि हैं। वे भारत की शाश्वत संस्कृति की गंगा को प्रवाहित करने वाले बीसवीं सदी के भगीरथ हैं, जिनकी पावन वाणी हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्य को अपनी प्रखर कथा तूलिका से पूरी शक्ति, सौंदर्य और गरिमा में मूर्तिमान कर सकी है—

हम क्या थे क्या हो गये,
क्या होंगे अभी,
आओ मिलकर विचारें सभी।

धन्य है राष्ट्रकवि की तपः-पूत साधना-प्रसूत भारत की आत्मा की वाणी। रससिद्ध कवीश्वर मैथिलीशरण गुप्त की कृति वाणी की जय हो। जय भारत-भारती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुप्तजी की काव्य-दृष्टि

डा० अवधेश्वर अरुण*

मेरी धारणा है कि किसी भी कवि का समग्र काव्य-व्यक्तित्व उसके युग-बोध, जीवन-बोध और काव्य-बोध का गुणनफल होता है। इसलिए उसके साहित्य की समीक्षा का प्रामाणिक निकष भी इन्हीं तीन तत्त्वों के विश्लेषण में निहित होना चाहिए। कवि की नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा को सजाने, सँवारने और समुन्नत बनाने में व्युत्पत्ति और अभ्यास की असंदिग्ध भूमिका भारतीय काव्य-शास्त्र में स्वीकृत रही है। व्युत्पत्ति में शास्त्र-ज्ञान और लोकानुगमन की जो बात कही गई है वही प्रकारान्तर से युग-बोध, जीवन-बोध और काव्य-बोध है। युग-बोध में समसामयिक घटनाओं और परिस्थितियों का वृहत्तर परिवेश समाहित होता है तो जीवन-बोध में निजी जीवन की प्रभावशाली घटनाओं और अनुभूतियों का गहन संसार निहित होता है। काव्य-बोध कवि के अध्ययन, मनन, शास्त्रज्ञान और काव्य-परम्परा से गहरे परिचय से निर्मित होता है। इस तरह युग, जीवन और काव्य के सम्बन्ध में कवि के ज्ञान और अनुभव का जो सारतत्त्व धारणा के रूप में उसकी रचनाओं से माध्यम से व्यक्त होता है उसे ही युग-दृष्टि, जीवनदृष्टि और काव्य-दृष्टि कहते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में भारतीय संस्कृति के आख्याता, वैष्णवता की प्रतिमूर्ति, राष्ट्रीयता के प्रखर उद्घोषक और मानवीय राग की विविध भंगिमाओं के गायक स्वतन्त्रता सेनानी मैथिलीशरण गुप्तजी की काव्य-दृष्टि पर विचार करना लक्ष्य है।

किसी भी कवि की काव्य-दृष्टि पर विचार करने के क्रम में दो बातों पर ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रथम यह कि उसके काव्य शास्त्रीय संस्कार और उसकी काव्य-परम्परा-विषयक दृष्टि क्या है तथा द्वितीय उसने अपने युग के ज्ञान-विज्ञान को कितना और किस रूप में आत्मसात किया है।

सबसे पहले गुप्तजी के काव्य-संस्कार और काव्य-परम्परा पर विचार करें। गुप्तजी ने विद्यालयीय शिक्षा बहुत कम प्राप्त की थी, जो कुछ सीखा था वह स्वाध्याय से। अतः यह जानना आवश्यक है कि उन्होंने अपने काव्य-संस्कार और काव्य-दृष्टि का निर्माण किन रचनाओं के अध्ययन से किया। इस सम्बन्ध में मैं डॉ० के० एस० मणि की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहता हूँ—"झाँसी से घर लौटने पर गुप्तजी स्वाध्याय में मन लगाने लगे। हिन्दी और बंगला से अनूदित हिन्दी उपन्यास और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने का उन्हें बड़ा शौक था। शृंगारी पद्य भी उनको बहुत पसन्द थे। अजमेरी की प्रेरणा से संस्कृत श्लोकों को कण्ठस्थ करने की इच्छा हुई। पंडित रामस्वरूप शास्त्री से संस्कृत व्याकरण पढ़ा। श्री दुर्गादत्त पंत और पंडित अयोध्यानाथ जी से संस्कृत के वृहत्त्रयी और लघुत्रयी के अनेक श्लोक सुने।

---

* रीडर, हिन्दी विभाग, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके बाद का स्वाध्याय गुप्तजी के भविष्य के काव्य-जीवन की भूमिका बना। उन्होंने संस्कृत के अनेक काव्य-नाटकों का अध्ययन किया। कालिदास और भास के प्रति उनका विशेष मोह था। अतः इन दोनों का भी विशद अध्ययन किया। हिन्दी में अपने समय के समस्त साहित्य ग्रन्थों का अध्ययन किया। इनमें रीतिग्रन्थ, भक्तिपरक रचनाएँ और साहित्य शास्त्र ग्रन्थ (संस्कृत और हिन्दी के) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुप्तजी ने इन दिनों बंगला का भी अध्ययन किया और बंगला में उच्चश्रेणी के साहित्यिकों की रचनाओं का परिचय पाने में भी समर्थ हुए।

इस लम्बे उदाहरण से हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि गुप्तजी ने संस्कृत तथा पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य और साहित्य शास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत व्याकरण और बंगला साहित्य का भी अध्ययन किया था। भारत-भारती में आए अनेक उद्धरणों से स्पष्ट है कि उन्होंने वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण आदि का भी गहन अध्ययन किया था। सब मिलाकर यह कह सकये हैं कि उनके साहित्यिक संस्कार और साहित्य शास्त्रीय दृष्टि का निर्माण भारतीय साहित्य शास्त्र के आधार पर हुआ था। वे भारतीय संस्कृति, काव्य और काव्य शास्त्र के मनीषी कवि थे।

भारतीय साहित्य शास्त्र के अध्ययन से उनकी जिस काव्य-दृष्टि का निर्माण हुआ वह एकांगी नहीं था। ईसाई एवं मुस्लिम धर्मग्रन्थों, भारतीय इतिहास और दर्शन पर लिखित विदेशी लेखकों की पुस्तकों तथा पश्चिम में विकसित हो रहे वैज्ञानिक अनुसन्धान से सम्बन्धित नूतन गतिविधियों के अध्ययन से भी उन्होंने अपनी दृष्टि का समुचित विस्तार किया था। भारत-भारती में दी गई पाद-टिप्पणियों से उनके अध्ययन क्षेत्र और ज्ञान-परिधि का अनुमान लगाया जा सकता है। सारांशतः एक जागरूक किन्तु भारतीयता प्रिय कवि को भारतीय साहित्य एवं साहित्यशास्त्र तथा आधुनिक चिन्तन का जितना ज्ञान अद्यतन बनने के लिए आवश्यक होना चाहिए उतना ज्ञान गुप्तजी के पास था। उनकी दृष्टि में मानवतावादी औदार्य की विस्तृति होते हुए भी भारतीयता की प्रखर दीप्ति अनुभव की जा सकती है। पुरातन और नवीन को मिलाकर वे एक ऐसी दृष्टि निर्मित करने में सक्षम हुए थे जिसमें वे अपने संस्कारों को लेकर समय के साथ चल सकें।

कविता, काव्य, साहित्य, कला आदि शब्दों के प्रयोग में गुप्तजी की दृष्टि द्वैताद्वैतवादी है। अर्थात् कहीं तो वे इन शब्दों का सही अर्थों में अलग-अलग प्रयोग करते हैं और कहीं इन शब्दों से उनका एक ही आशय होता है। लेकिन सब मिलाकर वे इस प्रसंग में पाश्चात्य दृष्टि के समर्थक हैं। पश्चिमी जगत् में कला शब्द व्यापक अर्थ में साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति एवं वास्तु कलाओं के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भारतीय परम्परा साहित्य और संगीत से अलग कला का प्रयोग करती है और यह चौंसठ-कलाओं के प्रसंग में रूढ़ मानी जाती है। यह भर्तृहरि की उक्ति "साहित्यसंगीतकलाविहीनः" से यह स्पष्ट है।

साहित्य गद्य और पद्य दोनों में लिखित रचनाओं के लिए प्रयुक्त होता है जबकि काव्य और कविता शब्द मोटे तौर पर केवल पद्य रचनाओं के लिए प्रयुक्त होते हैं। उपन्यास,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि साहित्य तो हैं लेकिन काव्य या कविता नहीं। गुप्तजी काव्य या कविता का प्रयोग भले ही संगीत और चित्र से भिन्न, केवल पद्य में लिखित साहित्य के लिए करते हैं लेकिन जब वे कला शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका आशय सभी कलाओं से होता है। उदाहरणार्थ साकेत में वे कहते हैं—

हो रहा है, जो जहाँ, सो हो रहा
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।

यहाँ प्रसंग उर्मिला की चित्र-रचना का है। अतः यहाँ कला से आशय चित्र से ही होना चाहिए। लेकिन इसमें व्यक्त विचार से स्पष्ट है कि यह सभी कलाओं को ध्यान में रखकर कहा गया है। यहाँ गुप्तजी की कलादृष्टि से स्पष्ट है कि कला का उद्देश्य "क्या है" की अभिव्यक्ति नहीं "क्या होना चाहिए" की अभिव्यक्ति करना है। दूसरे शब्दों में कला जीवन का छायांकन नहीं चित्रांकन हैं। छाया चित्र (फोटो) में छायाकार अपनी ओर से कुछ भी परिवर्तन करने के लिए स्वतन्त्र नहीं होता है जबकि चित्रकार आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन करने में स्वतन्त्र होता है। इसी को लक्षित कर कहा गया है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेको प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥

गुप्तजी अपनी कला सर्जना में इसी दृष्टि के समर्थक हैं। तभी तो वे मानते हैं कि "जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति हैं।"

गुप्तजी अभिव्यक्ति कौशल को कला मानते हैं—

"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला।"

उनकी इस धारणा के दो अर्थ निकलते हैं। प्रथम यह कि कोई भी कला अभिव्यक्तिपरक विशिष्टता के कारण ही चमत्कारक होती है। इस दृष्टि से वे भाव की अपेक्षा अभिव्यक्ति पक्ष के कौशल के समर्थक दीखते हैं। लेकिन उनकी कृतियों में अभिव्यक्ति सम्बन्धी जिस सरलता के, प्रधानतः, दर्शन होते हैं उससे उनका यह अभिप्राय खण्डित हो जाता है। अतः गुप्तजी की इस उक्ति को हम क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की छाया के रूप में ग्रहण करना चाहेंगे जहाँ "आर्ट इज ऐन एक्सप्रेशन" की बात कही गई है।

लेकिन कला को अभिव्यक्ति का कौशल मानने पर भी गुप्तजी कला में न तो क्रोचे की व्यक्तिनिष्ठ स्वेच्छाचारिता के समर्थक हैं और न ब्रैडले के कलावादी स्वायत्तता के। वे "कला कला के लिए" के नहीं "कला जीवन के लिए" के समर्थक हैं—

"मानते हैं जो कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुप्तजी की दृष्टि में कवि-कर्म एक कठिन साधना है। अतः साधारण को असाधारण बनाने का कवि का दावा खोखला होता है। जब तक विषय-वस्तु श्रेष्ठ होगी तब तक श्रेष्ठ काव्य का सृजन संभव नहीं होगा। वे भारत-भारती में स्थापना देते हैं—

कवि की कठिनतर कर्म की करते सहीं हम धृष्टता।
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता।

और अनेक वर्षों वाद अपनी श्रेष्ठतम कृति साकेत में भी वे इसी विचार को सम्पुष्ट करते हैं—

राम तुम्हारा वृत्त स्वँय ही काव्य है।
कोई कवि वन जाय सहज संभाव्य है।

इस प्रसंग में मैं क्रोचे की निम्न पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ नहीं संवरण कर पा रहा हूँ—

He who has nothing defirite to say may try to hide his internal emptyness with the flood of words, although at bottom, they convey nothings.

अर्थात् जिसके पास कहने के लिए कोई ठोस बात नहीं होती है वह शब्द जाल में अपने खोखलेपन को छिपाना चाहता है और वे शब्द-जाल तथ्य की कोई बात नहीं कह पाते हैं। इसलिए गुप्तजी यदि विषय के ठ.सपन और अभिव्यक्ति की कुशलता पर वल देते हैं तो वास्तव में वे कविता की सही व्याख्या के समीप होते हैं।

कविता की परिभाषा देते हुए गुप्तजी भारतीय रसवाद का समर्थन करते दीखते हैं कि सिद्ध कविता आनन्ददायी शिक्षिका होती है—

"आनन्ददात्री शिक्षिका है सिद्ध कविता कामिनी।"

इसमें आनन्द शब्द जहाँ रस के लिए प्रयुक्त प्रतिशब्द है वहीं शिक्षिका हमें मम्मट के काव्य-प्रयोजनों में प्रयुक्त "व्यवहारविदे" की याद दिलाती है।

कविता की विषय-वस्तु के प्रसंग में गुप्तजी कविता को मनोरंजन का साधन नहीं उपदेश और आदर्श का व्याख्याता मानते हैं। उनकी दृष्टि में रामचरित मानस श्रेष्ठ कविता की कसौटी है। इसमें कवित्व और लोकप्रियता दोनों का मणिकांचन संयोग है। उनका कथन द्रष्टव्य है—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म्म होना चाहिए।
क्यों आज 'रामचरित मानस' सब कहीं सम्मान्य है।
सत्काव्य-युत उसमें परम आदर्श का प्राधान्य है।

गुप्तजी कविता को मानसिक विलास का साधन नहीं जीवन की प्रेरक-शक्ति मानते हैं; जिसमें क्रांति की शक्ति, संजीविनी की प्राणवत्ता और सूर्य की दीप्ति होती है—

22

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसार में कविता अनेकों क्रांतियाँ है कर चुकी।
मुरझे मनों में वेग की विद्युत् प्रभाएँ भर चुकी।
है अन्ध-सा अन्तर्जगत कवि-रूप सविता के बिना।
सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना।

गुप्तजी कविता में भद्रता, सुरुचि और आदर्श के समर्थक हैं। नारी के विविध अंगों और उनकी रतिक्रीड़ाओं में कविता की इतिश्री माननेवाले रीति-कवियों की निन्दा करते हुए उन्होंने लिखा है—

करते रहोगे पिष्टपेषण और कब तक कविवरो
कच, कुच, कटाक्षों पर अहो! अब तो न जीते जी मरो।
है बन चुका शुचि अशुचि अब तो कुरुचि को छोड़ो भला।
अब तो दया करके सुरुचि का तुम न यों घोंटो गला।

इसी तरह कुत्सित और गलित साहित्य लिखकर साहित्य को अर्थोपार्जन का साधन बनाने वाले साहित्यकारों को भी उन्होंने फटकारा है—

जो उपन्यास यहाँ सु-शिक्षा-प्रद कहाकर बिक रहे
उनमें अधिक अविचार की ही नींव पर हैं टिक रहे।
उनके कुपात्रों में नरक की आग ऐसी जागती
अपनी सुरुचि भी पाठकों की दूर जिससे भागती।

इसका कारण यह है कि—

मर जाय न क्यों न समाज सारा, पाकटें उनकी भरें।

इसी तरह कृष्ण की ओट में वासनात्मक विकृति फैलाने वाले साहित्यकारों की भी उन्होंने कड़ी निन्दा की है—

सोचो हमारे अर्थ हैं यह बात कैसे शोक की
श्री कृष्ण की हम आड़ लेकर हानि करते लोक की।
भगवान को साक्षी बनाकर यह अनंगोपासना
है धन्य ऐसे कविवरों को, धन्य उनकी वासना।

इसका कारण यह है कि गुप्तजी साहित्य को जातीय जीवन का चित्र मानते हैं। अतः जब जाति अपने आदर्शों से गिरती है तो साहित्य भी भ्रष्ट हो जाता है।

"मृत हो कि जीवित जाति का साहित्य जीवन-चित्र है
वह भ्रष्ट है तो सिद्ध फिर वह जाति भी अपवित्र है।"

गुप्तजी के आदर्श कवि तुलसीदास हैं। इसलिए उनकी काव्य-दृष्टि बहुत हद तक तुलसीदास के अनुरूप दीखती है। तुलसीदासजी अपनी विनम्रता दिखाते हुए लिखते हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवित विवेक एक नहीं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।

तो गुप्तजी कहते हैं—

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता।

गोस्वामीजी लिखते हैं—

कीरति भनिति भूति भल सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

तो गुप्तजी रीति कवियों की आलोचना के प्रसंग में स्पष्टतः लोकहित का पक्ष लेते हैं—

श्रीकृष्ण की हम आड़ लेकर हानि करते लोक की।

गोस्वामीजी रामकथा की अभिव्यक्ति में ही वाणी की सार्थकता मानते हैं—

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोउ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥

× × ×

प्रभु सुजस संगति भनिति भक्ति होइहि सुजन मनभावनी।

गुप्तजी भी इसका समर्थन करते हैं—

आनन्ददात्री शिक्षिका है सिद्ध कविता-कामिनी।
है जन्म से ही वह यहाँ श्रीराम की अनुगामिनी।

गोस्वामीजी कविता के विषय में लिखते हैं—

सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरही सुजान
सहज वयर बिसराई रिपु जो सुनि करहिं बखान।

गुप्तजी के उपर्युक्त कथनों का भी सारांश यही है।

गुप्तजी काव्यभाषा के रूप में खड़ी बोली के प्रथम उन्नायक कवि हैं। उन्हें खड़ी बोली की शक्ति की सही पहचान थी। अतः विभिन्न प्रयोगों के आवर्त्त में भटकती खड़ी बोली को सही दिशा देने में उनकी भूमिका स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य है। साहित्य-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए संघर्ष करनेवाली प्रत्येक भाषा आरम्भ में सरल, सहज और अभिधा प्रधान होती है। गुप्तजी की भाषा भी सरल, सहज और अभिधा प्रधान है। उन्होंने काव्यभाषा के रूप में अभिधा को ही मान्यता दी है—

"बैठी नाव निहार लक्षणा-व्यञ्जना
गंगा में गृह वाक्य सहज वाचक बना।"

सारांशतः गुप्तजी की काव्य-दृष्टि जीवन के सत्य को शिव और सुन्दर की ओर ले चलने वाली है। उनकी काव्य-दृष्टि कलावादियों और शुद्ध कविता के अन्वेषकों को परितुष्ट नहीं करती। यदि कविता जीवन की उपज है, जीवन के प्रति उसका कोई दायित्व है, तो उसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवन के उत्थान में एक सार्थक भूमिका निभानी पड़ेगी। गुप्तजी की काव्य-दृष्टि उनपनी रचनाओं के माध्यम से हमारे जीवन के उत्थान में यही सार्थक भूमिका निभाती है। वे भद्रभावोद्भाविनी भारती के साधक हैं। जिसकी आरती मानस भवन में आर्यजन उतारते हैं। मैं जीवन और काव्य के प्रति विधेयात्मक दृष्टि रखनेवाले इस महाकवि के शब्दों को ही दुहराते हुए कहना चाहूँगा—

जयदेव मन्दिर - देहली
समभाव से जिस पर चढ़ी
नृप-हेम मुद्रा और रंक-बराटिका
मुनि सत्य सौरभ की कली
कवि कल्पना जिसमें बढ़ी
फूले फले साहित्य की वह वाटिका।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बीसवीं सदी का तुलसी—मैथिलीशरण गुप्त

डा० सुरेन्द्र मोहन प्रसाद*

अगर कोई देश अपनी उपलब्धियों पर गर्व कर सकता है तो वह है उसकी साहित्यिक और सांस्कृतिक उपलब्धि। देशों का इतिहास राजाओं एवं राजनीतिक चक्रों के इतिवृत्ति का आलेख होता है। अगली पीढ़ी उससे केवल राजनीतिक यात्रा का लाभ और हानियों का लेखाजोखा प्राप्त कर सकती है। परन्तु इससे उस देश की पहचान नहीं बनती, उसके राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण नहीं हो पाता। राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण उस देश का साहित्यिक इतिहास निर्मित करता है। भारतवर्ष के पास वेद, पुराण, रामायण और महाभारत भले ही हों, परन्तु उसकी अस्थि-मज्जा में दो ही ग्रन्थों का संस्कार है। एक है श्रीमद्भगवद्गीता और दूसरा रामचरितमानस। प्रथम जीवन का संविधान है, दूसरा उसका प्रयोग। हमारे कवियों ने इन्हीं ग्रन्थों की प्रेरणा से अपने युगानुरूप साहित्य का निर्माण कर देश को जीवन्त रखा है। इसी परम्परा की एक सशक्त कड़ी है—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त। उन्होंने परतन्त्र भारत की गुलाम चेतना में स्वतन्त्रता के अंखुए खिलाये। "हम कौन थे क्या हो गए" का नारा लगाकर अन्धी गलियों में भटकती भारतीय जीवनधारा को आवाज दे चौराहे पर रोक एक पल सोचने को विवश कर दिया कि उनकी क्या नियति होनी चाहिए। भारतेन्दु ने जहाँ उनके सुषुप्त मस्तिष्क में कुलबुली भर दी थी, वहाँ गुप्तजी ने उनके पैरों में चौकड़ी भर दी। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन गुप्तजी के बिना अधूरा है। जो काम गाँधी के भाषणों ने किया, वह काम गुप्तजी की लेखनी ने। गाँधी का 'रघुपति राघव राजा राम' तो कबीर का राम था, जो संग्राम की लाठी भर था। गुप्तजी का काव्य संग्रामियों की आत्मा का संकल्प बना। उनका राम उनकी हतचेतना का सम्बल।

धर्म का आधार लेकर जो काव्य निर्मित होता है, वह सीधा मर्म पर प्रहार करता है, उसमें जातीय संस्कार की स्वीकृति होती है। गुप्तजी ने मर्म को छुआ। नाम, रूप, गुण, लीला के अभिनय का काव्यमंच पर उन्होंने सांस्कृतिक कथाओं को नयी वाणी और नये तेवर दिये। नयी पहचान दी। पात्र तो सारे के सारे भारतीय संग्रहालय के ही थे पर उनमें वाणी भर देने का श्रेय गुप्तजी का है। इसी प्राणवत्ता के कारण ये पात्र आत्मीयता के गंध से भरे भारतीय जनमानस में विचरने लगे। नारी मन की गाथा का सूत्रवाक्य "अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी। आँचल में है दूध और आँखों में पानी" आबे विश्व के क्षतविक्षत मन का आलेप बन गया। गुप्तजी ने जब उपेक्षिताओं के उद्धार का व्रत लिया तो उसमें एक चारित्रिक ध्वजा फहरा दी जो परवर्ती जनजीवन का जीवनादर्श बन गया। एक स्थापना दे दी जिसका चिरन्तन मूल्य हो गया। इन्हीं विशेषताओं से गुप्तजी के पात्र पुराणों की लंगड़ी बैसाखी फेंक अपने पैरों

* अवकाशप्राप्त विश्वविद्यालय आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बिहार विश्वविद्यालय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर खड़े हो गये। यशोधरा ने अपने अधिकार और अपमान की शालीन लड़ाई आँगन में ही लड़ी। उर्मिला ने अपने मोहाविष्ट मन को वियोग की पंचाग्नि में तपाकर सुवर्ण कर लिया।

एक आलोचक की धारणा है कि साकेत का कथाप्रवाह नवम और दशम सर्ग में ठमक कर रह गया। ध्यान से देखने पर यह कथन निर्मम लगता है। साकेत का रंगमंच उर्मिला का ही है। यह रंगमंच माण्डवी, श्रुतिकीर्ति, भरत और शत्रुघ्न का भी हो सकता था पर इसके लिए दोषी तो रामायणकार ही माने जायेंगे जिन्होंने अपने चरितनायक के साथ चलते-चलते अरण्य और लंका-यात्रा की ओर उनके ही पराक्रम का आलेख प्रस्तुत किया। चरित्र की उदातमा तो साकेत में भी थी और इसे गुप्तजी ने पहचाना। रामायण का ही यह संस्कार आज भी हमारे लोकगीतों में वोलता है जिसमें जंगल में भींगते हुए राम की कल्पना में कौशल्या विसूरती रहती हैं। नगर को अगोरने वालों के प्रति कहीं कोई सहानुभूति नहीं हो पाती। सहानुभूति दुःख और पीड़ा भोगनेवालों के हाथ लगती है। आज भी राम को सारी सहानुभूति मिल जाती है, साकेतवासी पात्रों को नहीं। क्योंकि न्याय का पक्ष राम के साथ है। उर्मिला के साथ ऐसी कोई बात नहीं। साकेत महाकाव्य की जवनिका लक्ष्मण के कक्ष में उठती है और वहाँ नवदम्पत्ति का शारीरिक मोह इतना उत्कट है कि सहज ही शंका होने लगती है कि इस प्रवल मोह का परिणाम विपरीत ही होगा और, होता भी वही है। लोकप्रसिद्ध कथा का आधार छोड़ भी दिया जाय तो कथा की अगले सर्गों में यही स्वाभाविक माँग भी हो जाती है। गौतम ने यशोधरा को छोड़ा तो यशोधरा ने अपने को गौतम की ही तरह तपाकर परिवार धर्म का निर्वाह कर अपने को सुवर्ण बना लिया। लक्ष्मण उर्मिला की आज्ञा से वन गये और यहाँ भी उर्मिला साकेत की परिधि में पत्नीधर्म का पालन करती अपनी देहधर्मिता का विसर्जन करती है। दोनों ही परिवार धर्म का निर्वाह करती हैं। प्रसंगवश यहाँ तुलसीदास की कथा का स्मरण करना अनुचित नहीं होगा कि तुलसी भी देहधर्म से पीड़ित थे और रत्ना ने उन्हें मोहमुक्त किया। ये सारी कथायें भारतीय प्रेम पद्धति का विमल आख्यान हैं। शरीर से ऊपर उठकर प्रेम की साधना। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में इसी सत्य को उद्घाटित किया। गुप्तजी ने इसी को वारम्वार दुहराया है। इस नाते नवम सर्ग अयोध्या के महल में उर्मिला की पार्वती-तपस्या है। इसीलिए आवश्यक था कि इस तपन का तिल-तिल आख्यान वर्णित हो। पुनः रामकथा के सारे पात्र चरित्र नायक के चरित्र का उत्कर्ष करने के लिए नींव की ईंट वन गये हैं। उनकी अपनी महानतायें प्रकट नहीं हो पाती। साकेत में गुप्तजी ने सभी पात्रों को जीने का पर्याप्त अवसर दिया है। केवल एक प्रसंग 'कैकेयी के परिताप' का उल्लेख पर्याप्त होगा। रामचरित मानस में गोस्वामी ने राम के द्वारा ही कैकेयी की ग्लानि धोने के निमित्त पहल कारवाई है। गुप्तजी ने कैकेयी को वाणी देकर परिवार को शीर्ष पर पहुँचा दिया है। लोकसिद्ध कथा का गहरा पगा संस्कार हमें मुक्त रूप से ऐसे नवाख्यानों को मुक्त रूप में परखने का अवकाश नहीं देता और नाते गुप्तजी का यह अदम्य साहस ही है जिसने ऐसा दुस्साहस किया और सफल भी हुए।

तुलसी ने एक ही राम का आधार लेकर अनेक काव्यरूपों में उन्हें आख्यायित किया। गुप्तजी के समक्ष समस्त भारतीय इतिहास था। उन्होंने भारत की आत्मा को परखा था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या हिन्दू, क्या मुसलिम, क्या सिख और क्या बौद्ध सभी गुप्तजी की आत्मा में प्रतिभासित होते रहे और सभी 'मानहिं सर्वाहि राम के नाते' काव्य रूप ग्रहण करते रहे। कवि का संकल्प भारत-भारती का था, हिन्दू भारती या वैष्णव-भारती का नहीं। इस नाते में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को आधुनिक युग का तुलसी कहना चाहूँगा क्योंकि गुप्तजी बिना किसी प्रचार के चिरगाँववासी एक मसीहा थे—एक काव्य मसीहा। यह उनकी ही लेखनी का चमत्कार था कि भारतीय जनमानस रूपी जल्सतह पर उनका एक-एक काव्य-रंग एक बूँद गिर कर पसर गया, व्याप गया और एक नये रंग की सृष्टि कर गया। मानस कथा में एक और जीवन्त पात्र उभर आया जिसकी सशक्त पहचान हो गयी। यह गुप्त रंग अपने समय को भी सराबोर कर गया—वह प्रसाद हों, निराला हों, पन्त हों या महादेवी। सभी इस रंग से भींग गए और आज भी यह रंग अद्यतन साहित्य में उभरता हुआ दिखलाई देता है।

गुप्तजी ने "त्वदीयं वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पये" की भावना से देश को देश की चीज मांजमूँज कर दे डाली। इसलिए वे तुलसीदल बन गए और उनका सारा काव्य देश के लिए नैवेद्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और उनकी अमरकृति 'साकेत'

हरिकिशोर प्रसाद सिंह*

समस्त साहित्यिक कृतियों में 'साकेत' को अत्यधिक ख्याति प्राप्त हुई है। इसका प्रमुख कारण तो यह है कि इसका कथानक राम की वह पावनी कथा है, जो चिरकाल से भारतवासियों का कण्ठहार रही है। इसी कथा के ग्रहण किये जाने के कारण 'साकेत' में उदात्त चरित्र-चित्रण हुआ है। कथानक तथा चरित्रों के अंकन में नूतन उद्भावनाएँ होने से 'साकेत' का महत्व असन्दिग्ध रूप में बढ़ गया है। इसकी तीसरी विशेषता गार्हस्थ जीवन का भव्य चित्रण है, चौथी विशेषता के रूप में इसका विरह-वर्णन भी कम हृदयद्रावक नहीं है। प्रकृति-चित्रण में परम्परा तथा नूतनता का समन्वय 'साकेत' की पाँचवीं विशेषता है। भारतीय संस्कृति के दिव्य चित्रों का अंकन इसकी एक अन्य बहुत बड़ी विशेषता है। अपनी इन्हीं सब विशेषताओं के कारण 'साकेत' को हिन्दी-साहित्य के सफल महाकाव्यों में स्थान प्राप्त हुआ है। 'विशाल भारत' में एक समालोचक ने 'साकेत' के विषय में लिखा था—"गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण के बाद रामचरित को इतने विशद रूप में शायद ही किसी हिन्दी कवि ने गाया हो। 'साकेत' का प्रकाशन वास्तव में हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण घटना है।" अब यहाँ पर हम 'साकेत' के विविध पक्षों पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे। सर्वप्रथम उसकी कथावस्तु को ही ले लिया जाय।

साकेत की कथावस्तु—'साकेत' घटना प्रधान महाकाव्य न होकर चरित्र प्रधान महाकाव्य है। प्रथम दृश्य में उर्मिला और लक्ष्मण के मधुरतम दाम्पत्य जीवन का अंकन है। यहाँ पर हम उर्मिला की वाक्पटुता से परिचित होते हैं। यहाँ उसके शब्दों में विनोद का प्राधान्य है।

इसके पश्चात् विविध पात्रों के वियोग का हृदय विदारक दृश्य है। यहाँ दशरथ की मूर्च्छा, कौशल्या और सुमित्रा की वेदना तथा सीता के वन-गमन का निश्चय वर्णित है। इनके उपरान्त कवि उर्मिला पर दृष्टिपात करता है। तदनन्तर सुमन द्वारा वल्कल लाये जाने पर सीता उन्हें धारण करना चाहती है। राम सीता को वल्कल धारण करने से रोकना चाहते हैं, किन्तु सीता यह कहकर कि 'मेरी यही सहमति है, पति ही पत्नी की गति है' वल्कल पहनती हैं। सीता की इस प्रकार की उक्तियों से उर्मिला की स्थिति और गहन हो जाती है। सीता और उर्मिला ने गार्हस्थ की एकत्र ही शिक्षा पायी थी, अतः जब सीता राम के साथ वन जा सकती है तो उर्मिला क्यों नहीं, किन्तु नहीं उर्मिला जानती है कि मेरे वन जाने से मेरे प्राण-

*अध्यक्ष, प्राकृत विकास परिषद्, प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाथ अपने आराध्य राम की सेवा भली प्रकार न कर सकेंगे। 'कहकर हाय धड़ाम गिरी' के अतिरिक्त वह बेचारी और कर ही क्या सकती थी ! यहाँ पर राम और सीता सभी की वह सहानुभूति की पात्र वन जाती हैं। वस्तुतः यह 'साकेत' का वहुत ही मार्मिक स्थल है।

तदुपरान्त दशरथ-मरण और भरतागमन वर्णित है। दशरथ की मृत्यु पर सभी नागरिक शोक-संतप्त हो जाते हैं। यहाँ पर कवि ने उर्मिला को मौन रखा है। वह केवल 'माँ, कहाँ गये वे पूज्य पिताजी' कहकर कैकेयी के आगे जा गिरती है। यहाँ कैकेयी के आगे उसका गिरना पाठक की हार्दिक करुणा को जगा देता है। ऐसे ही वह भरत-कैकेयी के वार्त्तालाप और फिर चित्रकूट में राम-भरत तथा राम-कैकेयी के सम्वाद के अवसर पर भी प्रायः मौन रहती है। कैकेयी द्वारा बहुत कुछ समझाये जाने पर भी जब राम अपने निश्चय को नहीं बदलते तो कैकेयी कहती है—'हाँ, तब तक मैं क्या कहूँ सुनूँगी किससे ?' कैकेयी के इस प्रश्न पर उर्मिला केवल इतनी ही कहती हैं कि 'ऐ माँ ! उर्मिला अब भी जीवित है, वह आपके चरणों की दासी वनकर रहेगी।' इससे अधिक करुणाजनक कौन-सा अवसर कवि ला सकता है कि जिसने उसके साथ अपकार किया है, जिसके कारण उसकी यह दीन-हीन दशा है, उसी के लिये वह अपना जीवन न्यौछावर करने को प्रस्तुत है। इसी चित्रकूट-मिलन प्रसंग में कवि ने अपनी सहृदयता का एक और परिचय दिया है और वह यह कि उसने सीता के द्वारा एक क्षण के लिये उर्मिला-लक्ष्मण का मिलन करा दिया है। जब लक्ष्मण कुटिया के एक कोने में पड़ी देखते हैं तो उन्हें भ्रम हो जाता है—'वह काया है या शेष उसी की छाया है'। लक्ष्मण उसके उस त्याग और उसको उस दयनीय स्थिति को देखकर अभिभूत हो जाते हैं। फलतः तपस्या द्वारा अपने को उसके (उर्मिला के) योग्य वनने की बात कहते हैं।

नवम सर्ग तो पूरा ही उर्मिला की विरह-वेदना के तानों-वानों से बुना गया है। दसम सर्ग में वह स्वयं सरयू से ही अपने जन्म, शैशव, रघुकुल की परम्परा, राम-लक्ष्मण-जन्म, बाल-लीला, ताड़का-वध, पुष्प-वाटिका-प्रसंग, धनुष-यज्ञ, परशुराम-गर्वमर्दन आदि का वर्णन करती है।

एकादश सर्ग में पहले शत्रुघ्न द्वारा राम-लक्ष्मण के साहसपूर्ण कृत्यों का और तदुपरान्त हनुमान द्वारा लक्ष्मण-शक्ति का वर्णन है। इस वर्णन को सुनकर उर्मिला की मानसिकता क्या हुई होगी, सहृदय इसका स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं। हनुमान के जाने के उपरान्त अयोध्यावासी लंका पर चढ़ाई करने की तैयारी करते हैं। ज्योंही शत्रुघ्न प्रयाण करने को उद्यत होते हैं, त्योंही उर्मिला वहाँ आ जाती है और अपने वीरपत्नीत्व का परिचय देती है। इसके पश्चात् वसिष्ठ अपनी योग-दृष्टि से लंका के युद्ध का सारा दृश्य साकेतवासियों के सम्मुख ला देते हैं। लक्ष्मण की स्थिति देखकर सभी नगरवासी जड़ीभूत हो जाते हैं और उर्मिला ने तो 'देखा अपना हृदय, मन्द-सा स्पन्दन पाया'। आगे सभी लोग मेघनाद-वध, रावण-संहार आदि के दृश्य देखते हैं। लंका-विजय के उपरान्त राम सीता और लक्ष्मण सहित घर आ जाते हैं और वे भी वधू उर्मिला के गुण-गीत गाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारांश में 'साकेत' का यही कथानक है। कवि ने इस कथानक में कुछ मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। ये मुख्य उद्भावनाएँ हैं—(१) पुष्प-वाटिका में केवल सीता ही राम-लक्ष्मण के दर्शन नहीं करती, वरन् उर्मिला भी उन्हें देखती है और लक्ष्मण को अपना हृदय दे बैठती हैं। (२) चित्रकूट-प्रसंग में कवि ने कैकेयी के चरित्र को भली प्रकार उभारा है और उसके मस्तक से कलंक का सारा टीका धो दिया है। (३) बालकाण्ड की कथा उर्मिला, अरण्य की शत्रुघ्न, किष्किंधा और लंका की हनुमान कहते हैं, युद्ध का दृश्य वसिष्ठ जी अपनी योग-दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार चित्रकूट-मिलन के अतिरिक्त सभी घटनाएँ वर्णित होती हैं। (४) उर्मिला को नायिका का गौरव देना कवि की बहुत बड़ी मौलिकता है। (५) लक्ष्मण-शक्ति के विषय में सुनकर साकेतवासियों की रणसज्जा रामकथा के लिये एक नूतन प्रसंग है। ये सभी उद्भावनाएँ साभिप्राय हैं; किन्तु उनके उद्देश्यों का वर्णन यहाँ सम्भव नहीं।

'साकेत' में चरित्र-चित्रण—डॉ० नगेन्द्र दो प्रकार के पात्र स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर 'साकेत' में केवल राम ही ऐसे हैं, जिन्हें अमानवीय पात्रों की श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि उनमें भी कुछ मानवीय दुर्बलताएँ हैं—उनके अन्दर भी यदा-कदा मोह की भावना प्रबल हो उठी है—"आता है जी में तात यही, पीछे-पहले व्यवधान महीं, झट लोटूँ चरणों में आकर !"

किन्तु वे अपनी इन दुर्बलताओं पर शीघ्र ही विजय पा लेते हैं और सहज ही सामान्य मानव के स्तर से ऊपर उठ जाते हैं।

मानवीय पात्रों के अन्तर्गत वे पात्र आते हैं जिनमें मानवोचित सहज गुण हैं—जिनमें गुण भी हैं और दुर्बलताएँ भी। कहने का तात्पर्य यह कि इन मानवीय पात्रों में देवत्व और दनुजत्व का मिश्रण रहता है। राम के अतिरिक्त 'साकेत' के अन्य सभी पात्र मानवीय हैं। यह बात दूसरी है कि कुछ पात्रों में दनुजत्व की अपेक्षा देवत्व अधिक हो, जैसे—भरत में या फिर कुछ में देवत्व से दनुजत्व बढ़ गया हो, जैसे—मेघनाद और रावण में। भाव यह कि राम को छोड़कर 'साकेत' का एक भी पात्र ऐसा नहीं, जिसमें केवल देवत्व-ही-देवत्व हो, उसमें दनुजत्व का अंश न हो। सभी में देवत्व और दनुजत्व है—हाँ ! मात्राभेद अवश्य हो सकता है और है भी।

मानवीय पात्रों में भी मुख्य रूप से दो प्रकार के पात्र हो सकते हैं—(१) संस्कार निर्मित पात्र और (२) परिस्थिति निर्मित पात्र। यदि अंग्रेजी की पारिभाषिक शब्दावली में कहना चाहें तो इन्हें क्रमशः Flat characters और Round characters नाम दिये जा सकते हैं। संस्कार निर्मित पात्र प्रारम्भ से अन्त तक एक-से रहते हैं, इनके विकास में किसी प्रकार की गुन्जाईश नहीं होती। परिस्थिति निर्मित पात्र विकसनशील होते हैं—परिस्थिति के वशीभूत हो वे ऐसे भी कार्य कर सकते है, जिनकी उनसे आशा नहीं की जाती। इन पात्रों के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे आगे चलकर किस प्रकार का मोड़ लेंगे। भरत, सीता, कौशल्या, मांडवी, शत्रुघ्न तथा सुमित्रा प्रथम प्रकार के और उर्मिला, लक्ष्मण तथा कैकेयी द्वितीय प्रकार के पात्र हैं। दोनों प्रकार के पात्रों में से एक-एक को लेकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनके चरित्रों पर प्रकाश डालने से बात स्पष्ट हो जायेगी। संस्कार-निर्मित पात्रों में से सुमित्रा को लेने पर हम देखते हैं कि राम-वन-गमन के अवसर पर वह कठोर मातृत्व का परिचय देती है, लक्ष्मण शक्ति का दृश्य देखकर भी उसके व्यक्तित्व में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। परिस्थिति-निर्मित पात्रों में उर्मिला को लीजिये। उसके विषय में डा० नगेन्द्र के शब्द हैं— उर्मिला के चरित्र का विकास परिस्थितियों के प्रतिघात से होता है और उसकी त्यागवृत्ति धीरे-धीरे उस पर विजय लाभ करती हुई आदर्श की ओर बढ़ती है। उसका आदर्श आत्म-त्याग संस्कार के रूप में उसे प्राप्त नहीं—वह धीरे-धीरे विकसित होता है। पहले तो वह उस त्याग को विवश भाव से ही मानती है, परन्तु बाद में जाकर वह सती और लक्ष्मी को भी पीछे छोड़ देती है—अन्त में लक्ष्मण के दर्शन पाकर उसका नारीत्व फिर जागृत हो जाता है और लक्ष्मण के यह कहने पर भी कि 'धन्य अनावृत प्रकृत रूप यह मेरे आगे' उसे यही चिंता होती है 'किन्तु कहाँ वे अहोरात्र वे साँझ सवेरे।'

हनुमान, भरत तथा विभीषण के व्यक्तित्व कवि के अपने भक्त हृदय के विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं।

चरित्र-चित्रण में गुप्तजी ने स्वाभाविकता की पूर्ण रक्षा की है। उन्होंने अपने पात्रों के चरित्रों के धवल तथा कृष्ण दोनों ही पक्षों पर प्रकाश डाला है। जब भरत कैकेयी को भर्त्सना-पूर्ण शब्द सुनाते हैं तो लांछित होकर भी कैकेयी का अहं दृप्त हो उठता है और वह भरत को डाँट बैठती है। इस प्रकार कवि ने मानव-जन को भली-भाँति परखा है। उर्मिला के विरह वर्णन में कवि ने उसके हृदय की द्विधा को भली प्रकार जाना है और इसलिए वह उससे (उर्मिला) से 'कभी आओ' कहलाता है और कभी 'जाओ'।

गुप्तजी ने अपने पात्रों के चरित्र उद्घाटन में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों शैलियाँ अपनाई हैं। उन्होंने अपने पात्रों के चरित्र पर प्रकाश कभी तो दूसरे पात्रों के संवादों द्वारा डलवाया है और कभी स्वयं पात्र के ही क्रिया-कलाप तथा संलाप के माध्यम से उसके चरित्र का उद्घाटन किया है।

परम्परागत पात्रों के चरित्रों को नया मोड़ देना बड़ा ही कठिन कार्य होता है पर 'साकेत' के कवि ने इस गुरुतर दायित्व का निर्वाह भी भली प्रकार किया है। उर्मिला और मांडवी तो कवि की अपनी ही सृष्टि हैं। लक्ष्मण, दशरथ तथा कैकेयी भी मानस के लक्ष्मण, दशरथ तथा कैकेयी से बहुत कुछ भिन्न हैं। शत्रुघ्न और सुमित्रा में भी अधिक सजीवता है।

'साकेत' में अभिव्यक्त गार्हस्थ जीवन

'साकेत' में गार्हस्थ जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-भाई, देवर-भाभी, सास-पुत्रवधू, सौतेले माँ-पुत्र, स्वामी-सेवक आदि सभी सम्बन्धों का अत्यन्त भव्य चित्र अंकित हुआ है। पति-पत्नी के रूप में 'साकेत' में हमें पाँच दम्पति दिखाई देते हैं—उर्मिला-लक्ष्मण, राम-सीता, भरत-माण्डवी, शत्रुघ्न-श्रुतिकीर्ति तथा दशरथ और उनकी तीनों रानियाँ। दाम्पत्य-जीवन का प्रमुख रस शृंगार है। शृंगार में भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साकेत के कवि ने प्रधानता विप्रलम्भ को दी है; किन्तु संयोग के भी उसने जो चित्र अंकित किये हैं वे अत्यन्त मधुर हैं। उदाहरण के लिए उर्मिला तथा लक्ष्मण के व्यंग-विनोद को लिया जा सकता है। वस्तुतः 'साकेत' के सभी दम्पत्तियों में आदर्श दम्पत्ति के जीवन का चित्र अंकित किया गया है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"हमें 'साकेत' में वैवाहिक जीवन की अत्यन्त विस्तृत और सफल व्याख्या मिलती है। उसके वर्णन सरस भावमय और सच्चे हैं जिनसे कवि की जीवन व्यापिनी भावुकता का प्रमाण मिलता है।"

'साकेत' में जिस पुत्र-स्नेह की अभिव्यक्ति हुई है, वह अपने में बहुत अधिक महान् है। पुत्र के वियोग में दशरथ प्राण त्याग देते हैं; इससे बड़ा पुत्र स्नेह का और क्या प्रमाण हो सकता है? कौशल्या में जो वात्सल्य की भावना है, उसमें मोह, भोलेपन और निस्पृहता का सुन्दर मिश्रण है। उसका वात्सल्य अत्यन्त उज्ज्वल, धवल एवं भव्य है। राम-वनवास की बात सुनकर वह केवल यही चाहती है—'मुझे राम की भीख मिले', और इसके लिए अपनी मर्यादा को तोड़ने के लिए भी वह प्रस्तुत है—छोटी सपत्नी के चरणों पर मस्तक टेककर वह केवल यही भिक्षा माँगना चाहती है—

"मेरा राम न वन जावे, यही कहीं रहने पावे।"

इन शब्दों में कितना दैन्य-भाव छिपा है, सहृदय पाठक इसका स्वयं अनुमान लगा सकता है। कैकेयी का वात्सल्य दीन अथवा निस्पृह नहीं है। वह पुत्रों से प्रेम करती है; पुत्रों के लिए मरने को तैयार है परन्तु उसमें अधिकार की भावना है और आवेग की प्रबलता।" भरत तो कैकेयी के औरस पुत्र हैं ही, उसे राम की माता होने का भी गर्व है। इसलिए वह मन्थरा से कहती है—

"राम की माँ क्या कल या आज,
कहेगा मुझे न लोक-समाज—"

किन्तु मन्थरा जिस विष का वपन करती है, वह फल लाता है और परिणाम स्वरूप राम के प्रति अगाध वात्सल्य भाव को रखने वाली कैकेयी उन्हें वनवास देती है। भरत की उक्तियों से उसका हृदय फिर निर्मल हो उठता है और वह फिर राम से उसी प्रकार स्नेह करने लग जाती है।

तीसरी माता हैं—सुमित्रा। "वह क्षत्राणी माँ है जो कर्त्तव्य की वेदी पर स्नेह का बलिदान करने को सदैव प्रस्तुत रहती है। उसके मातृत्व में मोह की दुर्बलता नहीं, कर्त्तव्य की शक्ति है।"

सास-बहू के मधुर सम्बन्धों के लिये कौशल्या और सीता को लीजिए। कौशल्या देव-पूजा में लगी हुई है, सीता उन्हें आरती-धूप आदि सभी पूजा का सामान दे रही है और बीच-बीच में पूछती जाती है—'माँ, क्या लाऊँ?'

'साकेत' में अभिव्यक्त देवर और भाभी के सम्बन्ध बड़े ही स्निग्ध हैं। सीता का भरत तथा लक्ष्मण पर अमित स्नेह है। यह स्नेह कहीं-कहीं वात्सल्य की सीमा का स्पर्श करने लग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। साथ ही देवर और भाभी का सात्विक परिहास भी 'साकेत' में देखते ही बनता है। उर्मिला को अपने विरहकाल में उस दिन की सुधि आती है जिस दिन शत्रुघ्न तथा उसके बीच इस प्रकार की विनोदपूर्ण वार्ता हुई थी—

लाई सखि मालिनें थीं डाली उस वार जब,
जम्बू-फल जीजी ने लिये थे, मुझे याद है॥
मैंने थे रसाल लिए देवर खड़े थे पास,
हँसकर बोल उठे निज निज स्वाद है ?
मैंने कहा 'रसिक, तुम्हारी रुचि काहे पर' ?
बोले 'देवि दोनों ओर मेरा रसवाद है'॥

भ्रातृत्व का एक रूप हम राम-लक्ष्मण में पाते हैं। राम बड़े भाई होने के कारण सागर की भाँति शान्त और गम्भीर हैं। लक्ष्मण भाई के अपकारी के प्रति विषधर की भाँति फुँफकार करने लगते हैं, किन्तु राम के समझाते ही मंत्रमुग्ध नागराज की भाँति उनका मस्तक झुक जाता है। राम के दूसरे भाई भरत हैं, जिनमें साधुता का चरम विकास देखने को मिलता है। वे जो कुछ करते हैं, सब राम की आज्ञा से। राम को भी अपने सभी अनुजों के आग्रह की रक्षा करनी पड़ती है, अन्यथा उनके बड़े होने से लाभ क्या !

स्वामी और सेवक के सम्बन्धों की भी भव्य झाँकी हमें 'साकेत' में मिलती है। यद्यपि सुमन्त राजपरिवार के सेवक हैं तथा राम-लक्ष्मण उन्हें 'काका' कहकर पुकारते हैं। कितना उदात्त सम्बन्ध है यह।

'साकेत' में विरह-वर्णन

'साकेत' एक विरह-काव्य है। इसकी तो रचना ही उर्मिला के विरह-चित्रण के लिए हुई है। चारों बहिनों में अकेली उर्मिला ही ऐसी हतभागिनी है, जिसे विवाह के तुरत बाद ही प्रिय के विश्लेष से जनित दुःख को भोगना पड़ता है। एक नवोढ़ा का पति उससे दूर चला जाय और थोड़े-बहुत दिन के लिए नहीं, पूरे चौदह वर्ष के लिए, तो उसके हृदय की जो व्यथाभरी कहानी होगी उसे केवल अनुभव ही किया जा सकता है, शब्दों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति कदापि संभव नहीं। कवि ने वियोग से कृश बनी हुई उर्मिला का चित्र खींचते हुए लिखा है—

मुख-कान्ति पड़ी पीली-पीली,
आँखें अशान्त नीली-नीली,
क्या हाय यही कृश काया,
या उसकी शेष सूक्ष्म छाया ?

इस विरहिणी बाला को अब केवल इतने से हीं सन्तोष है—

आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।

और इस सन्तोष में कितना दैन्य अन्तर्निहित है, वह सहज ही अनुभवगंम्य है।

जब चित्रकूट की कुटिया में सीता, लक्ष्मण और उर्मिला का मिलन कराती हैं तो लक्ष्मण देखते हैं कि उर्मिला इतने ही दिनों में कितनी क्षीणकाय हो गई है, उन्हें वह केवल रेखारूप मे दृष्टिगत होती है। उर्मिला की विवशता और लाचारी उसके इन शब्दों में कितनी अधिक मुखर हो उठी है—

'पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसी में है सन्तोष।'

'साकेत' का पूरा नवम सर्ग तो प्रोषित-पतिका उर्मिला के ही उच्छ्वासों से निस्सृत है। यहाँ विरह-ताप का ऊहात्मक वर्णन है और षड्ऋतु-वर्णन का भी समावेश है। साथ ही उर्मिला की मानसिक स्थिति का मनोवैज्ञानिक चित्रण भी बहुत सुन्दर हुआ है। वह विरह-काल में जो कुछ खाती-पीती है, वह केवल इसलिए कि 'कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ।' कहने का तात्पर्य यह कि उसे जीवन की लालसा केवल इसलिए है कि वह अपने प्रियतम के चरणों को पकड़कर मरना चाहती है—उसकी इस उक्ति में कितनी मार्मिक व्यथा है।

अपनी विरह-वेदना से मर्माहत होने पर उसमें विश्व के साथ सहानुभूति की भावना जाग्रत होती है। वह हृदय से चाहती है कि यह सभी विश्व सुखी हो, मेरी तरह कोई भी दुःख का भागी न बने।

संस्कृत के आचार्यों ने अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण विरह की इन दस अवस्थाओं का उल्लेख किया है। खोज करने पर 'साकेत' में इनमें से केवल अन्तिम अवस्था को छोड़कर सभी अवस्थाएँ मिल जायेंगी।

'साकेत' में प्रकृति-चित्रण

साकेतकार ने प्रकृति के एक-से-एक मनोहारी चित्र अंकित किये हैं। प्रथम सर्ग में ही उषा का मनोरम चित्र हमें देखने को मिलता है। इसके पश्चात् फिर पाठक पर्याप्त आगे जाकर चित्रकूट का दृश्य देखता है।

नवम सर्ग में उर्मिला के वियोग-वर्णन में कवि को प्रकृति का डटकर वर्णन करने का अवसर मिलता है। अपने विरह की स्थिति में उर्मिला को 'प्रकृति की शोभा' में अपने प्रियतम की आभा दिखाई देती है। कभी वह चक्रवाक को सान्त्वना देती है, कभी कोयल को धैर्य धराती है, कभी लता को अवसर से लाभ उठाने के लिए प्रेरित करती है, कभी कली को शिक्षा का पाठ पढ़ाती है। मकड़ी और मक्खी भी उसकी सहानुभूति से वंचित नहीं। अपने रुदन से वह एक पत्ता भी सूखा नहीं रहने देना चाहती और उसे सरस बनाने के लिए अंचल पसार लेती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'साकेत' में गुप्तजी ने प्रकृति के गत्यात्मक चित्र खींचे हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

सखि निरख नदी की धारा
ढलमल ढलमल चंचल-अंचल
झलमल झलमल तारा !
निर्मल जल अन्तस्तल भर के
उछल उछल कर छल छल कर के
थल थल तर के, कल कल धर के
विखराता है पारा !
सखि निरख नदी की धारा।

ऐसे ही बहुत से सुन्दर चित्र 'साकेत' में चित्रित हुए हैं।

'साकेत' का सांस्कृतिक पृष्ठाधार

'साकेत' का कवि भारतीय संस्कृति का परम उपासक है। यही कारण है कि इस महाकाव्य में भारतीय संस्कृति की भव्य झाँकी प्रस्तुत की गई है। भारतीय संस्कृति का मूलभूत तत्त्व है त्याग और वह 'साकेत' के सभी प्रधान पात्रों राम, भरत, उर्मिला में कूट-कूटकर भरा पड़ा है। त्याग के लिए कर्म अनिवार्य है। 'साकेत' का एक-एक पात्र कर्तव्य-शीलता का परिचय देता है। शत्रुघ्न की उक्ति है—

रूठा और अदृष्ट मनाने की बातों से,
अब मैं सीधा उसे करूँगा आघातों से।

जीवनादर्श के उपरान्त धार्मिक आदर्श को लीजिये। 'साकेत' का कवि वैदिक धर्म का अनुयायी है। इसलिए वह राम के मुँह से कहलवाता है—

उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
गूंजे गिरि-कानन सिन्धु पार कल्याणी !
अम्बर से पावन होम धूम लहराये।

सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा करते हुए कवि ने प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों की सापेक्षता में देखने का संदेश दिया है—

केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी,
है औरों की भी भार-धारिणी भरणी।
जनपद के बन्धन मुक्ति हेतु हैं सबके,
यदि नियम न हो, उच्छिन्न सभी हों कबके।

साकेतकार मूल वर्ण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा करने के पक्ष में है, इसलिए उसे परशुराम की मुनिता पूजनीय है, कोरी द्विजता नहीं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्विजता तक आततायिनी
वध में है कब दोष-दायिनी ।

भारतीय संस्कृति में पत्नी को बड़ा ही गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है। उसे पति के सुःख-दुःखों में समभागी माना गया है, इसलिए उसे अर्द्धांगिनी भी कहा गया है। अर्द्धांगिनी के अभाव में कोई अनुष्ठान पूरा नहीं हो सकता। गुप्तजी भी इसी पक्ष हैं—

मातृ सिद्धि, पितृ सत्य सभी,
मुझ अर्द्धांगी विना अभी ।
है अर्द्धांग अधूरे ही,
सिद्ध करो तो पूरे ही ।

पारिवारिक आदर्शों में पति-पत्नी का सम्बन्ध, भाई-भाई का सम्वन्ध, भाभी-देवर का सम्वन्ध, सास-वहू का सम्बन्ध—इत्यादि भारतीय परिवार के सभी सम्वन्ध संसर्ग अपने आदर्श-रूप में यहाँ मिलेंगे।

'साकेत' में भारत के महान् नैतिक आदर्शों को भी सम्यक् अभिव्यक्ति मिली है। राम और भरत से वढ़कर निर्लोभता का उदाहरण कहाँ मिलेगा—दोनों ही राज्य-जैसी महान् वस्तु को तृष्णवत् समझते हैं। भारतीय नृपतियों का आदर्श विजय-लाभ रहा है, शत्रु का धन लूटना नहीं। इसकी अभिव्यक्ति उर्मिला के इन शब्दों में मिलती है—

नहीं-नहीं पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले, सिन्धु में वहीं डुवोना ।

भारतीय नीति शास्त्रों में यदि स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य का विधान है तो पुरुषों के लिए भी एक पत्नीव्रत का नियम रखा गया है। लक्ष्मण इसी विधान के मानने वाले हैं। उनके शब्द हैं—

यदि सीता ने एक राम को ही वर माना,
यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना।

नीति का एक रूप शिष्टाचार भी है। अपने से बड़ों के प्रति, स्त्रियों के प्रति, अपने तथा दूसरों के प्रति हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए, यह सभी 'साकेत' में मिल जायेगा।

भारत का आतिथ्य तो प्रसिद्ध ही है। चित्रकूटवासी राम के द्वारा इसका सुन्दर दिग्दर्शन 'साकेत' में हुआ है—

अपना आमंत्रित अतिथि मानकर सवको,
पहले परोस परि तृप्ति-दान कर सबको,
प्रभु ने स्वजनों के साथ किया भोजन यों ।

भारतीय संस्कृति में स्त्रियाँ अपने पतियों का नाम नहीं लेती। सीता भी मार्ग की स्त्रियों को राम का परिचय वड़े ही संकोच के साथ इस प्रकार देती हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'गोरे देवर—श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।'

राजनैतिक आदर्श की अभिव्यक्ति 'साकेत' में इस प्रकार हुई है—

विगत हो नरपति रहें नर-मात्र,
और जो जिस कार्य के हों पात्र !
वे रहें उस पर समान नियुक्त,
सब जिएँ ज्यों एक ही कुल मुक्त !

इस प्रकार 'साकेत' में भारतीय संस्कृति के एक-से-एक उज्ज्वल चित्र अंकित है।

'साकेत' का महाकाव्यत्व

साकेत आधुनिक युग का काव्य है, उसके काव्य-रूप का निर्णय आधुनिक मान्यताओं के आधार पर होना चाहिए न कि संस्कृताचार्यों के द्वारा दिये गये लक्षणों के आधार पर। यदि हम प्राचीन लक्षणों की दृष्टि से काव्यों के विभिन्न रूपों का निर्णय करने बैठ जायें तब तो 'रामचरित मानस' जैसे काव्य को भी महाकाव्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसमें केवल सात ही काण्ड हैं जबकि संस्कृताचार्यों के लक्षणों के अनुसार महाकाव्य आठ सर्गों से कम का हो ही नहीं सकता। अतः यहाँ पर हमें 'साकेत' के काव्य-रूप पर आधुनिक दृष्टि से विचार करना है।

यदि महाकाव्य के आधुनिक लक्षणों की दृष्टि से 'साकेत' को देखने लग जायें तो हम देखेंगे कि इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है और आज के स्वदेश तथा विदेश के सभी आचार्य महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा लोक प्रसिद्ध होना मानते हैं। गुप्तजी ने 'साकेत' की कथावस्तु में कुछ मौलिक उद्‌भावनाएँ भी की हैं, जिनका उल्लेख कथावस्तु के अन्तर्गत हो चुका है। इन नूतन उद्‌भावनाओं से कवि में महाकाव्य रचना के उपयुक्त प्रतिभा का भी पता चलता है।

चरित्र-चित्रण भी महाकाव्य का महत्वपूर्ण अंग है। महाकाव्य में महच्चरित्रों का अंकन होना चाहिए। 'साकेत' में हमें यह भी मिलता है। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, उर्मिला, माण्डवी, कैकैयी आदि से बढ़कर और कौन से महान् पात्रों की कल्पना हो सकती है? चरित्र-चित्रण में भी कवि ने एक महाकाव्यकार की प्रतिभा का परिचय दिया है। यद्यपि परम्परा मुक्त चरित्रों में किसी प्रकार का हेर-फेर करना खतरे से खाली नहीं; किन्तु साकेतकार ने यह भी किया है। 'साकेत' के राम ईश्वर की अपेक्षा मानव के अधिक निकट हैं; भरत के चरित्र में भी साधुता की वृद्धि हुई है। लक्ष्मण के स्वभाव से परम्परागत लक्ष्मण से कुछ अधिक आ गयी है, आदि। गुप्तजी ने कैकेयी जैसे धिक्कृत का भी परिष्कार किया है और रही उपेक्षिता उर्मिला, उसके लिए तो पूरे साहित्य की रचना हुई है।

महाकाव्य में वीर अथवा शृंगार रस अंगी रूप में आना चाहिए। 'साकेत' इस दृष्टि से भी महाकाव्य के रूप में सफल है। इसका प्रधान रस रसराज शृंगार है और शृंगार में भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विप्रलम्भ श्रृंगार का परिपाक हुआ है, यों प्रथम सर्ग में लक्ष्मण तथा उर्मिला के विनोदपूर्ण वार्तालाप में श्रृंगार के संयोग पक्ष को भी सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है।

महाकाव्य के अन्तर्गत विविध वस्तु-वर्णन को भी स्थान दिया गया है। 'साकेत' में प्रकृति तथा सामाजिक जीवन का विशद् वर्णन हुआ है। प्रथम सर्ग में ही उषा का सुन्दर वर्णन है और फिर नवम सर्ग में आकर तो कवि उर्मिला-विरह-वर्णन के साथ प्रकृति-चित्रण पर ही लग गया है। सामाजिक और राजनीतिक जीवन के चित्र भी प्रचुर मात्रा में 'साकेत' में मिल जायेंगे। राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पुत्र-माता, पुत्र-विमाता, सास-वधू, देवर-भाभी, भाई-भाई, पति-पत्नि, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य आदि के सम्वन्धों तथा विवाह, स्वयंवर, संयोग-वियोग, युद्ध इत्यादि का यथावसर निरूपण हुआ है।

महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष, इन चार पदार्थों को माना जाता है। 'साकेत' में इन चारों पदार्थों की तो सिद्धि हुई ही है। साथ ही गुप्तजी ने उर्मिला द्वारा समष्टि के निर्मित व्यष्टि का त्याग दिखाकर राष्ट्र के समक्ष त्याग-भावना को भी रखा है।

प्रस्तुत तत्त्वों की दृष्टि से तो 'साकेत' महाकाव्य की कसौटी पर पूर्णतः खरा उतरता है। अब केवल एक तत्त्व और रह जाता है और वह है भाषा-शैली। इस तत्व पर अगले शीर्षक में स्वतन्त्र रूप से विचार किया जायेगा।

'साकेत' की भाषा-शैली

महाकाव्य की शैली अत्यन्त शक्तिमती तथा विस्तारगर्भा होनी चाहिए, जिससे वह जीवन के विविध पक्षों के अंकन में समर्थ हो सके। वस्तुतः 'साकेत' में शैली की उस असाधारणता का अभाव है जिसकी अपेक्षा हम महाकाव्य से करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि साकेत के पंचम एकादश तथा द्वादश सर्गों की शैली में महाकाव्योचित स्थिरता नहीं है। इस अस्थिरता का कारण कदाचित् यह रहा है कि कवि की मूल दृष्टि इतिवृत्त वर्णन पर न होकर कुछ भावपूर्ण स्थलों को उभारने पर रही है। जो भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि 'साकेत' का शैली-पक्ष दुर्वल है।

'साकेत' की भाषा खड़ी बोली है। इस खड़ी बोली पर संस्कृत का प्रभाव अधिक है। कुछ प्रांतीय शब्दों का भी प्रयोग किया गया है; जैसे---धाड़, धड़ाम, डिडकार आदि। व्याकरण की दृष्टि से तो 'साकेत' की भाषा में कहीं कोई त्रुटि मिलेगी ही नहीं। कवि को भाषा पर भी अधिकार पूरा है; किन्तु फिर भी पॉलिश की कमी और तुक के आग्रह के कारण भाषा में पर्याप्त शैथिल्य आ गया है। डॉ॰ नगेन्द्र के शब्दों में, "लचर भाषा के उदाहरण 'साकेत' के वरावर अन्यत्र मिलना कठिन है।" डॉ उमाकान्त गोयल ने भी महाकाव्यकार गुप्तजी की भाषा-शैली सम्वन्धी दुर्वलता को परखा है। उनका कथन है—"··· 'मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्यों में महानन्द का-सा गम्भीर नाद और अव्याहत प्रवाह नहीं है। यद्यपि भाषा काफी प्रौढ़ एवं परिमार्जित तथा शैली नानावर्णनक्षमा है, फिर भी उसमें न तो 'पैराडाइज लॉस्ट' की गरिमा है न 'मेघनाद-वध' का दुर्धर प्रवाह, न 'कामायनी' का ऐश्वर्य है—और न ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'प्रिय-प्रवास' का हिल्लोलकारी संगीत। वस्तुतः महाकाव्यकार गुप्तजी का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष शैली ही है।"

किन्तु एक भाषा-शैली की दुर्बलता के कारण 'साकेत' के महाकाव्यों की परिधि से निकालकर वाहर नहीं किया जा सकता। वस्तुतः उसका महाकाव्यत्व असंदिग्ध है।

उपसंहार

'साकेत' वस्तुतः जीवन का काव्य है, और वह भी ऐसे जीवन का जो हमारे समक्ष एक आदर्श रखता है। इसमें कवि की प्राचीनता की भूमि पर खड़े होकर नूतनता का संदेश दिया है। यदि डॉ० नगेन्द्र के शब्दों का प्रयोग किया जाय तो कहा जा सकता है—"उसमें (साकेत में) हमारे सुख-दुःख की कहानी अधिक स्पष्ट है। 'साकेत' स्वरूप से जीवन-काव्य है। उसमें भारतीय जीवन को ज्ञान के व्यापार के रूप में देखा है। भारतीय-जीवन आज का या पहले का ? यह प्रश्न किया जा सकता है। परन्तु इस प्रश्न से जीवन की एकता टूट जाती है। भारतीय-जीवन आज और पहले के अन्तर्विभागों में वँटकर अखण्ड नहीं रहता। हमारा आज पूर्व का ही प्रतिफलन है और आज और पूर्व दोनों में आत्मा की तरह वैठा हुआ जो भारतीय-जीवन है, उसी की व्याख्या 'साकेत' में है। उसमें प्राचीन का विश्वास और नवीन का विद्रोह दोनों समन्वित होकर एक हो गये हैं। इसलिए 'साकेत' में वर्तमान की सभी समस्याएँ हैं। परन्तु उसका समाधान भी मौजूद है—"व्यथा रहे पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर। इसी दृष्टि से वह भारतीय-जीवन का प्रतिनिधि-ग्रन्थ है।"

वस्तुतः मैथिलीशरणगुप्त को हिन्दी-साहित्य में अमरत्व प्रदान करने के लिए उनका अकेला 'साकेत' ही पर्याप्त है।

★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

THUS WERE COMPOSED AND PUBLISHED SATKHANDAGAMA OR SAURSENI JAIN SCRIPTURES

Dr. RAJA RAM JAIN*

Indrabhuti Gautama, the chief disciple of the 24th and the last Tirthamkara Mahavira (599-527 B. C.), was the first Ganadhara, who rendered the Dwadasviga-vani (knowledge of twelve canonical texts) of Mahavira in Sutta (a sort of formulae in prose) form. The sutta knowledge was preserved for centuries in the form of "Kantha-Parampara (oral transmission). Gradually with the elapse of time, the knowledge decayed due to oral-tradition and by the time of Acarya Dharasena (C. 85 A. D.) it was preserved only partially. Hence, in order to preserve the remaining knowledge he transmitted "Purva-Sahitya" (Pre-Mahavira-Jain-litt.) of Dristivadanga (the twelfth Anga-Cononical-litt) and part of Vyakhya-Prjnapti-Sutta (the 5th Anga-canon)-knowledge to his two trusted and intelligent disciples—Acarya Puspadanta and Acarya Bhutabali. The two Acaryas who were distinguished scholars, rendered the knowledge received into 6000 Suttas in between 85-135 A. D. which were originally known as Khanda-Siddhanta or Satkhanda-Siddhanta or Paramagama or Agama-Siddhanta and finally as Satkhandagama.

Acarya Padmanandin or Kunda Kunda (C. 2nd Century A. D.), Acarya Samantabhadra (2nd Century A. D.), Acarya Samakunda (3rd Century A. D.), Acarya Tumbulura (4th Century A. D.) and Acarya Bappadeva (6th to 8th Century A. D.) wrote vast commentaries in about 5 lacs Slokas (Verses) in different languages intelligible to common people but these commentaries were either destroyed or are unavailable due to some unfortunate and unknown reasons.

In the above chain of commentators the last was Virasena Swami, who wrote commentary on Sat Khandagama known as Dhawala which contains 72,000 Slokas (Verses). Today, only this commentary is available and is published. The commentary was named Dhawala probably because the writing work was finished on Kartika Triyodasi (Wednesday) of Dhawala-Paksa (Moonlit-fortnight) in the year 737 V. S.

* Prof. & Head, Department of Sanskrit and Prakrit, H. D. Jain College, Arrah.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(680 A. D.) According to other version Virasena Swami named his commentary as Dhawala on being highly impressed with the devotion of Rastrakuta King Amoghavarsa I who had the title of "Atisaya-Dhawala".

Gunadhara (C. 38 A. D.) was another Acarya of the time, who was almost senior contemporary of Acarya Dharasena. He possessed partial knowledge of Dwadasariga-Vani. In order to preserve it he wrote on Agama Grantha (Text) named Kasaya-Pahuda in Sutta-form, which was propogated by his disciple Acarya Aryamanksu and Nagahastin. Acarya Yativersabha wrote Cunni-Sutta (commentary and explanatory notes in prose-style). Virasena-Swani also started Commentary on this Agama-Grantha, but, he expired after writing only 20,000 slokas. After his death his disciple Acarya Jinasena II completed this commentary in the year 837 A. D. by writing further 40,000 slokas. This commentary is known as "Jai-Dhawala". Thus the above mentioned and Sat-Khandagama and Kasaya-Pahuda are the original and authentic canonical literature of Digamara Jaina Sect.

Subject Matter of Sat-Khandagama

This Agama-Grantha has been divided into 6 parts from subject matter point of view :—(1) Jivathana, (2) Khuddabandha, (3) Bandha-Swamitwa-Vicaya, (4) Vedana, (5) Vargama, and (6) Mahabandha.

The Acarya (Scholar-Saint) who acquired a thorough and comprehensive knowledge of all the 6 Khandas (parts) was conferred the distinction of "Siddhanta-Cakravartin." Among the Jainacaryas (Jaina Saint-Scholars) it was Acarya Nemicandra (the teacher of Chief-Commander Vira Camundaraya) who got this distinctive credit. He has very ably and in a simple and lucid style presented the whole substance of Sat Khandagama in his Book—Gommasara in Chapters Jivakanda and Karmakanda. Similarly, those who got mastery over the first three khanda (Parts) of S. K. were distinguished as Traividya-Deva. Acarya Madhavacandra is a reputed Scholar of this category.

The two valuable Agama-Granthas (S. K. and K. P.) of Digamabar Jaina would either have rotted in the old Sastra-Bhandaras (store-rooms) or eaten by moths had reverend persons like Prof. Dr. Hira Lala Jaina, Siddhantacarya Pandita Phula Candra Sastri and Pandit Hira Lala Sastri had not dedicated their whole life in showing these the light of the day by their herculean efforts made in text-compilation, editing and getting these published. They were much helped by Vyakhyana-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Vacaspati Pt. Devakinandana Sastri and Prof. Dr. A. N. Upadhya in the beginning.

The respectable Bhattarakas (Chief of the Jaina Monastry) of Mudabidre (Karnataka State, India) deserve all praise who valued the original palm-leaf copies of the Agama texts (of S. K. and K. P.) more than their lives and treasured them for centuries. They were, however, not in favour of making these texts public, but some devoted and affluent persons like Setha Manikacanda, J. P. Bombay, Setha Panna Lala Jaina, Amaraoti (M. P.) etc. made up their mind to get these published at any cost. With the inspiration and help of these affluent persons, scholars like Pt. Gajapati Upadhyaya, Mrs. Pt. Luxmibai, Pt. Sitarama Sastri, Pt. Lokanatha Sastri etc. deeply and devotedly studied the ancient Palm-Leaf mss. of S. K. with Dhawala and Jai-Dhawala Commentaries written in old Kannada-script and prepared some copies in Devanagari-script keeping themselves confined in solitary room in undisclosed place for years together facing all sorts of difficulties. With these base-materials and with the financial assistance of Srimanta Setha Sitabrai Laxmi-Candra Jain of Vidisa (M. P.), three Scholars, viz. Prof. Dr. H. L. Jaina, Pt. Phula Candra Sastri, and Pt. H. L. Sastri started editing and translating S. K. with Dhawala Commentary in 1936 A. D. and by the year 1959 they got 5 parts (Khandas) of it published in 16 volumes. The editing and translation work of Mahabandha, the 6th part (khanda) of S K. was taken up by respectable Pt. Phulacandra Sastri who has till now got 7 volumes published and is almost completing the 8th and the last volume of it.

The editing and translation work of K. P. (with Maha Dhawala Commentary) was completed by Pt. Phulacandra Sastri and Pt. Kailasa Candra Sastri and has been published in 13 Volumes.

The learned scholars have completed the work of editing and translating these valuable texts in such a devoted and dedicated manner that history will ever remember them as "Saraswati-Putra" (distinguished sons of Goddess of learning).

The S. K. Literature is undoubtedly of high degree from the point of view of spiritualism and philosophy of life. At the same time, it is a precious treasure of Indian classics from the point of view of History, Culture, Literature, Philology, language and style. It is high time to popularise this literature among the people for study, teaching and comparative research.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

GOD : THE JAINA VIEW AND JAINA RELIGIOUS IMAGES

Dr. GOKUL CHANDRA JAIN*

The objective of the paper is to convey in brief the Jaina view of God and to introduce Jaina religious images in the light of the concept. It does not intend to present philosophical analysis nor to depict a complete picture of the Jaina art which developed through the ages. The paper is confined to the Jina images only.

Jainism is an ancient religion of India which influenced for centuries the development of human civilization and culture. It retains some primitive conceptions, and happenes to be the oldest living representative of Śramaṇa current. The religion is non-Vedic in origin and probably non-Aryan too. It is neither a revealed religion against Vedic sacrifices, nor, as held by some scholars, an off-shoot of Brahmanism or Buddhism. Jainism in its present status too is a fully developed and well-established religious system. Its philosophy rests on sound foundations, and its followers are well organised as a community.

Jainism is a religion or a way of life preached and practised by a *Jina*. The *Jina* is a perfect human being, born as a human child who by his gradual efforts ultimately attains the spiritual perfectness by realising the true nature of reality in living and non-living forms in the world. He is neither above nor below. The human being himself possesses the capacity of becoming a *Jina*. The avowed aim of the Jaina religion is the perfection of man or the transformation of the individual mundane soul into the very state of Godhood. It exhorts and helps to to bring out the divinity inherent in a person through the realisation of one's spiritual capacity.[1]

The *Jina* in other words is God. This significant concept of Divinity provides freedom and friendship to all, dignity to life and equal chances to progress. The religion is open to one and the all without the consideration of caste, creed, colour or race.

---

* Head of the Department of Prakrit and Jaināgama, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi.

1. Jain, Jyoti Prasad, *'Genesis and spirit of Jain art'*, Jaina Art and Architecture, Vol. 1, Bhartiya Jnanpith, New Delhi, 1974, p. 35.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Jainism does not subscribe to the popular idea of God as some supreme being invested with the power of creating the universe and sitting in judgement over the destinies of all the beings. The Jaina God is the highest spiritual ideal for everyone who wants to progress on the of path religion. The spirit in every one of us is in the grip of *karmas*, a subtle form of matter from beginningless times. *Karmas* give their fruits automatically according to their nature, duration, intensity and quantum. There is no escape from them unless one experiences their consequences, good or bad. In all this God has no part to play. If Jainism admits worships of the divinity, it is not for gaining any favours or for escaping calamities, but for evolving and attaining the great qualities of the supreme spirit which is the final spiritual stage of spirit in every one of us.[1]

The concept of divinity is fully manifested in the religious images specially those of the *Jinas*. The *Jina* is represented in an absolute human form without any piece of garment and ornament, and standing in perfect calmness fully detached from the desire, sufferings and events thus expressing successful withdrawal from the cycle of birth and death. In fulfilment of their spiritual needs in visual form, the Jainas created through the ages religious images with the concrete representations of their special mythological and religious beliefs. The Jaina religious image is not merely a piece of art for the sake of art, but it has an ethical background embodied in it. In the same way worship of a religious image is not merely a mechanical performance of rituals, but it is essentially related to the ethical values, and represents the qualities of the object of worship and worshiper. The special religious and mythological Jaina concept produced sculptural forms not found in the creation of other denomination.[2]

One of the distinctive practices of the Jaina ascetics had been the performance of *yoga* or penance in standing posture, technically known as the *Kāyotsarga-mudrā*. In this posture the monk stands erect with his hands completely giving up the care of the body. This posture, according to some scholars, is depicted on a Harrapan seal which shows in the upper register an ascetic standing in the *Kāyotsarga-mudrā* in jungle being worshipped by a lay-follower seated beside a bull, while in the lower register there are seven figures standing in the *Kāyotsarga-mudrā*.

1. Upadhye, A. N., '*The Ethical Background*', Ibid, p. 41.
2. Ghosh, A., '*Editorial Observations*'. Ibid, p. 3.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Some scholars have also suggested the identification of the famous seal bearing the so called *Paśupati* figure with a *Tīrthaṅkara* (perhaps *Ṛṣabhanātha*).[1] The depiction of three horns on the head in the above seal can be compared with the depiction of *triratnas* on the *torana* of Rānīgumphā at Udaigiri cave in Orissa[2]. As the researches are going on, it is wise not to say the final word till the Indus-valley script is deciphered.

It is both interesting and important that the greatest religious image so far known to the world is a Jaina religious image, and also the earliest religious images in Indian religions is a Jaina image. About 18 metres (57 feet), high, the statue of Bāhubali, Gommateśvara, on the Indragiri hill at Śravaṇabelgolā in middle Karnataka is carved in 981 A. D. in living rock as free standing monolithic image. This gigantic image is the most magnificent symbol of the Jaina faith. The colossus stands in open sky, as skyclad and in the *yoga* posture of the *Kāyotsarga-mudrā*. This is the highest image in the world.[3] The Buddha figure of bamiyan and also the statue of Ramases II in Egypt are bigger in size, but they have been carved in high relief instead of being in the round like the Bāhubali image.

As already stated, the *Kāyotsarga-mudrā* is a yogic posture wherein the body is under complete control without any bodily functions. While commenting on the *Kāyotsarga* Bāhubali image of Śarvaṇabelgola Heinrich Zimmer writes, "The figure is human in shape and features yet inhuman as an icicle and thus expresses perfectly the idea of successfull withdrawal from the round of the birth and death, personal cares, individual destiny, desires. sufferings and events."[4]

When we turn to the history, we find that the earliest *Jain* image so far discovered, belongs to the Mauryan period, and datable to third century B. C. It is discovered from the village Lohānīpur in

1. Deshpande, M. N., '*The background and tradition*', Ibid, p. 21.
2. Jain, H. L., '*Bharatiya Sanskriti men Jaina-dharma ka Yogadana*', Madhya Pradesh Shasana Sahitya Parishad, Bhopal, 1962, pp. 307-8.
3. Doshi, Saryu (ed.), '*Homage to Shravanavelagola*', Marg Publications, Bombay, 1981, p. 10.
4. Heinrich Zimmer, '*Philosophies of India*' New York, 1951, pp. 181-82.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Patna District, and is now preserved in the Patna museum. The nudity and the *Kāyotsarga-mudrā*, suggesting rigorous austerity, are confined only to the Jaina religion, as already stated above.[1] This is the earliest religious, image in the Indian religions as well. This torso however may be compared with that of Indus-valley torso.

The excavation at Ayodhya in Faizabad District has yielded a terracotta figure of c. third century B. C., which is taken to be the earliest Jaina terracotta figure so far excavated in India.[2]

The Lohānīpur Tīrthaṅkara images of the Mauryan age show that in all probability Jainism had the lead in carving the cult images for veneration over Buddhism and Brahmanism; no image of Buddha or any Brahmanical deity of that antiquity has been found.[3] In the history of Jaina religious images, the reference to the *Kaliṅga Jaina* image in the Hāthīgumphā inscription of Khāravela (c. Ist century B. C.) is of special significance. The inscription mentions that the *Kaliṅga Jaina*, once taken away by the Nandrāja from Kaliṅga, was brought back by Khāravela.[4] The Hāthīgumphā, Rānigumphā and other caves on the Udaigiri and Khaṇḍagiri hills in Orissa (c. 2nd century B. C) are not only important for the inscriptions, but also for religious depictions therein also which help to reveal the traditional history of Jainism, and perhaps also to understand the details of the Indus-valley seals referred to above.[5]

When we look into the development of Jaina religious images, we find that the Jaina art has its own colour. While the gods and goddess in the other religions of India show supernatural representation, the Jaina images are represented purely in the human form. Though the Jaina Art in general cannot and should not be isolated from the main stream of Indian art, even the differences between the Jaina, Brahmani-

---

1. Jayaswal, K. P., '*Jaina Images of Maurya Period*', Jour. Bihar, Orissa Res. Society, Vol. XXIII, Pt. I, 1937, pp. 130-32.
2. Lal B. B. and Srivastava, S. K., '*Perhaps the Earliest Jaina Terracotta so far excavated in India*', Madhu (Recent Researches in Indian Archaeology and Art History), pp. 329-31.
3. Ghosh, A., op. cit., p. 3.
4. Sircar, D. C., *Selected Inscriptions*, Vol. 1, Calcutta, 1965, pp. 213-21.
5. Jain, H. L., op. cit., pp. 307-8,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

cal and Buddhist temples lie in the rendering of the deity installed in the main shrine and subsidiary deities, inspired by respective mythologies and such other things. There is no essential difference among them necessitated by any particular religious belief and practice.

After Lohānipur, to our information, the next is an early bronze image of Pārśva of c. second-first century B. C. preserved in the Prince of Wales Museum, Bombay. The image is rendered as sky-clad and standing in the *Kāyotsarga-mudrā* with five hooded snake canopy.[1]

Another Pārśva image of the same period is discovered from Chausā village in Bhojpur District of Bihar and is now preserved in the Patna Museum. It is also sky-clad and in the *Kāyotsarga-mudrā* with seven hooded snake canopy.[2] Hundreds of such figures belonging to different period are found all over India. Depiction of snake canopy is a symbolic representation of an episode which has special significance in the life of Pārśva. It also denotes his association with the Nāga-cult.

Pārśva was a historical person born in Varanasi in the ninth century B. C., 250 years before Varadhamāna Mahāvīra. He lived for hundred years, preached the religion and philosophy of *Yoga*, technically called *cāujjāma-saṁvara*. At the end he attained *nirvāṇa* on the mountain of *Sameta*, known as Pārśvanātha Hill in Hazaribagh District of Bihar. Pārṣva the immediate predecessor of Mahāvīra is reckoned as the twentythird Tīrthaṅkara of Jaina tradition.

The images of Ṛṣabhā, who is considered to be the first Tīrthaṅkara, have special iconographic feature just like that of Pārśva referred to above. He is endowed with falling hair locks. This depicts, according to the tradition, the state of his continued severe penance. Perhaps the specific feature of Ṛṣabha was finalised in c. first century A. D. Both the standing as well as seated images are represented with falling hair locks.[3]

In the history of Jaina religious images, Gupta period was a milestone. Some of the most significant iconographic features were intro-

1. Shah, U. P., '*Studies in Jaina Art*', Varanasi, 1955, pp. 8-9.
2. Prasad, N. K., '*Jaina Bronzes in the Patna Museum*' Mahavira Jaina Vidyalaya Golden Jubilee, Vol., Bombay, 1968, pp. 275-80.
3. Tiwari, Maruti Nandan Prasad, *Elements of Jaina iconography*, Varanasi, 1983, pp. 5-6,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

duced during this period. The distinguishing cognizance (lāñchana) of the twentyfour *Jinas* or Tīrthaṅkaras appear for the first time.[1] The first decorated image found from Akota in Gujarat, was also carved in this period. The image is in *kāyotsarga-mudrā* and bearing usual dress and ornaments. It also bears the word *Jīvantasvāmī* in pedestal inscription.[2] Jaina images of Gupta period are reported from several sites, like Mathura, Rajagira, Vidisa, Varanasi, Chausa and Akota. The images of Ṛṣabha, Candraprabha, Puṣpadanta, Nemi, Pārśva and Mahāvīra were carved.

Mathura, the capital of the Souras, had been a great centre of Jainism from very early time. As we are not discussing the history, it is wise not to enter into obscure or Pauranic details. No doubt we cannot sidetrack the ligend of Kṛṣṇa and his cousin Nemi, who happens to be the twentysecond Tīrthaṅkara.

Excavations at Mathura have revealed abounded art remains, which narrate the details themselves. The region of Saurasena had been a strong hold of Jainism from second-first century B. C. to about 11th century A. D. The Jaina sculptures exhibit different stages in the development of Jaina iconography. For the first time we come to know about the popularity of stūpa worship in Jainism.[3] Jaina literature abounds in references to stūpas but the only extent remains are of one or more stūpas in Kaṅkālītilā at Mathura of the Centuries immediately before and after the Christ. The references to earlier stūpas, such as the one at Vaisali dedicated to Munisuvrata, the twentieth Tīrthaṅkara, believed to be contemporary of Rāma, are paralleled by similar references in Buddhist literature.

Independent *Jina* image standing and seated, fourfold images or *Pratimā-sarvatobhadrikā,* some narrative scenes from the life of the *Jina,* a few other gods and goddesses, symbols, tablets of homage and *srivatsa* as special feature of the *Jina* images are found in the Mathura sculptures.[4] The rendering of the *Jina* in Padmāsana or seated in *dhyāna*-

---

1. Tiwari, Maruti Nandan Prasad, op. cit., pp. 49-52.
2. Shah, U. P. *Akota Bronze*, Bombay, 1959, pp. 26-28.
3. Smith, V., '*Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura*', Allahabad, 1901.
4. Buhler, G., '*Specimens of Jaina Sculptures from Mathura*' Epigraphia Indica, Vol. II, pp. 314-18.

२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

mudrā and the representation of the *srīvatsa* in the centre of the chest appear for the first time in the Suṅga-Kuṣāṇa sculptures of Mathura.[1]

The *kāyotsarga-mudrā* and nudity of Jaina religious images continued to be the significant features till today. The sitting posture or *Dhyānā-mudrā* was introduced as early as the 1st century B. C. Gradually iconographic features were introduced, and gods and goddesses were entered into the religion. Though they had been given due importance and honourable positions, still the supremacy remained to be that of the *Jinas* only. This development is not confined to any particular site, still some places deserve special mention in this regard.

The fourfold *Jina* image, known as *Jina Gaumukhī* or *Pratimā-Sarvatobhadrikā*, is one of the earliest and most favourite manifestation of *Jina* images. The term *Pratimā-Sarvatobhadrikā* signifies that the image is auspicious on all the sides.[2] The carving of fourfold images seated or standing, started as early as in the first century A. D. and its earliest examples are procured from the Kaṅkālītīlā, Mathura. These images remained popular in all the regions in subsequent centuries. Scholars generally believe that the conception of fourfold images is based on the early conception of *Jina-Samvaśaraṇa* and shows an advancement upon it.[3]

The *caubīsī* or the depiction of twentyfour *Jinas* in one sculpture has a great religious importance in Jaina pantheon. Generally Ṛṣabha, the first Tīrthaṅkara is represented as the chief deity in the centre and remaining twentythree encircle him. Such representation of Pārśva and Mahāvīra are also found. The *Jinas* in such figures are either represented in the *Kāyotsarga* or in the *Padmāsana*. The main purpose of carving out such images lies in the fact to recognise the particular Tīrthaṅkara as the chief *Jina*. It also simplifies the worshipping of all the twentyfour *Jinas* at one place. Concept of the 24 *Jinas* or Tīrth-

1. Tiwari, Maruti Nandan Prasad, *Jaina Pratima Vijnana*,, Varanasi, 1981, pp. 46-49.
2. Bhattacharya, B C., 'The Jaina Iconography', Lahore, 1939, p. 48.

3a. Shah, U. P., '*Studies in Jaina Art*', pp. 94-95.

b. De, Budhina, '*Caumukha a Symbolic Jaina Art*', Jain Journal, Vol, VI, No. 1, July 1971, p. 27.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

aṅkaras is exile of Jaina pantheon. The list of the 24 *Jinas* was finalised sometimes before the beginning of the Christian era.[1]

The distinctive features of some of the *Jinas* were finalised quite earlier while the list of the cognizances of the twentyfour *Jinas* was finalised in c. eighth-ninth century A. D.[2] The *Jina* images reached the final stage of iconographic development in c. ninth-tenth century A. D. A fully developed *Jina* image invariably contains distinguishing emblems, Yakṣa-Yakṣī pairs, *aṣṭaprātihāryas*, *Dharmacakra* with worshipers, the dimintive *Jina* figures and at times *navagrahas*, *Vidyādevīs*, elephant lustrating the *Jinas* and some other figures.[3]

To conclude, it can be said that the Jaina religion has evolved the concept of divinity, giving highest dignity to individual and spiritual ideal. As a result the Jaina religious images are sculptured in pure human form. One may arrive at the conclusion that in the Jaina religion the divinity has been represented in one dimensional form, while other may observe that it is multi-dimensional.

---

1. Samavayanga Sutta 157, Kalpasutta 2, 184-203, Paumcariyam, 1, 1-7.
2. Kahavali, Pravacanasaroddhara 381-82, Tiloyapannatti 4, 604-5.
3. Vastuvidya—Jaina Parikaralaksanas 20. 10-12, 33-39.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

THE *VANIK* AND THE *VANIJJA* IN EARLY ANCIENT INDIA (from EARLIEST TIMES to 300 A. D.)

Dr. ARUN KUMAR MISHRA*

It is still controversial as to who were the *Vaniks* or the *Vanijja.* The *Ṛgveda* refers to the word *Vanik* denoting merchants in general. It mentions about a Brahmaṇa *Vanik* who in the time of distress took to trade (*Vanijja*).[1] Again, the same source calls a group of maritime traders[2] as well as an individual merchant[3] as a *Vanik.* Bṛbu, a non-Aryan merchant who was the leader of merchants and donor of gifts to the Ṛsis, was named as *Vanik.*[4] The trader of the precious stones of the sea and the trader in pearls were also termed as *Vanik.*[5] Indra was regarded as *Vanik* (trader) and he became guide and leader of commerce.[6] The *Vaniks* were generally supposed to be greedy and therefore Indra was asked not to deal like them.[7] At one place in the *Ṛgveda* there is a reference to *Vajinivati* which according to Sayana, means rich in wealth and capable of giving in substance.[8] This shows that *Vajinivati* at that time meant for a group of men living on trade.

Merchants engaged in foreign trade were also known as *Vaniks.* The *Ramayana* refers to the merchants (*Vaniks*) who used to travel far and wide for profit with loaded carts.[9] The *Mahabharata* also includes all the merchants into this term *Vanik.*[10] The same suggests how the

---

* Depatment of History, L. S. College, Muzaffarpur

1. *RV*, I. 112. 11; Basu, P. C., *IHQ*, I, 1925.
2. Ibid., I. 56.2; I. 116.5.
3. *RV*, I.48.3; I.56.2; I.116.5; 4.56.6 The name of this trader was Bhujyu.
4. *RV*, I.47.6; 7.6.7; AV, III. 15.1.
5. RV, VI.45.31-3; Iyengar, S., The Trade of India, *IHQ*, I, 1925.
6. *RV*, I.33.3
7. Ibid., I.33.3.
8. Ibid., VI.61.3
9. *Ramayana*, 11.67.22; V.28 (*Nanadeshnivasaishch vanigibh rup Shobhitam*, *Balkand* Sarg, 5).
10. *Ạdi Pạrva*, 10.8.4. (*Vanijibhi shạchanvkiyarnt nagaranyath shilpimi*).

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

judicious and just administration of Bhisma led to the emergence of thickly populated cities and towns where merchants (*Vaniks*) and artisans used to reside.[1] The *Arthaśāstra* also says that the *Vaniks* lived in town and village.[2]

The Setthi, Sarthavaha,[3] big merchants like Anathapindika,[4] the hawkers and traders[5] going from village to village were also called *Vanik*. The *Jataka* stories suggest that every village had its own resident traders (*Vaniks*).[6] The hawkers and the traders going from village to village were also called *Vanik*.[7] The *Serivanija Jataka*[8] informs us that a trader (*Vanik*) in the city of Anuradhapura used to sell pots and pans by crying out the names of his commodity. The same source refers to a trader (*Vanik*) carrying goods on the asses,[9] or on the cart.[10]

The traders eagaged in joint stock trade were also called *Vaniks*. The *Kutvanij Jataka* refers to the two traders (*Vaniks*) of Varanasi who conducted trade on the principle of joint stock.[11] The two traders (*Vaniks*) of Sravasti also conducted the business on joint stock.[12] The *Baveru* and the *Mahavanija Jatakas* also refer to the traders (*Vaniks*) jointly engaged in trade.[13] The *Jataka* literature also refers to Sravasti

---

1. Ibid., 108.4; Prasad, P. C., *Foreign Trade and Commerce in Ancient India*, p. 26.
2. *Arthaśāstra*, I.3.4-6; II.4.11; II.4.9.
3. *Mbh.*, 3.61.124; 3.62.3; Bhattacharya, S. C., op. cit., p. 140.
4. *Jat.*, 22.546; 2.238; 12.467; *Kullavagga*, 1.1.1; 3.1.2.
5. Ibid., 1.111.
6. Davids, Mrs. Rhys, See *JRAS*, 1901, p. 874.
7. *Jat.*, II. 109; *Vanijo gadrabhabharakena voharam karonto vicarati*; *Jat* II. 184.
8. Ibid., 2.109.
9. Ibid., 1.205.
10. Ibid., 1.404.
11. Ibid.
12. Ibid., 2.30.
13. Ibid., 3.126.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

traders (*Vaniks*)[1], Varanasi traders (*Vaniks*)[2] for Ujjaini traders (*Vaniks*)[3] a caravan of 700 traders (*Vaniks*).[4] It is mentioned in the same source that the Setthis were honoured by the King, the *Vaniks* and the common mass.[5] Once a Setthi was to be sentenced to death by the order of the King, at that time the *Vaniks* jointly moved for his balance.[6] Merchants dealing in corn,[7] vegetables[3] (*pannika*), mangoes[9], fruits and roots[10] (*phal vanik, mula vanik*), pots and pans,[11] cooked food[12] (*odanika*), meat[13], liquids, perfumes,[14] royal goods,[15] dealers in gold, (*heranik*),[16] yarn and textiles,[17] wood,[18] salt,[19] floured barley[20] were also called or termed as *vanik*. The *Astadhyayi* also refers to the term *vanik* for the traders. Besides, the word *Krayavikrayika* was also another term for traders.[21] On the basis of references of *Milindapanha* it appears

---

1. Ibid., 2.294.
2. Ibid., 2.248.
3. Ibid., 5.75.
4. Ibid., 4.136.
5. *Jāt*., 5.382. (*Raj Pujito vanik pujito nagar janpad pujito*).
6. Ibid., 6.135.
7. *Jāt*., II. 249; V.365; 12.467; *Angavijja*, Chap. XXVIII.
8. *Jāt*., XV. 504.
9. Ibid., 13.478.
10. *Angavijja*, Chap. XXVIII.
11. *Jāt*., 3.12.
12. *Arth*., III.4.1-4; *Angavijja*, Chap. XXVIII.
13. *Angavijja*, Chap. XXVIII.
14. *Arth*., III.4.1-4.
15. Ibid., III.4.1-4; Luder's List No. 1230; *Angavijja* Chap. XXXVIII.
16. Ibid., 11.16.8.
17. Luder's Dist No. 1239.
18. *Angavijja*, Chap. XXVIII.
19. Ibid.
20. Ibid.; Luder's List No. 1230.
21. *Astadhyayi*, IV. 4, 13; *India as Known to Panini*, p. 238.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

that dealers in fruits, rice (*odanika*), fish and meat were called *vaniks*.[1] We find reference that in Indore there lived *vaniks*.[2]

The *Arthaśāstra* seems to be particular about curbing the tendency of making illegal profit by the traders (*vaniks*).[3] The *Jataka* sources show that adulteration was a crime committed by the traders (*vaniks*).[4] V. S. Agrawala rightly suggests that this term *vanik* was applied to traders without distinction of caste.[5]

The *Avadanaśātaka* clearly refers to the contractual relationship between the caravan-leader (*Sarthavaha*) and other traders (*vaniks*). The five hundred traders (*vaniks*), who accompanied the *Maitrakanyaka* (*Sarthavaha*) contributed to him with various taxes like *Sulka, gulma, tarpanya*, etc.[6] The very aim of a trader (*vanik*) was profit.[7] It is also suggested in the *Rigveda*.[8] The traders (*vaniks*) received much benefit by conducting the business like a banker. There are many stories involving deposits cited by Sternbach,[9] the person with whom the deposit was made had been described as *Vanik*.

The comprehensive character of the term *vanik* is also evident by the fact that the main commercial route was called *Vanikapathas* during the rule of the Mauryas.[10] It is to be noted that the *Arthaśāstra* refers

---

1. *Milind.*, p. 324.
2. Fleet. Corp. I. Inscription, 3. 70; Rai, U. N., *Prachin Bharat me Nagar tatha nagarjivan*, p. 44. (*Indrapurak vanigbhyam*).
3. *Arth.*, II. 16, 7-8.
4. Bose, A. N, *Social and Rural Economy in Northern India*, pp. 283-84.
5. Agrawala, V. S., *Panini's Astadhyayi, Indian History, Congress Proceedings*, Vol. I. 1941.
6. *Avadanaśātaka*, pp. 89-90.
7. *Avadana Ṣātaka*, VI. 53, p. 135 (*Vanigiv Labdhalabha*).
8. *RV*, IV. 24, 9.
9. Sternbach, L., *Juridical Studies in Ancient India*, Vol. I, Delhi, 1965; *Epigraphia India*, 18. 9.
10. Rawlinson, H. C., *Intercourse between India and the Western World*, p. 46.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

to the words *Vanik* and *Vaiśya* in a single sentence[1] stating that both of them mentioned above lived together in trading centres.

It may be mentioned that the word *Pani* denoting traders has been referred to in the *Rigveda*[2] and they are described to have been rich and enterprising merchant class. They used to build ships also. They were engaged in ship building. Macdonell and Keith hold that they were perhaps the first openers of the sea route for international commerce and they became the ancestors of the later *Vanik* and *Vaisya*.[3] A. C. Das says that in the later Sanskrit lexicons the *vanik* comes to be identified with the *Panik* or traders[4] who were no other than the *Panis* of the *Rigveda*. The *Nirukta* states that the word *Panis* gradually became *vanik*.[5]

The term *Vanijja* also appears to be a general term for merchants or traders dealing in the products of agriculture and industry.[6] Panini applied *Vanijja* for traders without reference to caste e. g. *Madravanija* (one who trades with the Madra country),[7] *Kashmir vanija* and *Gandhara vanija*. Besides, merchants were named after the nature of their business or such as, *Aśva vanija*, the articles they dealt in. Its comprehensive character is also evident by the reference of *Vanijagrama* in the *Kalpa Śūtra*.[8] This word denotes the village of the *vaniks* of all kinds. Women engaged in trade and commerce or the wives of the traders were also called *Vanijini*. Records of denations by *Vanijini* is found in contemporary epigraphs.[9] One of the inscriptions[10] from Amaravati

1. *Arth.*, 2.4.11; 2.4.9.
2. *RV*, 1.56.2; 1. 116.5.
3. Macdonell, A. A. and Keith, A. B., *Vedic Index*, Vol. II; *Nirukta*, VI. 26 (*Panivarnigbhavati*).
4. Das, A. C., *Rigvedic India*, 2nd. Ed., Calcutta, 1927. (*Vaishyastu vyavaharta vitvatik*; *Paniko vanika*).
5. *Nirukta*, VI. 26 (*Panivarnigbhavati*).
6. *RV*, I.33.3; I. 112.11; *AV*, III.15.5 (*Krayavikrayadi Lakshanevanija Karmani*); *Vajasaneyi Samhita*, XXX. 17; *Tait. Br.*, III. 4.
7. Agarwala, V. S., *India as Known to Panini*; Prasad, P. C., *Foreign Trade and Commerce in Ancient India*, p. 13.
8. *Kalpaśūtra*, 122, *SBE*, Vol. XXI, *Jain Sutras*, Pt. I, p. 264.
9. Luder's List No. 1285.
10. Ibid. No. 1292.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

mentions the erection of a copying stone by the *Vanljini Siddhi* who is described as the daughter of Candra of Vijayapura. S. C. Bhattacharya rightly says that the absence of any reference to her husband, in sharp contrast to the specific mention of her father's name and residence makes it more likely that the donor was a female merchant rather than the wife of a merchant.[1] Reference to the donor's husband is not made in two other similar inscriptions as well.[2]

In the *Angavijja* the dealers in fruits and roots are termed as *Vanijja*.[3] The *Vanijaka* was also used for traders. A Kanheri cave inscription of the Satavahana period records the building of a chaitya by some merchants (*vanijaka*) for Buddhist teachers.[4] *Vanija* is also a term for the traders in the *Astadhyayi*.[5] The meat seller is also termed as *mamsavanijja*.[6]

The another general term for the traders was also *Vaniya*, such as, *phala-vaniya*, *mula-vaniya*.[7] A goldsmith (*hairanyaka*) was the son of a merchant (*vaniya*).[8] A *manikara's* (jeweller's) daughter was married to the son of a dealer in iron (*lohavaniya*).[9]

Thus, on the basis of the above mentioned facts, it may be concluded that the words *Vanik*, *Vanijja*, *Vaniya* or the *Panis* were meant for the traders in general.

---

1. Bhattacharya, S. C., *Some aspects of Indian Society*, p. 142.
2. Luder's List No. 30, 1292; Sharma, R. S., *Sudras in Ancient India*, p. 177.
3. Luder's List No. XXVIII; XXIX; 1285; 1292; *Avadanasataka*, LXXXVII, p. 103.
4. Luder's List No. 1230.
5. *Astadhyayi*, IV. 4, 13; *India as Known to Panini*, p. 238.
6. *Angavijja*, Chap. XXVIII.
7. *Kalpasutra*, 122, *SBE*, Vol. XXI; *Jain Sutras*, Pt. I, p. 292.
8. *Angavijja*, Chap. XXVIII.
9. Luder's List No. 29, 92, 1239.

3

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

GENERAL PROPERTIES OF GREEN PLANT CELLS AND THE STRUCTURES AND FUNCTIONS OF A SEED PLANT AS FOUND IN THE JAINA AGAMIC WORKS

Dr. J. C. SIKDAR*

It appears from the study of plant life as explained by the Jainācāryas that the green plants[1] are the primary producers of the living world. The properties of the pigment that gives them their green colour, i.e. chlorophyll, enable them to utilize the radiant energy of sunlight to synthesize energy-rich compounds, such as, liquid substance (siṇeha)[2] from water and air[3] (carbon-dioxide). The process of photosynthesis is the only significant way in which energy[4] (teja) from the sun is made available for life on this earth.

Land plants[5] absorb the water required for the photosynthetic process through their roots; aquatic plants[6] receive it by diffusion from

* L. D. Institute of Indology, Ahmedabad.

1. Sūtrakṛtaṅga II. 3.43, etc.
   Bhagavatī Sūtra, 7.3.275,
   Uttarādhyayana Sūtra 36.92-99 ff.
   Paṇṇavanā Sutta, Vanaspatikāyajīva paṇṇavanā 35-54.5.
   Lokaprakāśa I, 5th Sarga, Vanaspati, Vinayavijayaji.
2. "Te jīvā.........puḍhaviṇaṁ siṇehamāhāremte te jīvā āhāreṁti puḍhavisarīraṁ āusarīraṁ teusarīraṁ vāyusarīraṁ vanassaisarīraṁ, etc. 1" Sūtrakṛtāṅga II. 3.43.
3. Ibid. (āusarīraṁ......vāyusarīraṁ).
4. Ibid. (teusarīraṁ).
5. Mūlaṁ syāt bhūmisambaddhaṁ tatra kandaḥ samāśritaḥ /
   Tatra skandha iti mitho bījāntaḥ syuryutaḥ same //107//
   Ataḥ pṛthvigatarasamāhāranti same apyamī /
   Yāvat phalam puṣpasthaṁ bījaṁ phalasaṁgataṁ //108//
   Lokaprakāśa I, Sarga 5, vv. 107-8, Vinayavijayaji.
   See Bhagavati Sūtra 7.3.276.
6. Nānāvihajoṇiesu udaesu rukkhattāe viuttaṁti, te jīvā tesiṁ nānāvihajoṇiyāṇaṁ udagāṇaṁ siṇehamāhāreṁti, etc. /" Sūtrakṛtāṅga II, 3.55.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the surrounding medium. Plants need vast quantity of air[1] to carry on photosynthesis, for air contains cabron-dioxide. Plants generally grow better in air with higher carbon-dioxide content."[2]

Cellular Respiration of Plants

The taking of air (vāyuśariraṁ)[3] by plants suggests that the cellular respiration[4] of plants which is the series of enzymic reactions utilizes ucchvāsavāyu[5] (oxygen) and releases niḥśvāsavāyu[6] (carbon-dioxide ?) from the liquid substance (siṇeha) to the forms of biological useful energy. These occur in green plants as they do in every living cell.

The Skeletal System of Plants

Plants have no separate skeletal system for support as many animals do. At the simplest level, the śaivālas (algae)[7] which are almost entirely aquatic have little need for specialized skeletal structures, for their bodies are generally small and supported by the water. The land plants[8] do need some structure strong enough to hold leaves in position to receive sunlight. This has been achieved in two major ways :

---

1. Sūtrakṛtāṅga, II. 3.43. (Vāyusariṛaṁ).
   Te jīvā āhāremti……(Vāyusarīraṁ) /"
2. Biology, p. 97, C. A. Ville.
3. Sūtrakṛtāṅga, II. 3.43.
4. Te jīvā āhāreṁti……vāyusarīraṁ, Sūtrakṛtāṅga II. 3.43.
   Śarīrocchvāsaniḥśvāsāhāraḥ sādhāraṇaḥ khalu I
   Lokaprakāśa 5.75, p. 361.
5. Mūle sikteṣu vṛkṣeṣu phalādiṣu rasaḥ sphuṭaḥ /
   sa coechvāsamantareṇa kathamurdhvaṁ prasarpati //32//
   Rasaprasarpanam spaṣṭaṁ gatyucchvase asmadadisu /
   Tadabhāve tadabhāvo dṛṣṭaśca mṛtakādiṣu //
   Prāṇāpānavucchvāsaniḥśvāskṛyālakśaṇau //33//
   Lokaprakāśa, 5.32, 33.
   Navatattvaprakaraṇa, p. 14.
6. Lokaprakāśa, 5.75. p. 361.
   Prāṇāpānavucchvāsaniḥśvasakriyālakṣaṇau /"
   Navatattvaprakaraṇa, p. 14.
7. Sūtrakṛtāṅga II. 3.54.
8. "Puḍhavijoṇiyā rukkhā", Ibid.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the cellular wall (tvac)[1] can be very thick,[2] as in the woody stems of trees and shrubs, and serve directly for the support of the plant body or it can be rather thin,[3] and provide support indirectly by way of pressure.

Besides, trees and shrubs have Gūḍhaśirā (Xylem ?) and ahiruyaṁ (phloem ?)[4] to help support their trunk.

Plant Digestion

Plants have no specialized digestive system; their nutrients[5] are either made within the cells[6] or are absorbed through the cell membranes[7]. The nutrients synthesized are either used at once[8] or transported to

---

1. Ibid II. 3.47
"Yatra skandhakaṁdamūlaśākhāṣu khalu vikṣyate /
Tvac sthūlatara kāṣṭhat sa tvac anantajīvikā /
Lokaprakāśa I, 5.79, p. 363.

2. Ibid.
3. Yatra mūlaskandhakandaśākhāṣu dṛśyate sphuṭaṁ /
Tvac Kaṇiyasī Kāṣṭhāt sa tvak pratyekajīva //
Lokaprakāśa, 5.96, p. 365.

4. Paṇṇavanā, Vanaspatikāyajīvapaṇṇavanā 54-84
Jīvavicāra 12; Gommaṭasāra 197 (Jīvakāṇḍa), Nemicandra.
5. Te jivā tesiṁ nānāvihajoṇiyāṇaṁ puḍhaviṇaṁ siṇehamāhāreṁti, etc."
Sūtrakṛtāṅga, II 3. 43.

6. Te jīvā āhāreṁti puḍhavisarīraṁ āusarīraṁ teusarīraṁ siṇehamāhārṁti, etc."
Sūtrakṛtāṅga, II. 3.43

7. Te jīvā āhāreṁti pudhavisarīraṁ āusarīraṁ teuśārīram vāusārīraṁ vanassaisarīraṁ, etc., Ibid.,

8. Ibid.
"Mūlaṁ syāt bhūmisambaddhaṁ tatra kandaḥ samāśritaḥ/
Tatra skandha iti mitho bijāntaḥ syuryutaḥ same //107//
Ataḥ pṛthvigatarasamāhāranti same apyamī/
Yāvat phalaṁ puṣpasthaṁ bījaṁ phalasaṁgatam //108//
Lokaprakāśa, 5.107,108.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

another part, such as, stem or root[1], etc. The insectivorous plants[2], although without an organized digestive system, do secrete digestive enzymes[3] similar to those secreted by animals, as suggested by the statement "they deprive of life the bodies of manifold movable and immovable beings; the destroyed bodies of movable and immovable beings; the destroyed bodies which have been consumed before, or absorbed by the rind, (are) digested and assimilated (by them)."[4]

Plants accumulate the reserves of organic materials for use during those time when photosynthesis is impossible, at night or over the winter.[5] An embryo plant cannot make its own food until the seed sprouted and the embryo has developed a functional root, leaf[6] and stem[7] system.

---

1. "Tesiṁ puḍhavijoṇiyāṇam rukkhāṇaṁ sarīrāṇāṇāvaṇṇā ṇāṇāgaṁdhā nāṇārasā nāṇāphāsā ṇāṇāsaṁṭhāṇasaṁṭhiyā nāṇāvihasarīrapuggalaviuvvitā......bhavaṁtetti"
   Sūtrakṛtāṅga II, 3.43.
2. "Te jīvā tesiṁ rukkhajoṇiyāṇaṁ rukkhāṇaṁ siṇehamāhāremti ..... puḍhavisarīraṁ, etc......tesiṁ rukkhajoṇiyāṇaṁ mūlāṇaṁ kaṁdāṇam tayāṇaṁ......sālāṇaṁ pavālāṇaṁ jāva bīyāṇaṁ sarīrā nāṇāvaṇṇā nāṇāgaṁdhā......bhavaṁti/", Ibid., II. 3.46.
3. Nāṇāvihāṇaṁtiasathāvarāṇaṁ pāṇāṇaṁ sarīraṁ acittaṁ kuvvaṁti parividdhatthaṁ taṁ sarīraṁ......vipariṇayaṁ saruviyakadaṁ saṁtaṁ/, Ibid., II. 3.43.
4. Ibid.
5. Ibid., S. B. E. XLV, Book II. Lecture 3, Sutra 2, p. 389. Jacobi.
6. Bhagavatī Sūtra, 7.3.275-6.
   "Śravaṇādicaturmāsyaṁ prāvṛḍvarṣāsu bhūruhaḥ /
   Sarvato bahulāhāra apāṁ bāhulyataḥ smṛtaḥ //109//
   Tataḥ śaradi hemante kramādalpabhojiṇah /
   Yāvadvasante alpāhāra grīṣme alyantamitāṣanaḥ //
   Lokaprakāśa I, 5, 109-10.
7. (1) "Joviya mūle jīvo soviya patte paḍhamayametti /
   (2) Savvo vi kisalao khalu uggamamāṇo aṇaṁtāo bhaṇio /
   Etaccārthataḥ prajñāpanāvṛttau"
   Ācārāṅgavṛttavapi tathaiva // Yaduktaṁ.
   "Yaśca mūlatayā jīvaḥ pariṇamate sa eva prathomapatratayā api tti /

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Plant Circulation

The simpler plants consisting of single cell or small group of cells[1] have no circulatory system. Simple diffusion, augmented in certain instances by the process of active transport by air (Ucchvāsavāyu)[2] suffices to bring in the substances[3] the plant requires. Gūdhaśirās[4] (Xylem ?) tubes are probably concerned with tansporting water and minerals from the roots up the stem to the leaves, while ahiruyaṁ[5] (phloem) tubes may, probably transport nutrients up as well down the stems for storage and use in the stems and roots, etc. In the Spring and the Summer.[6] for example, substances pass from the places of storage to the buds to supply energy for growth.

The circulatory systems of higher plants are simple than those of higher animals and constructed on an entirely different plan, plants have no heart and blood vessels. Transportation of their nutrients from

---

ekajīvakartṛke mūlaprathamapatre iti yāvat,
prathamapatrakaṁ ca ya saḥ ca yasau bījasya
samutsunnāvasthā bhujalakalāpekṣā sa ivocyate iti //
niyamapradarśanametat // seṣam tu kiśalayādisakalam
na mūlajīvapariṇāmāvirbhāvitāmeva iti avagantavyam //

vide Lokaprakāśa I, p. 361.

"Udgacchau prathamāṅkuraḥ sarvasādhāraṇo bhavet /
Vardhamāno yathāyogaṁ syāt pratyeko athavāparaḥ //

Lokaprakāśa I, 5. 74.

1. Uttarādhyana Sūtra 36. 92.
   Paṇṇavanā, vanaspati (Sukṣma Vanaspati)
   Kāyalavapaṇṇavanā I. 35, p. 16.
2. Rasaprasarpaṇaṁ spaṣṭaṁ satyucchvāse asmadādiṣu /
   Tadabhāve tadabhāvo dṛṣṭaśca mṛtakādiṣu /, Ibid., 5.33.
3. Sūtrakṛtāṅga, II. 3.43.
4. Paṇṇavana, Vanaspatikāyajīvapaṇṇavanā, 54-84.
   Jīvavicāra 12; Gommaṭasāra 187 (Jīvakāṇḍa).
5. Bhagavatī Sūtra, 7.3.275-6.
6. Mūle Siktesu Vṛkṣeṣu phalādiṣu rasaḥ sphuṭaḥ/
   Sa cocchvāsamantareṇa Kathamurdhvaṁ prasarpati (32)
   Rasaprasarpaṇaṁ spaṣṭaṁ satyucchvāse asmadādiṣu,
   Ṭaḍabhāve ṭadabhāvo dṛṣṭasca mṛtakādiṣu// (33)
   —Ḷokaprakāśa I, 5. 32-33.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the soil is accomplished by the combined forces of transpiration[1] and root pressure.[2]

Plant Sap

Plant sap (siṇeha or rasa or kṣira)[3] is somewhat analogous to the blood plasma of man and higher animals. It is a complex solution of many substances both organic and inorganic[4] which, as pointed out, are transported from one part of the plant to another by the combined forces of transpiration and root pressure. The substances present and their concentrations vary greatly in different plants and in various parts of the same plant.[5] Water is absorbed by the epidermal cells of the roots and moved to all parts of the plant.[6]

Plant Excretion

A striking difference between plants and animals as found in Jaina Biology is that plants excrete little or no waste (Khala). Nitrogenous compounds may be released during the metabolic process of plant, but instead of being excreted as waste, they are probably reutilized in the synthesis of new paryāpti (Vital force).

Since plants are lomāhāriṇs[7] (i. e. absorbers of nutrients through the epidermal cells of the roots, (etc.) and they neither ingest proteins

---

1. Ibid., 5. 107-8, pp. 367-8.
2. Sūtrakṛtāṅga II, 3.43, (Siṇehaṁ)
   Lokaprakāśa. 32 (rasa), 5. 84 (Ksira)
3. Sūtrakṛtaṅga II. 3. 43-44.
4. Lokaprakāśa, I. 5. 32-33, p. 353.
   5. 107-8; p. 367-8.
5. Sakṣīraṁ vāpi niḥkṣīraṁ patraṁ gūḍhaśiraṁ ca yat/
   Alakṣyamāna patrārddhadvayasandhi ca yad bhavet (84)
   —Lokaprakāśa I, 5. 84, p. 363.
6. Lokaprakāśa, I, 5. 33; 5. 107-8, p. 367-8.
   Mūlaṁ syāt bhūmisambaddhaṁ tatra kandaḥ samāśritaḥ/
   Tatra Skandha iti nitho bijāntaḥ syuryutaḥsame // (107)
   "Ataḥ pṛthvigatarasamāhāranti sam apyamī/
   Yāvat phalaṁ puṣpasthaṁ bījaṁ phalasaṁgataṁ// (108)
7. "Sarīreṇa oyā hāro tāyāi phāseṇa (tatyā ya phase ya)
   lomā āharo, pakkhevāhāro puna, kavalio hoi nāyavvo
   (v. 181).

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

nor carry on muscular activity, like the Kabalāhārin[1] man and higher animals, (the two largest resources of metabolic wastes in the animals); the total amount of nitrogenous waste is small and can be eliminated by diffusion as waste through the pores of the leaves, or by diffusion as nitrogen containing salts from the roots into the soil.[2]

Plant Coordination

The activities[3] of the various parts of a plant are much more autonomous than those of the parts of an animal. The co-ordination between parts that does exist is achieved largely by direct chemical and physical means,[4] since plants have developed no specialized sense organs except that of touch and no nervous system as found in man and higher animals.

Actively growing plants can respond to a stimulus[5] coming from a given direction by growing more rapidly or bend away from the stimulus.[6]

Surā ṇirayā igimdi vinā sesā bhavatthā pakkhevā (v. 182) (200)

"Abhoga-nābhogaṁ savvesiṁ hoī loma āhāro/" (v. 184) (204)

Bṛhatsaṁgrahaṁ, Srī Candra Sūri.

1. Ibid., VV. 181, 182.
2. Bhagavatī Sūtra, 7.3.275-6.
3. "Vanaspatiśarīramaṅkura-Kiśalayaśākhāpraśākhā / diviśeṣaiḥ pratiniyataṁ barddhata iti 1"
   Tarkarahasyadīpikā, p. 157.
   "pratiniyatavṛddhi-svapaprabodhasparśādihetukollāsasaṁkocāśra-yopasarpaṇādi viśiṣṭānekakriyā /" Ibid. m, p. 159.
4. "Tathā Vanaspatiśarīrasyāpi Viśiṣṭeṣṭanabhojalādiṣekādviśiṣṭvā rasavīryasnigdhatvādi 1" Ibid., p. 159.
5. "Yathā manuṣyaśarīraṁ Jñānenānugataṁ, evaṁ vanaspatiśarīramapi, Yataḥ samiprapunnatasiddhesaraka-sundakabappulagastyāmalakīkādiprabhṛtiṇāṁ svapavibodhatasa-tadbhāvaḥ I......tatha mattakāminī sanupūrasukumāracaraṇatada-nadaśokataroḥ nallavakusumo Ibid., p. 159.
6. "Saṁjñā niyatasaṁkocavikāsapramukhā api saṁjñiṇaṁ kaṭhamāt amāṇaṁ na jñāpayanti yuktibhiḥ I
   Ḷokaprakāśa, 5. 38,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

If an organism (e. g. creeper) is motile, it may respond to a stimulus by moving toward it for support.[1]

When a seed is oriented in the ground in any way, the primitive root (mūla) and shoot (aṅkura) of the developing embroyo grow;[2] the root grows down-ward and the shoot grows upward.[3] Thus the root is positively geotropic and the shoot is negatively geotropic.

Transmission of Impulses of Plants

In a few plants responses to stimuli do occur rapidly enough to be readily seen. One of them is the response of the sensitive plant "Mimosa pudica" (Lajāvatīlatā).[4] Normally the leaves of this plant are horizontal, but if one of them is lightly touched, all the leaflets fold within two or three seconds. Touching one leaf sharply causes not only the stimulated leaf, but also the neighbouring leaves, to fold and drop. After a few minutes the leaves return to their original position.

Sleep Movement[5] of Plants

Many plants change the position of their leaves or flower parts in the late afternoon or evening (Sandhyā)[6] and their parts return to their original position in the morning. Several kinds of flowers close at night and open in the morning[7] with the sun rise and some open at night with the rise of the moon[8] and closes respectively. These changes

---

1. Ibid.
2. (a) Joviya mūle Jīvo soviya patte paḍhamayametti
   (b) Savvo vi Kisalao Khalu uggamamāno aṇamtāi bhaṇio tti //
   See prajñāpanāvṛtti and Ācārāṅgavṛtti, p. 359-6,
   Vide Ibid., p. 361.
3. Ibid.
4. "Tathā Lajjātuprabhṛtīnāṁ hastādi saṁsparśātpatrasaṁkocādikā parisphuṭakriyopalabhyate //"
   Tarkaraḥasyadīpikā, p. 158.
5. "Svapaprabodhasparśādihetukollāsasaṁkocāśravayopasarpaṇādi viśiṣṭānekakriyā /"
   Tarkarahasya, p. 159.
6. "Ghosālakyādipuṣpānāṁ ca Sandhyāyāṁ /"—Ibid., p. 158.
7. "Padmādīnāṁ Prātarvikāsanaṁ /" Ibid.,
8. "Kumudādīnāṁ tu Candrodaye /" Ibid,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

in position have been termed sleep movements in Botany, although they are in no way related to the sleep of animals.

The Stracture and Functions of a Seed Plant

It appears from the study of plant life as treated in the Jaina Āgamas that in the more primitive plants the basic functions[1], common to most green plants cells, may all occur in a single cell; but in the higher plants cellular specialization has occurred. The Jainācāryas differentiate the several parts—root (Mūla), stem (Khaṁdha), leaf (Patra), etc.[2] of a plant. The evolution of conducting tissues (gūḍhaśira and ahiruyaṁ)[3] and the specialization of regions of the body has enabled plants to survive on land to grow to large size. Since these higher seed plants are the most widespread and familiar as well as the most useful plants for man, the Jainācāryas have dealt with some of the details of seed plant structure and ceriain functions localized in particular parts of the plants.

---

1. Sūtrakṛtāṅga II. 3.
   Lokaprakāśa I. 5th Sarga
   Tarkarahasyadīpikā Ṭīkā on v. 49, pp. 157-159.
2. "Rukkhajoṇiesu rukkhesu mūlattāe kaṁdattāe khaṁdhattāe tayattāe sālattāe pavālattāe pattattāe pupphattāe phalattāe bīyattāe viuttaṁti /" Sūtrakṛtāṅga II. 3.47

   "Mūlaggapirebaja kaṁda taha khaṁdhabīja bījaruha /"
   Gommatasāra (Jīvakāṇḍa), V. 186.

   Chāllī aumtajīyā patteyajīyā tu tanukadari—,
   Ibid., V. 189.

   Etesi ṇaṁ mūlā vi asaṁkhejjajīviyā;
   Kaṁdā vi sālā vi pavālā vi /

   Pattā patteyajīviyā pupphā aṇegajīviyā, phala egaṭṭhiyā,
   Paṇṇavanā, Vanassaikāyajīvapaṇṇavanā, 40, p. 17.
3. "Gūḍhachīragaṁ pattaṁ sacchīram jaṁ ca hoti nicchiraṁ /",
   Pannavana, Vanaspatikāyajīvapaṇṇavanā, 54, 84, p. 24.

   Gūḍhasirasaṁdhipavvaṁ samabhaṁgamahīruhaṁ (ragaṁ) ca 1
   Chīnnaruhaṁ 1—Sādhāraṇaṁ, etc"—Jivavicāra, 12.

   Gūḍhasirasaṁdhipavvaṁ samabhaṁgaṁ ahiruyaṁ ca hinnaruhaṁ /
   Ṣāhāraṇasarīraṁ tavvi dhariyaṁ ca patteyaṁ /"
   —Gommaṭasāra (Jiva. v. 187)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The Roots and Its Functions

The most obvious function of the root is to anchor[1] the plant and hold it in an upright position; to do this, it branches and rebranches extensively through the soil.[2] The second and biologically more important function of the root is the absorption of water and minerals[3] from the soil and the conduction of these substances to the stem (Khaṁdha).[4] In some plants, for example, āluka[5] (Amorphophallus Campanalatees), etc. the roots[6] have still another function as storage places large for quantities of food.

The Environment of Roots : Soil

The soil (pṛthivikāya)[7] provides a solid, yet penetrable foundation in which plants can anchor themselves and also serves as a reservoir for

---

1. Lokaprakāśa I. 5. 107.
   Mūlaṁ syāt bhūmisaṁbaddhaṁ tatra kandaḥ samāśritaḥ
   tatra skandha iti mitho bijāntaḥ syuryutaḥ same //"
2. Ibid.
3. Bhagavatī Sūtra, 7. 3. 275.
   "Te Jīvā tesiṁ nānāvihajoṇiyāṇaṁ puḍhaviṇaṁ sinehamahareti /"
   Sūtrakṛtāṅga II, 3. 43.

   "Mūlaṁ syāt bhūmisambaddhaṁ tatra kandhah samāśritaḥ /
   Tatra skanddha iti mitho bījāntaḥ syurytaḥ same" v. 107.
   Atah pṛthvigatarasamāhāranti same apyamī /
   Yāvat phalaṁ puṣpasthaṁ bījaṁ phalasamgataṁ v. 108.
   Lokaprakāśa I, 5. 107-8.
4. Ibid.
5. "Ālue mūlae ca, siṁgabere taheva ya
   Uttarādhyayana Sūtra 36-96.

   Gommaṭasāra (Common), v. 18. 6,
   Jīvakāṇḍa, ginger, turmeric, etc. are roots.
6. Ibid.
   Utpala, etc. are born of roots, which function as storage places,
   Lokaprakāśa, 5. 151.
7. Puḍhavijoṇiya puḍhavisambhava......
   puḍhavisu rukkhattāe viuttaṁti /"
   Sūtrakṛtāṅga, II. 3. 43.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

water and minerals[1] needed by plants for their growth. The soil is another major ecosystem containing a large number of different kinds of animals, bacteria and plants[2] that comprise an inter-related biologic complex.

The Stem and Its Functions

The stem[3] which is a tree including trunk, branches and twigs[4] is the connecting link between the roots, where water and minerals enter the plant, and the leaves,[5] which manufacture food. The vascular tissues of the stem are continuous[6] with those of root and leaf and provide a pathway for the exchange of materials, the stem and its branches support the leaves so that each leaf is exposed to as much sunlight as possible. Stems also support flowers and fruits[7] in proper position for reproduction to occur. The stem[8] is the source of all leaves and flowers produced by a plant, for its growing points produce primordia of leaves

---

1. "Te Jīvā tesiṁ ṇāṇāvihajoṇiyāṇaṁ, puḍhaviṇaṁ, siṇehamāhāreṁti te jīvā āhāreṁti puḍhavisarīraṁ āusarīraṁ teusarīraṁ vāyusarīraṁ vanassaisariraṁ /"

   Ibid. Lokaprakāśa 5. 1028.

2. Sūtrakṛtāṅga II. 3.
3. "Kaṁdattāe khaṁdhattāe tayattāe sālattāeṁ pavālattae/"

   Sūtrakṛtaṅga II. 3. 46.

   "Mūle kaṁde khaṁdhe tayā ya sāle pavāle patte ya /
   pupphe palabie viya patteyaṁ jīvaṭhāṇaiṁ

   Vide Lokaprakāśa, 5. 77.

   Pannavana, 41, pp. 17-18.

   Mūlakanda-skandha patrādi gatajīva-saṁkhyeyapramāṇaṁ ca,

   Gommaṭsāra, (Jīvakāṇḍa), 189.

4. Ibid.
5. Ibid.
6. Ibid; Bhagavatī, 7.3.275; Lokaprakāśa, 5.107-108.
7. Ibid.
8. Ibid. II. 3. 43.

   Bhagavatī 7.3.275.

   Paṇṇavanā, 41, pp. 17-18.

   Lokaprakāśa 5. 77; 5. 107-108.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(Kiśalaya) and flowers (Puṣpa). Roots and stems are sometimes confused, for many kinds of stems grow underground[1] and some roots[2] grow in the air. Fern and grasses[3] are examples of plants that have underground stems called rhizome in Botany. These grow just beneath the surface of the ground and give rise to above ground leaves. Thickened underground stems,[4] adapted for food storage, called tubers in Botany are found in plants, such as, Suraṇakanda, Vajrakanda, sweet potato,[5] ete. An onion bulb is an underground stem (Kaṁda)[6] surrounded by overlapping tightly packed scale leaves. Roots and stems are structurally quite different. Stems, but not roots, have nodes (parva)[7]

---

1. Savvau Kaṁdajaī suraṇakaṁdo ya vajjakaṁdo ya /
   Allahalidda ya taha āddaṁ taha allakaccuro (88)
   Sattāvavī, Virti......
   Lalaṇaṁ vaṁsakarilla gajjara luṇao lodholla (84)
   up to Ālu taha piṇḍaluharavaṁte, etc.
   Vide Lokaprakāśa, 5. 88-92.
   Uttarādhyayana Sūtra 36. 97, 98, 99.
   e. g. Suraṇa (Arum campanna)
2. Roots of Banian tree which issue from its branches.
   Guḍuci's (Gulañca) roots (adventitous) grow in air
   Jīvavicāra, V. 12.
3. Tṛṇa, Uttarādhyayana Sūtra, 36.94.
   Seḍiya bhattiya hottiya dabbha kuse pavvae ya podaita /
   Ajjuṇe āsāḍhae rohiyaṁse suya veya khire tuse /
   Eraṇḍe Kuruviṁde kukkhade suṁṭhe taha vibhangu ya /
   Mahuratana luṇaya sippiya bodhavve suṁkalitana ya //
   Paṇṇavanā. 47. 35, 36.
4. Lokaprakāśa, 5. 88-92.
5. Uttarādhyayana Sūtra 36.97,98.
   Vide Lokaprakāśa, 5. 88-9.
6. Ibid, Uttarādhyayana Sūtra, 36. 97.
   Gommaṭasāra, Jīvakāṇḍa, 18, (Comm.) V. 186.
7. Uttarādhyayana Sūtra, 36.95.
   Parva (node), Paṇṇavanā 46, 33-44, p. 19.
   Gommaṭasāra, V. 186. (Jīvakāṇḍa)
   Lokaprakāśā, 5. 81, 98.
   "Vṛkṣa Guccha Gulma latā sa (vallyaśca parvagaścaiva (98)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

which give rise to leaves. The tip of stem (agra)[1] is naked unless it terminates in a bud.

Plant stems are either herbaceous[2] or woody.[3] The soft, green, rather thin herbaceous stems are typical of plants called annuals in Botany. Such plants start from seed (bīja)[4], develop flower and produce seeds within a single growing season, dying before the following winter[5]. Another type of herbaceous plant is the biennial, which has two-season growing cycle. During the first season, while the plant is growing, food is stored in the root. Then the plant dies and is replaced in the second growing season by a second top which produces seeds. Carrots (gajjara)[6] and Sūraṇakanda[7] are examples of biennials quite different from the herbaceous annuals, and the woody perennials[8], which live longer than two

---

1. Sūtrakṛtāṅga II. 3.43.
   Gommaṭasāra, v. 16.6.
   Mūlaggapirabī jaha kaṁda taha Khamdhabījabījaruha /
   Suṁmucchima ya bhaṇiya patteka bantakāya ya" (186).
2. Rice, etc.
   "Sāli Vihi Godhuma javajavā kala masura tilamugga /
   Māsa nipphava Kulattha alisaṁda sālīṇa palimaṁtha"
   Ayasī Kusuma Koddava Kamga Rālaga Varasamaga kodusa //
   śaṇa sarīsava mulaga bīya a yāva aṇṇā tahapaggārā //
   Paṇṇavanā, 50, 42-43, pp. 20-21
   Lokaprakāśa, 5. 54-55. Setpadi
3. Lokaprakāśa, 5. 79, 96.
4. Paṇṇavanā, 50, 43-44;
   Lokaprakāśa, 5. 54-55.
5. Lokaprakāśa 5. 84.
6. Ibid.,
7. Sūtrakṛtāṅga II. 3.
   Uttarādhyayaṇa Sūtra, 39. 94 (Comm.)
   Paṇṇavanā, 40, 13-15.
   (Rukkha), 41, 16-18.
   Aṅkulla gamby nimbāmraḥ etc. up to Dadhiparṇa etc.
   Lokaprakāśa, 5.99-103.
8. Lokaprakāśa 5.40. (Utkalaḥ Kaṁṭakaḥ kecit)
   Lokaprakāśa 5, 79.96
   Yatra Skandhakandamūlaśākhāṣu Khalu Vīkṣyate /
   Tvaca sthūlatara Kāṣṭhāt sa tvacānantajīvikā // 79 //

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

years, have a thick tough stem[1] or trunk, covered with a layer of cork. A tree is a woody stemmed perennial that grows and so has a main stem or trunk curved, straight, long, etc.[2] It is a woody perennial with several stems of roughly equal size above the ground line.

The Leaf and Its Function

The Jainācāryas does not throw much light upon the structure and function of the leaf of plant except the following things. The leaf may be endowed with Kṣīra (a waxy cutin ?) or may not be so (niḥkṣīraṁ) and may have fine veins (gūḍhaśīraṁ) and their invisible joints (parvas) in between two half parts of it[3], i. e. the upper and lower "layers of the leaf epidermis filled with thin walled cells, called mesophyll, which are full of choloroplast."[4]

Each leaf is a specialized nutritive organ whose function is to carry on photosynthesis.[5] Leaves are generally broad and flat to present a maximum surface sunlight.

Leaves[6] originate a succession of lateral outgrowths called primordia (Kiśalay) from the apical meristem at the tip of the stem (agra). Each

---

Yatra mūlaskandhakandaśakhāsu dṛṣyate sphuṭaṁ /
Tvaca Kāṇīyasī Kāṣṭhat sa tvak pratyekajīvika (96)

1. Lokaprakāśa. 5.40.
2. Uttarādhyayana Sūtra, 36.94.
   Guluea (shrubs). It brings forth twigs or stems instead of stalks. e. g. Navamalikā Jasminum sambac, Kanavīra, etc.
3. "Gūḍhachīragaṁ pattaṁ sacchīraṁ jaṁ ca hoti nicchīraṁ
   jani pi ya panaṭṭhasaṁdhiṁ aṇaṁtajīvā viyāṇāhi /
   Paṇṇavanā, 54.7 85.
   Sakṣīraṁ vāpi niḥkṣīraṁ patraṁ Gūḍhaśīraṁ ca yat /
   Alaksyamānapatrāddhadvayasandhi ca yadbhavet /
   Lokaprakāśa, 5. 84.
4. Biology, p. 126. C. A. Ville
5. Bhagavatī Sūtra, 7. 3. 275.
6. Sūtrakṛtāṅga II, 3. 47.
   Mūlattāe......pavālattāe pattattāe pupphattāe
   phalattāe bīyattāe vuṭṭaṁti, Pannavana, 40
   pattā patteyajiviya//
   Bīja ca yoṇibhūte vyukramati saiva Janturaparo va/
   Mūlasya Yaśca Kartā sāleva tatprathama-patrasta//
   Lokaprakāśa 5. 61.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

outgrowth undergoes cell division, growth and differentiation and finally a miniature, fully formed leaf is produced within the bud (aṅkura)[1] In the spring and the Summer seasons the leaves grow rapidly, forcing apart the bud scales and largely by the absorption of water, unfold, enlarge and reach their full size.[2] Many leaves have no meristematic tissue and thus do not live long.

Transpiration

Nothing is clearly stated by the Jainācāryas about transpiration. It may occur in all parts of the plant exposed to the air as it is lomāhārin,[3] but most of it, occur in the leaves according to Botany.[4]

The suction force[5] connected with transpiration pull contributes to the economy of the plants by assisting the upward movement of water through the stem by concentrating in the leaves the dilute solutions of minerals absorbed by the roots[6] and needed for the synthesis of new vital force and by cooling the leaves.

The Movement of Water

The ascent of sap (rasa)[7] is brought about by the process of the suction force which is connected with transpiration pull and root pressure.[8] Root pressure is the positive pressure of the sap in the ducts at the junction of root and stem generated by the hypertomicity of the sap in the roots to the water in the surrounding soil.

In the Spring and Summer[9] seasons before leaves have been formed, root pressure is the sole cause of the rise of sap. Once leaves have

---

Sa eva nirvarttayati mūlaṁ patraṁ tathadimaṁ/
Mūlasya Yaśca Kartā sāleva tatprathama patrasta//

—Ibid., 5. 65.

Savvo vi Kisalao khalu uggammāṇo anaṁtāo bhaṇio,

—Lokprakāśa, 2, 0. 361.

1. Uttarādhyayana Sūtra; Biology, C. A. Ville p. 126.
2. Biology, C. A. Ville p. 128.
3. Bṛhatsaṅgrahaṁ, vv. 181, 182, 184.
4. Biology, p. 128.
5. Lokaprakāśa, 5. 32, 33, 34,; 5. 107, 108.
6. Ibid.
7. Lokaprakāśa, 5. 32, 33, 5, 107, 108.
8. Ibid.
9. Lokaprakāśa, 5. 32, 33; 5. 107, 108.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

developed, the continued ascent of water is brought about largely by the process of the suction force which is connected with transpiration[1] pull. Modern Biology explains this thing in this way that "the constant evaporation of water from the cells of the leaf and the production of osmotically active substances by photosynthesis combine to keep the leaf cells hypertomic to the sap in the viens. They constantly draw water from the upper ends of the Xylem vessels and this tends to lift the column of sap upward in each duct."[2]

"Transpiration provides the pull at the top of the column, and the tendency of the water molecules to stick together, carrying this force through the length of the stem and roots, results in the elevation of the whole column of sap."[3]

The Storage of Food

It is stated in the Jaina Āgamas[4] that a green plant consumes more food in particular season (rainy season), while it takes less food in some seasons (Winter or autumn, Spring and Summer). Each plant must therefore accumulate food reserves to tide over periods when photosynthesis cannot occur. Food stores may be deposited in leaves,[5] stems[6] or roots.[7]

Leaves serve as temporary depots for food, but they are not suitable for long-term storage, for they are too easily and too rapidly lost. The stems of woody perennials[8] serve as storage places for large amounts of food; other plants utilize underground fleshy stems[9] for the purpose. The most common storage organs are roots,[10] for being underground,

---

1. Biology, p. 128.
2. Biology, p. 128.
3. Ibid., p. 128.
4. Bhagavatī Sūtra, 7.3.275.
5. Kumbard, Jīvavicāra, 12.
6. All Kandas, Suraṇa, etc. bulb, etc.
7. Raddish carrot, etc.
8. Vṛkṣa, mango tree, etc.
9. Suraṇa, etc.
10. Carrot, ginger, etc.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

they are somewhat protected from climatic changes and from the prying eyes of animals, plants also deposit rich stores of food in their seeds,[1] to provide energy for the development of the embryo until the new plant has developed a functional root, stem and leaf. Such seeds rich in plant food are an important source of food for man and other animals.

---

1. Rice, etc.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

SOME COMMON FEATURES OF BUDDHISM AND JAINISM*

DR. (MRS.) SUNITA JAIN

Buddhism and Jainism—two ancient Śramana Traditions of India played an important part in the history of religions and cultures. Though there are basic *doctrinal difference* in these religions, there are many common features which deserve special attention of scholars in recent awakening in learning.

Vardhamāna Mahāvīra, the twentyfourth Tirthaṅkara of Jainism and Gautama the Buddha, the founder of Buddhism, were born in one and the same age i. e. Sixth Century B. C. Mahāvīra was a senior contemporary of Buddha. The age which gave rise to these two great apostles of peace and non-violence, was an age of great significance in the history of mankind. The period between 800 and 200 B. C. is characterised as an axial period of history. During the period, the focus of interest shifted from a study of nature to the study of man. The great philosophers and religious leaders all over the world turned their attention inward to the study of man. The age and environment which gave rise to Mahāvira and Buddha, was an age when the entire civilized world was surcharged with an unprecedented emotional stir, intellectual awakening and speculative thinking. The rise of these two men in India was part of this awakening.

Mahāvīra and Buddha both proclaimed that a true man is the highest achievement of life, and that all men are equal. Everyone deserves freedom, fraternity and equal rights of progress. Caste, creed, colour or race do not come in the way of these fundamental rights of a man. This search of a true man was the basic oneness of these two great leaders of mankind. Thus Mahāvīra and Buddha started preaching for the welfare and happiness of the world at large *bahujanahitāya bahujanasukhāya*. Both started teaching of *maitrī* and *karuṇā* love and compassion to all. They tried to find out the way to let the man escape from *dukkha*, misery. And it is how *vinaya*, the code of conduct, for a man was worked out.

---

* Paper read in 'First International Conference on Buddhism and National Cultures', New Delhi, October 10-15, 1984.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

A great obstacle in building a true man who could realise his own importance, had faith in his own deeds and felt responsible for his own actions, was the mysterious superpower, the concept of creator God, who had been invested with the power of deciding everyone's destiny and giving judgement to his deeds.

Mahāvīra and Buddha broke this deep rooted concept and let the common man believed that the man was all powerful. The man is the architect of his own destiny. He is responsible to his every action and deed. This proclaimation of an all powerful man was the highest socio-philosophical achievement of Buddhism and Jainism.

The Media Mahāvīra and Buddha adopted for spreading their massage deserves special mention. They did not prefer to use the polished language of the so-called higher men but both adopted the language of the common man of the age. Buddha adopted *Māgadhī*, the language of Magadha region and Mahāvīra *Ardhamāgadhī*, half *Māgadhī* and half of other regions.

The ultimate aim of both Jainism and Buddhism is also the same i. e. explosion of knowledge *sammā sambodhī* or *sammāditthi* which leads to *nisseyasa* or *nirvana*, the liberation from all the sufferings.

Our attention is often drawn towards these common features but mostly in religio-philosophical perspective. I intend to evaluate them in the light of culture and civilization.

Mahāvīra and Buddha after thorough observations of the structure of society, minute examinations of religions, critical analysis of philosophical concepts and intensive psychical intution discovered secret of the entire conspiracy of so-called intellectuals of the age against the development of human culture and civilization. The secret was nothing but the game of 'sacred' viz. :

(a) Sacred man by sacred birth,
(b) Sacred violence,
(c) Sacred language, and
(d) Sacred ignorance.

It is surprising to note that some are sacred from birth though they are born through same biological process, while others are born untouchable and so on. Some are wealthy and powerful by birth while others are slave and deprived of bread and butter. This centralization

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

of wealth and power was on the name of sacredness. The life of common men had no meaning.

Mahāvīra and Buddha both proclaimed that this man-made institution of sacred birth is the main cause of socio-economic sufferings of the people at large. It is baseless and has been established by few selfish persons for their personal gains. There can be no such divisions between man and man. Birth should not be the dividing factor of the society.

To find an excuse of violence and torture religion was attached to them. Religious sacrifice, killing for manes and guests were permitted by the religion of the age, the religion of the so-called high class society. Killing of pet and useful beasts and offering of the goods of daily needs to fire was causing great harm to economic life of the society in general and common men in particular.

The opposition by Mahāvīra and Buddha to bloody sacrifice was based on the economic life of the society of their time. Sacrifices were common in that age though very few could afford them, because to organise a *yajña* was a very costly affair. The best of things were collected for performance of sacrifice. The best cows for *gomedha*, horses for a *aśvamedha* and goats for a *ajamedha* were taken from their owners without recompensating them. The same was the case with other items like corn, sugar, ghee, etc. This mode of sacrifice played havoc with the economy of the whole community of the time.

The sacred language was another mischievious act to deceive. Language is a means of communication. One can convey his feelings thoughts, ideas and message etc. through the language, best known to him. To attach sacrednness to some particular language and to discard others has no meaning. It was another means to deprive of a large number of society to certain things. The language being used for sacrificial rituals etc. was confined to very limited number. A major portion of the society was not allowed to study the books containing the details of sacrifice etc.

Mahāvīra and Buddha both proclaimed that the vehicle of thoughts is the vehicle of thoughts alone. What is good to the society should be conveyed in a language which could be understood by maximum number. It is why Buddha preached in the dialects of Magadha region and Mahāvīra in Ardhamāgadhī : "*Bhagavaṁ ca ṇaṁ addhamāgahīe bhāsāe dhammaṁ āekkhai*". *Arddhamāgadhī* is said to include eighteen dialects.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Sacredness was also attached to religion to escape from one's own ignorance. If you do not know you may well leave or assign it to the superpower which itself is unknown and is a matter of speculation. The unknown superpower was invested with the power of creating the universe. He was considered to be the supreme judge deciding the destinies of everyone. The man was not held responsible for even his own actions and deeds. The society at a large was under complete depression. They were deprived of love for life and confidence in one's own capability.

Mahāvīra and Buddha came forward to break the misconception and declared that the man was the architect of his own destiny. His life is precious. Manhood itself is the best creation of nature. He should have confidence in his own capacity to develop himself, and should proceed on the way of true religion that is the way of life. That is the only way of progress. That is the path of the development. The suffering of the people at a large can be removed by building a true man who is fully awakened.

The terminology adopted in Buddhism and in Jainism is important for understanding the true spirit of the two great Śramaṇa Traditions. *Arhat* the worshipful, *Jina* the conqueror of self, *Buddha* the enlighted one, *Tīrthaṅkara* the path maker are some of the words which are commonly used for both the great men. *Saṁvara* self-restraint, *apramāda* vilgilance or awareness, *dhyāna*, contemplation, *tapa*, austerity, *sammadsṭṭhī*, right cognition, *nivvāna*, liberation are some of the common words used in Buddhist and Jaina Philosophies. *Maitrī*, benevolence towards all living beings, *karuṇā*, compassion and sympathy, *promoda*, joy at the sight of the virtuous, *mādhyastha* tolerence, *vaiyavṛtya* respectful service, etc. are some of the words commonly used in Buddhist and Jaina *vinaya*.

To sum up, I would like to say that the common features of the two great Śramaṇa Traditions are abundant. It is difficult to do full justice with the subject in a small paper like this. Buddhism and Jainism have contributed to the development of cultures and civilization through ages. Advanced studies of the common features of the two Traditions are bound to begin a new vista in the field of learning.

Reference Works

1. Ādipurāṇa men Pratipādiṭa Bhārata, Nemi Chandra Jain, Varanasi, 1968.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2. Āgama and Tripitaka : Eka anuśīlana, Muni Nagaraja, Calcutta, 1967.
3. Āyāro (Ācārāṅga), Muni Nathmal (ed.), Lalanun, 1974.
4. Bhagavan Mahāvīra, Gokul Chandra Jain, Delhi, 1973.
5. Bhagavān Mahāvīra aura Mahātmā Buddha, Kamta Prasad Jain, Surat, 1926.
6. Bhagavān Buddha, Dharmananda Kausambi, Bombay, 1956.
7. Bhāratīya Saṁskṛti men Jaina Dharma kā Yogadāna, H. L. Jain, Bhopal, 1962.
8. Bhāratiya itihāsa : eka dṛsti, Jyoti Prasad Jain, Varanasi, 1957.
9. Buddha : His Life, His Teachings, His Order, Manmath Nath Shastri, Calcutta, 1910.
10. Bauddhakālina Bhārata, Janardana Bhatt, Kashi, 1926.
11. Bauddha Dharma ke Vikāsa kā itihāsa, Govind Chand Pandey, Lucknow, 1963.
12. Dhammapada, Dharmaraksita (ed.), Varanasi, 1959.
13. Daśavealiyaṁ tah Uttarajjhayaṇāṇi, Muni Nathmal, Calcutta, 1967.
14. Do hajāra Varṣa Purānī Kahāniyān, Jagadish Chandra Jain, Varanasi, 1946.
15. Gautama, the Man, Mr. Rays Davids, London.
16. Jñātādharmakathaṅga-Sūtra, Shobha Chand, Ahmedanagar; 1964.
17. Life in Ancient India as Depicted in Jaina Canons, Jagadish Chandra Jain, Bombay, 1949.
18. Mahāvira and His Heritage, Gokul Chandra Jain, Delhi., 1974.
19. Mahāvira, The Tīrthaṅkara, Gokul Chandra Jain in Indian Horizons, Vol. XXIV, No. 2-3, Delhi, 1973.
20. Majjhima Nikāya, Jagadish Kashyap (ed.), Nalanda, 1958.
21. Religion and Culture of the Jainas, Jyoti Prasad Jain, Delhi, 1974.
22. Sarvārthasiddhi, S. A. Jain, Calcutta, 1960.
23. Uttarādhyayana-Sūtra, Sadhvi Chandana, Agra, 1972.
24. Uvāsagadasāo, Muni Madhukar, Beawar, 1980.
25. Vinaya-Pitaka, Jagadish Kashyap (ed.), Nalanda, 1959.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ASCETIC POETRY IN PAUMCHARIYAM

Dr. MITHILESH KUMARI MISHRA*

Bimalsuri's Paumchariyam is a Purana Kavya which exactly deals with Balmiki's Ramayana from Jain point of view, as such, it naturally handles the matter of doctrinal interest duly emphasised by jain Munis Shri Mukti, Kevali Bhakti and Aagam. Pramanyas are the main topics of this Kavya. Interestingly, its supreme interest is in the development of Vairagya that leads the various characters in the story to the renunciation of worldly life and acceptance of jainism. No doubt, the liberation from worldly existence is one of the most vital aspects of its seven Adhikaras (chapters dealing with the Ramakatha). Here, the poet very earnestly describes the life of a 'Jina' which acts a ford for crossing the big ocean of Samsar, liberality munificence, austerities and the theory of Papa-Punya.

Due to Vairagya with the ascetic approaches the whole Ramakatha in Paumchariyam entirely differs from that of the Valmiki's Ramayana. Here, as a matter of fact, renunciation and quistude are the main points of view to be grasped. Bimalsuri represents Kaikeyi as a mother par excellence who is prepared to let her husband accept asceticism. Valin appoints Sugreeva to the throne and becomes a monk. This really acquits him of shameful charge of living with his younger brother's wife and Rama of charge of killing him treacherously. The villain of Ramayana is Ravana who has been described as a pious and devout Jain who always avoids Hinsa in Paumchariyam. Not only this, the violent monster of Ramayana, called Kumbhakaran, is the very pious moralist of this Jain Ramayana which, in natural course, everywhere expresses the sacred path of eight fold Jina Puja. The hero, Rama himself selects the same way of life, becomes a monk and thus attains MOKSHA in the last.

The ascetic quest and ultimate Vairagya play main role in Paumchariyam which can be adjudged from a line of poems in the very beginning (Sutta Bihannau) :

'देह रागाइण्णं जीवं तडिविलसियं पिव अणिच्चं'

* Bihar Rashtra Bhasha Parishad, Patna,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

This body is the abode of deseases and life is momentary like lightning. In fact, the Paumchariyam explores the matter fact of the philosophy of life, as such, the poet starts this Purana from renunciation of worldly attachment to the end is MOKSHA and the learned thinker poet Bimalsuri puts forth the norms and provisions to be followed. These poems run thus :

'पंच य अणुवमाइं, तिण्णेव गुणववाइं, सिक्खावयाणि चत्तारि।'

Renunciation of Pranivadh (killing lives), Asatya (untruth), Adattadan (theft), Parshtrigan (living with another's wife) are five Anu Brata, Disha Bidisha Niyaman (control), giving up of unjust punishment and limited consumption of life stuffs are four Guna Brata and Samayik (timely), Upavas, Poshadh (fast), Atithi Samvibhag and Samadhimaran are four Shiksha Brata. One, who leads life by leaving the use of honey, meat, wine and practising the worship and morals of a nobleman, is acclaimed as a true Grihastha. In this way the genius poet elaborates the soul of his Kavya through the ascetic approaches since the entire works passes through the path of Vairagya and renunciational spirit.

The asceticism of Paumchariyam is really miraculous since it attains supremacy from the very beginning of Jain Tirthankars of which Rishabh Dev stands first. After ruling over the kingdom for a long period in KRITYUG, Rishabh happens to see a pross named Nilanjana when he begins to think over her with deep sense of sympathy :

'कटटं अहो ! विलम्बइ लोओ परसेसणेसु आसत्तो।
उम्मतओ व नच्चइ कुणइ य बहूचेष्टिसयाइं॥'

How pitiable, troublesome is the life which serves the lustymen by dancing madly. Thus, the noblest king gave up all sorts of luxurious pleasures and began to practise severe penance by virtue of non-attachment in order to attain MOKSHA.

At another place, while giving reference to the life sketch of Narada, Paumchariyam presents a sincere ascetic verse about the common man's plight of perishable lusty life :

'हा कट्ठं कह जीवा नच्चाविज्जन्ति कम्मेसु।
चइअण महिलियं जो पुणरवि सेवेइ लिंगरूवेणं
सो पावमोहियमई दीहं भज्जेइ संसारं
जह छड्डिऊण मत्तं पुणरवि लोगो न भुञ्जइ अभक्खं॥'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The saint who saw the wife of Brahmaruchi duly pregnant felt regretfully that people were being tossed, tortured and harrassed by the swift spell of their lustful actions and thereby suffering from the worldly attachment again and again even after once giving up their momentary aluseuent of kama similarly when king Bajrabahu made searching questions to know the reality of the universe the noble saint explores the truth :

'भणइ तओ मुणिवसमो जीवो जह अट्ठकम्मपडिवद्धो ।
दुक्खाइँ अणुहवन्तो परिहिण्डइ दीह संसारं ॥
कम्माण उवसमेणं लहद जया मानुसत्तणं सारं ।
तह वि य वन्धनडिओ न कुणइ धम्मं विसयमूढो ॥,

that this world is the main cause of men's bondage and due to the sheer attachment with the momentary pleasures they fall prey to it and are compelled to face deadly troubles because of the deaths and rebirths again and again when they may be in a position to attain Moksha by practising the path of penance after renunciation from worldly charm with the kindness of Jinavara.

Similarly, at one place Geatartha Muni exactly explains the mystery of worldly bondage and salvation :

'भणइ मुणी मुणियत्थो नखइ, जा एस भोगतण्हाते ।
भवसयसहस्स जणणी संसार निबन्धणकरी य ॥
खणभंगुरे सरीरे का एत्थ रई सभावदुग्गन्धे ।
मोहारिमहासेन्नं हन्तूणं संजमासिणा सिग्घं ॥'

This attractive body is full of kama, Raga and naturally it is only a temporary phenomena. It is full of bad smell hossible like hell and absurdity. The so-called love and sexual enjoyment are like a dream which disappears on awakening. As such, even a beautiful body with the Malarefuge-insects-flesh etc. can never be the source of happiness rather it draws the geeva towards the adversity. Only a prayer with utmost devotion of Jinavara can save him by killing the attachment with the help of sword made of Samyam and Vairagya.

Rama, the hero of the Paumchariyam, in his last days of life asks the Muni about the secrets of Moksha who goes on narrating the reality :

जीवाणं उव ओगो नाणं तह दंसणं जिणक्खायं ।
संसाररिणस्स जं पुण जीवस्स सुहं तु फरिसमादीणं ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तं मोहहेउगं निययमेव दुखस्य आमूलं ।
घोरं कुणन्ति मूढा तह वि य सिद्धि न पावेन्ति ॥

Rama : the way of attaining perfect knowledge, according to Jinavara, is of two fold in realization and philosophy. But the geeva in the world is attached with the cheap type of joys which throw him into the well of anxiety and troubles, that is why he does not attain salvation and again on Rama's quest for understanding the way of Mukti, the Muni further adds that only a man of fervent will and eagerness for bestowing kindness to others and practising Ahimsa Brata may be able to achieve the Mukti which is the ultimate goal of life. For this purpose one has surely and certainly to abandon the violence, untruth, theft, sex and thereafter taking shelter under a pious ginavara in order to get Deeksha and thus getting Moksha simultaneously. In this way the entire Paumchariyam Purana is full of ascetic poetry giving relief to the mankind on the earth.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

THE PHILOSOPHICAL SIGNIFICANCE OF THE IDEA OF TATHĀGATĀ IN THE CONTEXT OF THE ABSOLUTISM OF THE YOGĀCĀRA

Dr. PRABHAKAR MISHRA*

The philosophical significance of the idea of Tathāgatā in the context of Yogācāra has been demonstrated by some ancient scholars like Asaṅga and Vasubandhu etc. and also by some contemporary Indian scholars like Dr. T. R. V. Murti, Dr. A. K. Chatterjee and Dr. Datta etc. In this process the scholars, ancient and contemporary, have classified the subject by taking Tathāgata in relation to Absolute. This relation between the Tathāgata and the Absolute has been established by considering both the metaphysical and epistemological contexts of the subject.

Now an attempt has been made to compare the Īśvara of Vedānta and the Tathāgata of Buddhism because both are the object of worship and veneration and as such conjoined with boundless compassion, i.e., Karuṇā for the suffering humanity. Again both Tathāgata and Īśvara are distinct from the Absolute. But they have limitless good qualities, some supernatural powers and help the phenomenal being in removing avidya (ignorance) for making communion with the Absolute, hence they are closely connected with the Absolute.

Again, philosophical significance becomes obvious when we establish the existence of Tathāgata by showing its metaphysical and epistemological necessities in the Philosophy of Yogācāra. Dr. T. R. V. Murti in his work, "The Central Philosophy of Buddhism" clearly states that a phenomenal being is capable to be aware of the existence of the unconditioned or the Absolute because his tool of awarenes is reason which gives illusory knowledge of the object. Therefore, it gives rise to the existence of Tathāgata, who through is compassión or Karuṇā reveal the knowledge of the unconditioned or the Absolute. In this way, he is also regarded as transcendetal because he transcends reason for the true knowledge of the Absolute.

Again, the existence of Tathāgata is proved by the help of consciousness which is purely creative in character. Consciousness possesses two

* Lecturer in Philosophy, Nav Nalanda Mahavihar, Nalanda,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

factors : the idea of objectivity and the form of consciousness. This is known as the cosmic illusion under which the Absolute will suffer. When the illusory one is sublated, will revert back to its natural state of Pure Act, where it wills only itself. The creativity here is in its second phase. The Intermediate state of it is possible where the will is self-conscious of itself.

In this state the apparent externality is realised as illusive. This is the stage from ignorance to knowledge. It is neither pure will nor defiled will[1]. Its impurity is proved on the basis of it being consciousness of the other. For not taking something objective, it is undefiled. The self-conscious-will can neither be identical with nor different from the defiled will. In case it is identical with the defiled will, it cannot be the conscious of it, because it can neither analyse nor correct. In case it is different from the same, it would not be relevant to it. But this is the case of another consciousness not of self-consciousness. The analysis and correction of the defiled will is not possible even in that case. The self conscious-state is not stable because its two aspects cannot be reconciled with its unity. The position of the ultimate cannot be given to it. It can neither be denied. This is the case of will different from its objective entaglement, but is yet short of the Absolute in that it is conscious of its freedom.[2]

Here Tathāgatā constituted of self-conscious will appears similar to Īśvara of Advaitavedanta system. "This concept is even established and raised to an ultimate Status in the Pratibhijñā system (Kashmir Shaivism). In this system these obtain an inexpressible and non-relational identity between the principle and the person, i. e., between the Absolute and its creativity (between Śiva & Śakti). Its creativity is not due to Avidyā as we find in the Yogacāra, but ensures out of its consciousness of freedom itself. Śiva is free to create or not to create. Here the absolute and God are identical."[3] One cannot deny self-consciousness because that would be the denial of any consciousness of the hollowness of objectivity. The Third place should be accepted for this consciousness because it refuses to be identified either with the Absolute or with the will suffering due to Avidyā. The Tathāgatā is the cosmic counterpart of object. He neither is nor can be the ultimate out of his boundless compassion for the suffering mankind, he condescends to remove the suffering of the

1. Mahāyāna Sūtralaṁkāra by Asaṅga, IX, 22.
2. Vijñaptimāhatāsiddhi of Vasubandhu, p. 42-43.
3. The Yogācāra Idealism; A. K. Chatterjee, p. 226.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

people. It does not bind Him because the corrective self-consciousness of the illusoriness of the other is always present. The other is always perceived by Him but in the form of a creation of consciousness and this is the reason why it is never taken in by it. "Though He is in phenomena and is Himself but phenomenal. He yet knows that the true nature of phenomena and therefore Transcends it" Both these aspects have been very skillfully dealt with in Mahāyāna Sūtrālaṁkāra. In that book it has been said that the Bodhisattva has two kinds of Sambhāras Puṇyasambhāra and Jñānasambhāra. It is due to Puṇyasambhāra that he does good to the world and his existence is not defiled by the kleśa due to Jñānasambhāna.

In this way, though, Tathāgata is one with the ultimate reality but not absolutely identical with the same. This is reason why His mode of existence after the Mahaparinirvāṇa is condensed. They have treated it as the avyaktā. He is free person.

From the standpoint of the phenomena the free involution of the Tathāgatā into the world is temporal. It is his antecedent and consequent. It appears that he takes birth and dies. But this is nothing but the Cosmic illusion and he wants to dispel it. This is the reason why He is neither pure nor impure.[1] One cannot say him pure as he appears in time so he is pratītya-samutapanna. The two observations the Kleśavaraṇa and the jñayāvaraṇa, do not bind him. One cannot call him impure. His position is like that of sky[2] which pervades every thing but it is not affected by anything. We find him identical with dharmas[3] also but he cannot be defined in terms of any dharma because he transcends all of them. Again, it cannot be said about him that—He exists and that he does not exist.[4] For being phenomenal, He cannot be said to be existing and for being identical with the Absolute, it cannot be said as to be existing. He is neither one nor many[5]. He has taken many births so from the stand-point of phenomena, he is not one. Individual Tathāgatas are represented by different incarnations. All of us are the Tathāgatās in the making (Tathāgatā garbha). For being bodiless, he is not many from the transcendental stand point. This is the reason why he never identifies himself with a particular body. He assumes body for the time being. Like the sky or Ākāśa he is one.

1. Mahāyāna Sūtrālaṁkāra by Asaṅga, IX, 22, p. 27.
2. Ibid. IX, 15, p. 36.
3. Ibid. 4, p. 34.
4. Ibid. IX, 24, p. 38.
5. Ibid. IX, 26, p. 38.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Karuṇā and Prajñā are the two most important aspects of Tathāgata which make him almost God like. It is due to Prajñā that he identifies himself with the Absolute and Karuṇā makes him phenomenal temporarily. Prājñā is said to be of four types[1]—Adarśa-Jñāna, Samatā-Jñāna, Pratyavekṣnā Jñāna and Kṛtyānusthān-Jñāna. The adarśa Jñāna is the fundamental and the rest are dependent on it.

Now a brief explanation of these knowledge is essential to highlight the epistemological character of Tathāgatā. The Adarśa-Jñāna is a kind of knowledge which is limited to any personality (amaraṇa). It is undifferentiated and all comprehesive. Such type of knowledge is extended to all things in all time. This is the reason why the knowable things do not obstuct it because it is free from all observations. It is infinite knowledge. It is the foundation of all the knowledges. Such type of knowledge can be appreciated only with the Tathāgata and no other entity. Samatā-Jñāna is the knowlede of the essential identity which is pervasive to all existences. But it reflects on the character of the Tathāgata who identifies himself with the Absolute. Pratyavekṣṇa-Jñāna is the type of knowledge which perceives everything in a crystal clear way. Such a knowledge makes the Tathāgata to each individual without being confined. This is the vibhuti of the Lord, that is His omniscience which removes all doubts. Kṛtyānusthān-Jñāna is the type of knowledge which projects His apparational bodies and also which is infinite in number and variegated in nature. This is for the suffering humanity. This knowledge establishes Tathāgata as a compassionate Being. Thus Adarśa-Jñāna, Samatā-Jñāna, Pratyaveksaṇā and Kṛtyānusthān-Jñāna are said to be the expressions of the Tathāgata's supreme wisdom.

Compassion or Karuṇā is the second aspect of the concept of Tathāgata. This is for the people who suffer. For this reason He freely consents to continue as a phenomenal Being. But compassion cannot be compared with love that a father has for his son. The Tathagata's love is neither pure nor mundane[2]. Attachment and craving make love impure. The Tathagata's love is quite different from that. For being completely disinterested, it is pure. He (Tathāgata) is not affected by "I" or "mine" but remains absorbed in finding a way

---

1. Ibid. 67-76 In some Mādhyamika texts a fifth, Viz, Advaya-jñāna is added.
2. Mahāyāna Sūtralaṁkāra of Asaṅga XVII, 43, 44, p. 172.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

for those who are suffering. We can hardly find the conception of a more loving God like the Tathagata.

The different metaphysical principles have also constituted the concept of the Tathāgata and as such the principles identify Tathāgata with the Absolute. This has been explained with the three bodies, i. e., Kāya of the Tathāgata. It is one of the most important doctrines of the Mahāyāna philosophy and religion.[1] The following are the three[2] Kāyas of the Tathāgata; the Svabhāvika-Kāya, the Sambhoga-Kāya and the Nairmāṇika Kāya.

The Svabhāvika-Kāya of the Tathāgata is the principle of pure bill—Visuddha Tathagata.[3] It is the ultimate reality. This Kāya of the Tathāgata is identical with the Absolute. The second name of this Kāya is the dhama-Kāya because it is the essence (dharmatā) of things.[4] The withdrawing of the Ālaya-Āsrayaprāvṛtti[5]—is its essential character. Avidyā compells the Ālaya into a forward monument. It goes on creating forms of objectivity which in their form further replenish it. The retreating movement of the Ālaya starts with the sublation of this disturbing illusion. It no longer posits on other but rests in itself. Vijñaptimātra is of this state. This is the Buddha's dhamakāya which is his natural aspect.

The question of number[6] of Buddhas is meaningless because he is essentially identical with the Absolute. Some arguments have been advanced to prove the pluralistic nature of the Buddha.[7] All presons are potential Buddha-from this it does not follow that only one out of that infinite number attains liberation because in that case the accumulation of merit and wisdom (puṇya-Jñāna-Sambhara) in the rest of the Bodhisattvas would be fuitless. On the basis of the one Buddha Buddhatva can also not be established. We do not find any original Buddha who reveals the doctrine to others and when it is wanting the attainment of Buddha cannot be conceived. Revelations of truth is beginningless and by positing an infinite number of Buddhas

1. Aspects of Mahāyāna in relation to Hinyāna, N. Dutta, p. 96-128.
2. Mahāyāna Sūtralaṁkāra of Asaṅga IX, 59, p. 44.
3. Ibid. IX, 60, p. 188-189.
4. Ibid. IX, 4.
5. Mahāyāna Sūtralaṁkāra of Asaṅga, p. 45.
6. Ibid. IX, 26, p. 38.
7. Ibid. IX, 77, p. 48.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

it can be accounted for. Thus the Dhamkaya of all the Buddhas is identical as all are identical with the absolute.[1]

The Sambhogakaya of the Tathagata is his second aspect. Its English rendering is the Body of Bliss. With the help of this body Tathagata enjoys his creations (dhama sambhoga.)[2] In brief this is a conception of God. The scriptures also present the record of the glorified descriptions of the Tathāgata. According to those records the Tathāgata dwells in the Akanistha Heaven surrounded by a host of Bodhisattvas and other minor peronages. The personality of the Supreme God is the Sambhogakaya who is possessed with all powers and excellences. The conception of God in Brahmanical systems can be compound to this Kāya of the Tathāgata. The eleventh Chapter of the Bhagawadgītā is the best instance of it.

The Nairmaṇikakāya is the assumed body of Tathāgata. It has been explained clearly that this body should not be mistaken as the physical body of the Tathāgata. It is physical only for the purpose of helping the suffering mankind[3]. But the essential forms are infinite in number, that is, aprameya prabhedam Buddha nairmānam. The divine qualities of the Tathāgata exists for the Tathāgata Himself and the Body of Bliss characterises this (Svartha samapattilaksanah). The qualities existing for the sake of others, is characterised by the assumed body-parartha samapattilakṣaṇah.

The human Buddha that we see in different forms and exemplify in different individuals is the illustration of the Nairmānika-kāya of the Tathāgata. This Kāya has its historicity. The sambhogakāya has no historicity, it is visible to some heavenly beings only. The Nairmānika Kāya as well as the Sambhogakāya both are the free assumptions of the Tathāgata. The Dhamakāya is the utter invisibility.[4] The Supreme God is the sambhogakāya and the Śākya muni is the Nirmāṇa-Kāya.

Thus it can be said that even in the philosophy of yogācāra the Tathāgatā has been equated with the Absolute because Tathāgata in this system is needed both metaphysically and epistemologically. Metaphysically, the Tathāgatā is related to Absolute because it possesses sambhoga-Kāya, i. e., the body of bliss which reveals all Powers and excellences.

1. Ibid. IX, 62, p. 45.
2. Ibid. IX, 60-61, p. 45.
3. Ibid. IX, 60, p. 45.
4. Ibid. pp. 188-189.

7

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Epistemologically, the Tathāgata is related to the absolute because the Tathāgata possesses four kinds of knowledge which makes him Omniscient and as such he ralates himself with the Absolute.

Thus, the question whether the Tathāgata in relation to Absolute has any philosophical relevance in Yogācāra can be summed up in the affirmative. It is a fact that the Tathāgata having personality of its own cannot be regarded as the Absolute itself but the way in which the Śuñyavera and the Yogācāra scholars of Buddhism have painted is the nature of Tathāgata. It clearly reveals that the Tathāgata is related to the Absolute in some form or other. This is why, Tathāgata is often equated with Absolute in both the Mahāyāna systems of Buddhism. The Śānyavārins have painted the mediatory role of the Tathāgata by forwarding some convincing arguments. The Yogācāra has also felt the epistemological necessity of the Tathāgata. And, at least, both the systems have metaphysically established, of course, with the help of Trikāya, that the Tathāgata is related to Absolute. So in our opinion, it will not be an exaggeration to accept the philosophical significance of the word 'Tathāgata' in close relation to Absolute in the philosophy of Śūnyavāda and Yogācāra.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

THE ROLE OF PSYCHOLOGICAL FACTORS IN DETERMINING BUDDHA'S ATTITUDE TOWARDS SOCIAL PROBLEMS

DR. (SMT.) M. K. SATYARTHI*

A study of the background factors of the formation of Gautama Buddha's attitude towards the-then problems concerning many aspects of life has been a fascinating subject for scholars. R. S. Sharma states that the material conditions of the period of emergence of the Buddha is solely responsible for the origin of Buddha's attitude towards socio-economic problems.[1] But there are certain psychological factors also which may be held responsible for the formation of Gautama Buddha's attitude towards social problems. Henry Clay Lindgren rightly holds that "The behaviour of individuals may be studied in terms of the attitudes, values, beliefs and habits, characteristic of certain individuals or of individuals in general. Social psychologists are likely to be more interested in individuals in general, because they are interested in human behavior in general. An understanding of the general principles of human behaviour enables us to make better predictions about individuals whereas an analysis of a behavior of a single individual may yield date relevant only to that individual"[2]. It may be mentioned that there are certain incidence in Gautama Buddha's life which would be useful for the purpose under review. Gautama Buddha lost his mother when he was of ten days only. His step mother left no stone untured in providing all the requisite facilities for his development. But he did not develop in the way his parents wanted to be. His attitude towards women seems to be prejudiced in general. Psychologists hold that "prejudice has beliefs that are established prior to the revelation of the pertinent objective facts and that by their strength

---

* Department of Psychology, M. D. D. M. College, Muzaffarpur.

1. R.S. Sharma, "Material Background of the Origin of Buddhism", *Das Capital a Centenary Volume*, Peoples Publishing House (P) Ltd., Delhi, 1966, pp. 63-69.

2. Henry Clay Lindgren, *An Introduction to Social Psychology*, 2nd Edn., New York, 1973, p. 9.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

tend to predetermine the way which new perception will emerge.[1] During the period under review society was actually swayed by the Upaniṣadic thought. At that time it was believed that women were responsible for the deviation on the part of men from the pious path of penance. Gautama Buddha from his very childhood seems to have taken that achievement as an ideal of life as is generally seen in the adolescent period.

In reality "for the social psychologists the concept of attitude is of sovereign importance. Our attitude shape our perceptions and judgements of other persons, the influence what we learn and remember, they help to govern our political, economic, religious and other social actions."[2] It may be added that Gautama Buddha's attitude towards women was formulated as a reaction against women on account of the fact that women in Kapilvastu, according to literary sources, are said to have been very succeptible to sex offers and this tendency was actually considered opposite to the ideals of self-coercion through which spiritual achievement was supposed to be gained.

Gautama Buddha when born as Siddhārtha was observed by fortune tellers that he would be either a supreme king or a famous scholar ascetic. Siddhārtha's attitude in his childhood, inquisitive temperament and his introvert personality led his father to an anxiety that he would one day leave the household. Śuddhodana became overconscious and consequently arranged everything very skilfully, in order to keep Siddārtha ignorant of what was going on in society. This proved fruitless. Psychologists hold that over-protective and worrying patterns in parents are sometimes the cause of a child's feeling of insecurity. The over-protective parent constantly cautions the child to be careful and to "watch out". As a result the child develops a feeling that something will happen to him unless he practices exaggerated caution. The worrying parent on the other hand exposes the child to his adult troubles. The child is infected with the worries of his parent and becomes fearful

1. Devid Krech and Richard S. Crutchfield, *Theory and Problems of Social Psychology*, Asian Students Edn., New York, p. 171.
2. Krech, Crutchfield and Livson, *Elements of Psychology* (*A Brief Course*), Alfred A. Knopf, New York, 1970, p. 460.
3. *Jātaka*, V., p. 413. (Cowell's edn. and translation) *Dialogues of the Buddha*, II, p. 105.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

and apprehensive of what may happen to him or to them[1]. Thus, it might have had infected Gautama Buddha with an extra-curiosity about those things and ultimately he became convinced that something intriguing was going on. And thus he reacted against what his father desired.

Gautama Buddha's attitude towards the then social problems may be treated as an outcome of the long association he had with his social environment. The society of Kapilavastu is mentioned to have been theoretically divided on the basis of traditional *Varṇa* system but the system was not at all rigidly followed. The Brāhmaṇs were supposed to be the first *Varṇa* in theory but they could not successfully carry on their ideal on which depended their social status. The Buddhist literature[2] refers to the existence of ten types of Brāhmaṇas, such as, doctors, sevrants, drivers, tax collectors, earth diggers, confectioners, agriculturists, priests, bodyguards, gate keepers, carvan leaders and guild leaders, huntmen and royal servants. This statement suggests that professional ideals of the *Varṇa* system were not strictly followed in Kapilavastu. It is corroborated by the reference to Kṣatriyas taking to the profession of Mālākāras, Nalakāras, and Kumbhkāras. In the Śākya republic the Kṣatriya clansmen were largely cultivators of the soil. All these above mentioned materials relating to the non-implementation of the *Varṇa* ideals were well-known to Gautama Buddha. The reason of why the Brāhmaṇas and the Kṣatriyas did not stick to their traditional professions may be attributed to the socio-economic conditions. It may be added that traditional mode of profession could not satisfy the needs of increasing population and could not provide sufficient opportunity for earning their livelihood. In such circumstances, Gautama Buddha was not convinced by the traditional system and therefore, he instead of preaching in favour of this institution based on birth, laid more and more emphasis upon the individual ability and capacity to attain *Nirvaṇa*. Therefore, the Buddhist sources do not show any prejudice expressed by Gautama Buddha against those Brāhmaṇas who, in the real sense of the term, were fulfilling the qualifications of an ideal Brāhmaṇa and no respect was shown to those Brāhmaṇas who did not

---

1. Burney Katz and Robert T. Lewis, *The Psychology of Abnormal Behaviour—A Dynamic Approach*, New York, 1961, 2nd Edn., (First Edn., Lovis P. Thorpe and Burney, Katz), pp. 239-40.
2. *Jātaka*, II, pp. 165-66; IV, p. 15; V, pp. 21, 68, 471.
3. *Vinayapiṭaka*, I, 72.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

strictly take to their traditional means of livelihood[1]. On the other hand, however, a Brāhmaṇa having good character and the prescribed quality is mentioned to have been positively recommended to be given his due respect. This leads to a conclusion that though the inefficiency and weaknesses of the *Varṇa* system made the Buddha disgusted with this institution, he himself does not seem to have been free from social conditioning.[2] Thi is why Buddha in spite of his great contribution to the field of philosophical speculation, could not get rid of the social stigma and had therefore, forbidden entrance of the untouchables in the Buddhist *Saṃgha*. The Śākyaś low opinion about the slave may be seen in the literary sources.[3] Thus, it can be said that Kapilavastu's social condition greatly influenced the mental make up of Gautama Buddha and unconsciously he tried to maintain that Kapilavastu witnessed slavery as an established institution at the time of the emergence of the Buddha. The slaves were really regarded as the degraded and low people with no independent status of their own. They were supposed to be completely at the mercy of their masters. A male or female slave might be given to any one at the sweet will of the master. It was really a matter of deep concern if any one was born in the womb of a female slave. The slaves were thus so tired of the system that they used to flee from their master's work. Professor R. S. Sharma says that they showed their resentment by fleeing from thir master's work.[4] This act of a slave might have actually hurt the ego of the members of the landed aristocracy. Since Buddha was one of them, it was thus natural that he could not relish such anti-aristocratic acts. In these circumstances, therefore, Gautama Buddha did not allow a slave to enter the *Saṃgha*[5] unless he produced a no objection or no dues type certificate. It seems that he was very much conscious of the fact that the slaves in general

1. *Jātaka*, IV, p. 263. See *Dighanikāya* I, pp. 88-100; *Majjhim Nikāya*, II, pp. 133-34; *Anguttara Nikāya*, III, p. 223, *Suttanipāta*, III, 7.
2. Krech, Crutchfield and Livson, *Elements of Psychology (A Brief Course)*, pp. 193-203.
3. *Vinayapitaka*, IX, 1, 4; *Bhaddasala Jātaka*, IV, 1144 Cf. *Kannakathalsutta Majjhim Nikaya*, p. 12. See Richard Fick, *The Social Organization in North-East India in Buddha's Time*, Indological Book House, 1972 (Reprint).
4. *Sūdras in Ancient India*, Motilal Banarsidass, 1958, p. 143.
5. *SBE*, XIII, pp. 199, 230,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

could flee from their master's work if they were once allowed to do so. It is actually due to the circumstances at Kapilavastu that Gautam Buddha in spite of his humanitarian outlook, could not impress himself for complete freedom from slavery. Here the background of a landed aristocracy was more dominant and responsible for it and therefore, he could not think of dissociating his traditional source of labour from producing centres. This unconscious attempt is also psychological.

Importance of trade in Kapilavastu seems to have largely influenced the attitude of the Buddha towards trade and trading community. Kapilavastu's privileged position of being an important trade centre might have motivated the mind of the Buddha for the propagation of the system which was actually favourable to agriculture, trade and commerce. It may be pointed out here that traders in general out of their dissatisfaction against the *Varṇāśrama* system helped the cause of the propagation of Buddhism in many ways and thus might have earned confidence of the Buddha. The same motivation led the Buddha to allowing usury. Thus, it seems quite possible that Gautama Buddha's unconscious attachment with his interest (family or class interest) might have psychologically influenced and motivated his relationship with those mentioned above.

Thus, we on the basis of the analysis of the materials relating to the Buddha mentioned above, may conclude that though there were many background factors leading to the formation of Gautama Buddha's attitude towards social problems the psychological factors are not to be missed. If once a psychological situation arises on account of many factors, it plays an important as well as an independent role in life. The role of psychological factors in the life of the Buddha should be considered and reconsidered.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

BUDDHIST SYSTEM OF EDUCATION

Dr. SUNIL KUMAR

Education as one of the functions or activities of a state is a concept of purely modern growth. In ancient times the Christian missionaries in Europe and the various religious Orders in India planned out their own educational methods. They also received the active support and patronage of the ruling powers and the nobility of the time in this regard. Among them the Brahmanical system of education is the most ancient. The tradition of the system of education with which I am concerned here relates to the Buddhist system of education only. The Buddhist monasteries were the centres of learninig and teaching was imparted to a collective body of pupils. The history of Buddhist system of education is really the history of the Buddhist Saṅagha. It reflects in its process the inner intellectual life of the monasteries—the gradual and progressive enrichment of this life, its broadening and liberalizing effect over the course of the centuries, its unfolding and expansion.

The Pali Mahāvagga records that there were two ceremonies prescribed for admission into the Saṅgha. The first called the Pabbjjā, admits one as a novice into the Saṅgha, while the other known as the Upasampadā makes one a regular member of the Saṅgha, a bhikkhu (monk). In the Buddhist text one who has received the Pabbajjā is called the sāmaṇera. The Pabbajjā thus marks the beginning of the period of the noviciate, and no one below the age of fifteen was given the Pabbajjā. After the period of the noviciate Upasampadā was given and it was not conferred on a person below the age of twenty. Admission to the Saṅgha was open to all, irrespective of castes and creed but certain class of people was, however, denied the privilege of receiving the Pabbajjā and Upasampadā. Elsewhere in the Mahāvagga it is found that when the monks settled down in the monastery they behaved improperly without proper exhortation and and instruction. People often spoke ill of them at such improper behaviour of the monks. The matter was brought to the notice of Buddha who rebuked the monks and asked them to place themselves under the guidance of spiritual teachers—Upajjhāyas and Ācariyas for their proper training.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

An Upajjhāya used to teach the novice on the moral rules of conduct, while an Ācariya used to look after his spiritual life and progress. A pupil attached to an Upajjhāya is known as the Saddhivihārika while that to an Ācariya is called the Antevāsika. An Upajjhāya should treat a Saddhivihārika as a son while a Saddhivihārika should regard an Upajjhāya as a father. Similarly an Ācariya should treat an Antevāsika as a son while an Antevāsika should regard an Ācariya as a father. In the Buddhist texts this method is technically known as the Nissayasampatti, i. e. complete dependence of the pupil on the preceptor concerned. The period of dependence generally lasted for ten years. But the period could be relaxed in case of an experienced, competent monk who had to live five years only in dependence, but an unlearned one all his life.[1] An experienced and competent monk of ten years or of more than ten years standing was competent to give guidance to the monks.[2] The preceptors were mainly responsible for the education and moral conduct of the novices in the Saṅgha. A young novice, had to select his own Upajjhāya and Ācariya from amongst the experienced and competent monks. He should choose them thus placing his upper robe over one shoulder he should salute the feet of the Upajjhāya and Ācariya and squatting on the ground pray unto them with folded hands thrice to be his Upajjhāya and Ācariya upon which both the Upajjhāya and Ācariya would declare their intention either by the gesture of the body or by speech.

The Buddhist system of education like the Brahmanical one prescribed the service of his pupils to their preceptors as a part of their education. There were two kinds of preceptors, viz. Upajjhāya and Ācariya and to them were attached the Saddhiviharika and Antevāsika. Their duties to their respective preceptors have been discussed in detail in the Mahāvagga. A Saddhivihārika should rise early in the morning leave aside his sandals, put his upper robe over one shoulder and offer the tooth-wood and water for rinsing his mouth. He should next prepare a seat and give him rice-gruel in a pot. When he had taken the rice-gruel, he should wash the pot with water and keep it in a proper place. When the Upajjhāya got up the seat should be removed and the place, if soiled, should be swept. If the Upajjhāya wanted to go to a village for alms the Saddhivihārika should give him his robe, girdle and begging bowl. If he liked the Saddhivihārika to go along

1. Vinayapiṭaka vol. I, p. 80.
2. Ibid. vol. I, p. 62.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

with him, he should then dress himself properly and follow him. He should neither keep himself too far from him nor to close to him. He should not interrupt the Upajjhāya when he was talking with others. If his speeches were offensive from the point of view of the Vinaya code, he should restrain him. He should return to the monastery early and make ready for his teacher a seat, a foot-stool, a foot-stand as also water for washing his feet. When the teacher would return, he should approach him and receive his bowl and robes and give him his under-garments for wearing. If his upper robe was wet due to perspiration he should dry it for a little while in the sun and fold it up. He should then keep it in its proper place. If there was food in the bowl and the Upajjhāya wished to eat he should give it to him with a glass of water. When he had eaten he should wash the bowl properly and keep it in its proper place. If the Upajjhāya desired to bathe, he should arrange for his bath. If he desired for cold or hot water, he should be given cold or hot water. There were no servant in the Saṅgha. The novices had to do all sorts of menial works like servants. If the dwelling place of the Upajjhāya became soiled a Saddhivihārika should cleanse it. Before cleaning the place he should take out the bowls, robes, mattresses, and the like and keep them on one side, and afterwards they should be duly put back to their original places. The cell (pariveṇa), store-room (Koṭṭhaka), prayer-hall (Upaṭṭhāna-sālā), fire-room (aggisālā) and even the privy (vaccakuti) were also to be cleaned by the Saddhivihārika when required. The Cullavagga gives us a detailed account of the services of the novices. A Saddhivihārika was not allowed either to give or to accept a begging bowl without the consent of the Upajjhāya. He should not give or accept the robes without the consent of the preceptors. He should not cut his hair or get it cut without the consent of the preceptor. He should not serves others or get the service of others. He should not further collect alms from others. He should neither enter the village or a cemetery without the consent of the preceptor. In fact, he was not allowed to do anything without the consent of the Upajjhāya. If the Upajjhāya fell ill, the Saddhivihārika should wait upon him till he fully recovered. In short, the aforesaid duties of the Saddhivihārika towards the Upajjhāya may be classified under the three types :—(i) Work regarding the Saddhivihārika himself, (ii) Works required for the service of the Upajjhāya, and (iii) Works regarding the well-being of the Saṅgha and those concerning the general hygine. An Upajjhāya should conduct himself properly towards his Saddhivihārika. He should treat the Saddhivihārika with kind care and attention. He should always keep

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

watch on all his works. An Upajjhāya should always be solicitious for the well-being of the Saddhivihārika as a father is for his son. If a Saddhivihārika fell ill and was not fit to carry on his duty to serve him, an Upajjhāya should nurse him till he would become fit. The remaining duties of an Upajjhāya are similar to those of a Saddhivihārika.

If an Upajjhāya had gone away from the monastery to practise meditation in a solitary place, or had given up his monkhood, or had joined another order, an Ācariya was then allowed to instruct a Saddhivihārika so that there might not be any interruption in his study. It should be mentioned here that an Upajjhāya was not allogether lost to his Saddhivihārika. An Upajjhāya not only conferred the Pabbajjā on a novice but also arranged for his Upasampadā. He had to train the novice also in the function and duties of a monk.

The duties and obligations of an Antevāsika towards his Ācariya and vice-versa agree closely with those of a Saddhivihārika towards his Upajjhāya and vice-versa.

From the Mahāvagga[1] we learn that there were rules for the expulsion of a novice by his preceptor for his improper conduct. This kind of punishment is technically known in Pali as Panāmita. The preceptor would ask the novice to go out from his room with his robes and bowl forthwith and neither to come near him nor to serve him any longer. But the preceptor must express his resentment both in words and gesture. Otherwise his order would be invalid. If the novice confessed his guilt and begged his pardon the preceptor should pardon him. He was then taken in and all the privileges he used to enjoy before were restored. If the preceptor did not pardon him he would be guilty of committing the Dukkaṭa offence. In the Mahāvagga are also enumerated the five cases of expulsion of a novice by the preceptor :— If there does not come to be much affection for his preceptor, if there does not come to be much faith (in him), if there does not come to be much sense of shame (towards him), if there does not come to be much respect (for him), if there does not come to be much development (under him).

Monks usually spent most of their time in meditation in the monastery. The little time that remained was devoted to the well-being of the country, and the Saṅgha. They were further to teach the young novice the rules of etiquette and monastic discipline and help him in his

1. Vinayapiṭaka, Vol. I. pp. 53-55.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

intellectual and spiritual progress. Apart from the teaching work of the novices, many people living close to the monastery used to come there to hear discourses from the monks. The Buddhist monasteries became thus the centres of learning and were organised on the ideal of a residential University. The members of the monastery were residential students while those coming from outside were taught in the day time. Thus the monastery appeared as the day school for them. Monks who were highly educated and experienced were selected as the teachers. In other words, well-known and distinguished monks were selected for the teaching work. The system of education in the olden days were different from that we have in the modern time. Education was then carried on orally and handed down from the teacher to the taught. The Pali Vinayapiṭaka records that the same was the condition in the Buddhist age too.

The monasteries indeed created the spiritual and cultural atmosphere and produced ideal monks and nuns. It was through them only Buddhism was propagated in India and abroad. In fact, the life of Buddhism depended on the existence of monasteries. Buddhism lasted so long the monasteries maintained their ideals.

The study of Dhamma (Doctrine) and Vinaya (monastic rules) were much emphasised upon in the monasteries. Apart from it there were other subjects which were taught there in. The Dighanikāya[1] and the Mahāvagga[2] record that the tiracchānakathā (worldly talk) which comprises various branches of knowledge concerning worldly matters was one of them. The Milindapañha enumerates nineteen branches of learning in ancient India. They were :—the revealed tradition, secular lore, the Sāṅkhya yoga, Nyāya and Vaiseṣik system, accountancy, music, medicine, the four Vedas, the Purāṇas, the oral traditions; astronomy, conjuring, logic, spells, fighting, poetry and reckoning on the figures. Elsewhere in the same text the navakamma (knowledge of making repairs or in building) was also one of the subjects taught in the monastery. The Cullavagga records that experienced and competent monks used to prescribe the course of studies for the learners. It further gives us the names of subjects that were taught in a monastery. The Ariguttaranikāya further provides us with a list of monks and nuns who occupied the topmost places in certain subjects.

1. Vol. I, pp. 7, 66, 178; III. 54.
2. Vinayapiṭaka, Vol. I, pp. 188–189.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

The preceptors of allied subjects were given seats close to one another, while those teaching different subjects had their seats in different cells.

As already observed, the monasteries were the residential centres of the learners. They came into existence first for spiritual training of the monks. But they gradually changed into great centres of learning. Later on they turned into big universities to which flocked students from far and near to gather knowledge on different subjects.

Righteousness, generosity and alms-giving are peculiar to the Indian people. Charity to noble causes is indeed a meritorious deed. History furnishes us with ample instances of such gifts to the noble causes by the people of India. Kings, nobles and the like used to meet the cost of running these Universities. Rich merchants also contributed largely for the upkeep of the Universities. 'The Buddhist monasteries of the times became the seats and centres of both sacred and secular learning, and being freely resorted to by both Buddhist monks and laymen, and even by non-Buddhists, materially aided in the diffusion of learning and culture in the country'.[1] Of them the University of Nālandā to which flocked students from far off countries attracts our attention most. It accommodated ten thousand pupils and one hundred scholars to teach them. The noted Chinese pilgrim Hiuen-Tsang himself studied in this University for five years. By virtue of their character and erudition the teachers of Nālandā became the ideal teachers in those days. During this period there were other Universities like Vallabhi, Vikramsilā, Jagaddal, Odantapuri and the like which deserve mention here. This shows the vastness of cultural activity carried on in the domain of education by the monks of the monasteries.

---

1. R. K. Mookherji, Ancient Indian Education, p. 546.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

NATURE OF REALITY AS CONCEIVED IN JAINA PHILOSOPHY

Dr. J. C. SIKDAR*

In Jaina Philosophy Sat (Existence) is conceived as the differentia of Dravya (Substance),[1] characterized by origination, decay and permanence.[2] It is admitted as an objective Reality and recognized as the highest universal, for it is the unifying principle of all existents under the concept of 'being existent' on a common objective foundation of existence itself. So that (Existence) relates to Substance, quality and mode and three aspects of Reality, viz. origination, decay and permanence.[3] It acts as the basic principle to make analysis of the five categories. Dravya (Substance), viz. Dharma (Principle of motion), Adharma (principle of rest), Ākāśa (Space), Jīva (Soul) and Pudgala (Matter) as astikāyas (extended reals)[4], because the perceptible Universe appears as astirupa (isness-like), having its fundamental cause 'Sat' also as astirūpa (oness-like).[5]

As to the conception of Sat and its nature, different views have arisen in the field of Indian philosophy with its speculative development, but one tangible idea has emerged out of their critical study that 'Sat'

* L. D. Institute of Indology, Ahmedabad.

1. "Sad-dravyalakṣaṇaṁ", Sarvārthasiddhi, ch. V. 29, p. 300 Pujayapāda.
2. "Utpādavyayadhrauvyayuktaṁ Sat," "TS., ch. V. 29. Umasvati.
3. "Sattā savvapayatthā savissarūvā aṇaṁtapajjāyā / Bhaṁguppādadhunattā sappaḍivakkhā havadi ekkā //" Pañcāstikāyasamayasāra, 8, Kunda Kunda.
4. "Goyamā; Paṁca atthikāyā-pa, taṁjahā-dhammatthikāe adhammatthikāe āgāsatthikāe jīvatthiāe poggalatthikāe, / Bhagavatī, 2. 10. 118.

   "Ajīvakāyā dharmādharmākāśapudgalāḥ/Dravyāṇi Jīvāśca/ Nityāvasthitānyarūpāṇi ca/Rūpiṇaḥ pudgalāḥ/", Ts., ch. V. 1-4.
5. "Sattā savvapayatthā savissarūvā aṇaṁtapajjāyā / Bhaṁguppādadhuvattā sappaḍivakkhā havadi ekkā //", Pañcāstikāyasamayasāra, 8.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

is real, for the statement "Non-Existence exists" is logically self-contradictory like the saying "Existence does not exist". It is revealed in the Ṛgveda that there existed nothing in the beginning of the cosmic Universe,[1] while Sāyaṇa, the commentator, maintains that 'Sat' was absent in its manifest form in the beginning.[2] It is further explained in the Ṛgveda that 'Sat' is the only Reality, though called by many names and forms.[3] With the evolution of the Indian metaphysical inquiry the concept of 'Sat' was further developed in the Upaniṣads on the basis of the thought over the coming of the perceptible entities into existence, though they were non-existent before, in this way: "Sat (Existence) has emerged out of Asat (Non-existence) and the Universe is evolved out of the positive being."[4] This view indicates that the basic cause should be Asat. Both the views on Sat and Asat appear to be contradictory, so the question arises how Sat has emerged out of Asat, as the effect cannot be contradictory from the cause. The synthesis of the these two extreme views lies in the fact, that sat is not nāstirūpa (non-existence-like) by all means, but it is Avyakta Sat (Unmanifest Existence or Reality). The study of the Śaṅkarabhāṣya on this problem shows that Sat and Asat were explained in the sense of Manifest Reality (Avyaktam) and Unmanifest Reality (Avyaktam)[5] respectively, in the light of the Sāṁkhya doctrine of Prakṛti in agreement with the later idea on the nature of Sat. The Upaniṣads also preach the same doctrine

1. "Nāsādāsīnno sadāsīt tadānīṁ nāsīdrajo na vyomā para yat /",
Ṛg Veda, Nāsādīyasukta, X. 129.
2. "Tathā no sat naiva sadātmā vat sattvena nirvācyāṁ āsīt",
Ibid., Sāyaṇabhāṣya.
3. "Ekaṁ Sad-viprā bahudhā vadanti/Agniṁ Yamaṁ Mātarisvāna-māhuḥ", Ṛg. Veda, 1.164, 46.
4. "Asadvā idamagra āsīt / tato vai sadajāyata /",
Taittirīyopaniṣad, II. 7.
5. "Asaditi vyākṛtanāmārūpaviśeṣavipariaṁ avyākṛtaṁ Brahmaṇ ucyate......tataḥ asataḥ vai sat pravibhakte nāmarūpaviśeṣam ajāyata utpannaṁ /", Śāṅkarabhāṣya; Taittirīyopaniṣad, II. 7
"Asadavyākṛtanāmarūpamidaṁ jagadaśesamagre prāgavasthā-yāmutapatterāśinna tvaṣadeva/kathamasataḥ sajjāyatetyasatkār-yatvasya pratiṣedhat //",
ŚBhā. on Chāndogyopaniṣad, III, 19.1.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

that there was only 'sat' (Existence) in the beginning[1] of the cosmic Universe as revealed in the Ṛgveda.[2] This is also a path of synthesis of two extreme views on the nature of Reality.

The Vedānta philosophy as embodied in the Upaniṣads conceives Sat-Brahmaṇ[3] as the only permanent Reality, while the Buddhist system of thought admits 'Sat' as always momentary,[4] i. e. subject to origination and decay, by discarding the eternality of Reality on the basis of the doctrine of Anatmadharma (Non-Substance). In the Sāṁkhya-Yoga philosophy 'Sat' has been conceived as Puruṣa (Conscious Self) and Triguṇātmaka Prakṛti (Primordial Matter)—the permanent Reality and the variable constant respectively, appearing on the screen of time, because of immutable eternality belonging to the soul and mutable eternality to the Primordial Matter.[5]

According to the Sāṁkhya[6] and the Prabhākara Mīmāṁsakas,[7] the mere existence of an object is meant by its non-existence in another. The idea of Pratikṣaṇa pariṇāma (change at every moment) has been applied by the Sāṁkhya Philosophy to the evolution of the Viśvarūpa Jagat (Universe having diverse forms) ang ghaṭābhāva (absence of jar) is viewed as pariṇāmakṣaṇa (changing moment) of Bhutala. As for instance, the non-existence of a jar on a table indicates the existence of

---

1. "Taddhaika āhurasadevedamagra āsīdekamevādvitīyaṁ tasmādastaḥ sajjāyata/kūtastu khalu somyaivaṁ syāditi hovāca kathamasataḥ sajjāyeteti/sattveva somyedamagra āsīdekamevādvitīyaṁ /". Chāndogyopaniṣad, VI, 2.1.
2. "Ekam sad-viprā bahudha vadanti/Agniṁ Yamaṁ Mātariśvānamāhuḥ", Rg. veda, I. 164.46.
3. "Atha Brahmajijñāsā", Brahmasūtra, I, 1.1; see ŚBhā.
4. "Yat sat tat kṣaṇikam, yathā gatāḥ/ santaścāmi vivādāspadībhūtāḥ padārthā iti /", Kṣaṇabhaṅgasiddhi, p. 82.
5. Vyasabhāṣya, iv, 33, vide The Central Conception of Buddhism, p. 37.
6. "Na hi bhūtalasya pariṇāmaviśeṣāt kaivalyalakṣaṇādanyo ghaṭābhāvo nāma /", on Kārikā 5. Sāṁkhyatattvakaumudī, p. 34.
7. Tathā hi Prabhākarāḥ bhāvāntarameva bhāvāntārapepeksayā abhava iti vyavahrīyate //", Saptapadārthī (Medical Hall), Benaras, p. 76.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

the table by itself. That is, the non-existence of a jar (ghaṭaśūṇyatā or ghaṭābhāva) signifies a mere existence of the locus (adhikaraṇakaivalya) like a mere table or a mere ground (kevalabhutalaḥ).

In the Nyāya-Vaiśeṣika system of thought Existence (Sattā) is admitted as the highest universal (parasāmānya), because it serves as the most comprehensive unifying principle, bringing all existents together under one class-concept and standing for their common objective ground and essential nature, without making any mention of their differences.[1] It is recognized as the cause of the identical concept (anugata buddhi), which unifies Dravya (substance), guṇa (quality) and karma (action) under one head and functions as their common character.[2] Thus it relates to them as a universal. They are thought to be existent on the ground of the universal or existence pertaining to them par the intrinsic relation of inherence.[3] The other positive categories of Reality, viz. sāmānya (universal), viśeṣa (particularity) end samavāya (inherence) cannot share in this universal of existence, though they are also existents, but not non-existents i. e. self-sufficient and independent of relation to existence,[4] having a particularistic concept from its very nature. The existential character in sāmānya, viśeṣa and samavāya is an imposed one (āropita)[5], attributed to them possibly on the subjective necessity to bring all positive reals under one class-concept. A common objective ground was explored by the later Vaiśeṣikas for the synthesis of all six positive reals by propounding the theory that existence belongs to Dravya (Substance), guṇa and karma directly through the relation of inherence (samavāya), while it relates to sāmānya and viśeṣa indirectly, as they are co-inherent with it in a common substratum (ekārthasamavetā); and

1. "Bhāvo anuvṛttereva hetutvāt sāmānyameva", Vaiśeṣika Sūtrā (VS)., I. 11.4, Kanāda.
2. "Sad iti yato dravyaguṇakarmasu sa sattā", VS., I. 1.7.
3. "Sattayā sāmānyena sambhadhaḥ samavāyarūpo dravyaguṇakarmāṇāṁ, Sādharmyaṁ /",
Nyāyakandī (NK.,) p. 17 (19), Śrīdhara.
4. NK., p. 19, vide Studies in Nyāya-Vaiśeṣika Metaphysics, p. 17 Dr. Sadananda Bhaduri.
5. "Sāmānyādiṣu sat sadityanugamaḥ svarūpasattvasādharmeṇa sattādhyāropāt", Ibid.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Samavāya is affiliated to existence on account of its co-existence "with the latter in a common substratum".[1]

As to the nature of Reality as revealed in the Nyāya-Vaiśeṣika Philosophy, some of the Sat-padārthas (real entities) like Parmāṇus[2] (ultimate atoms), Kāla (time), Dik (Direction or Relative Position), Ātmā (Soul), etc., are conceived as kūṭasthanitya (unchangeable permanent realities), while some of them like ghaṭa (jar), paṭa (cloth), etc. are admitted as non-permanent entities, on the basis of the doctrine of Ārambha (Intransitive Causation) that 'Asat' is interpreted in the sense of a state of non-existence of all effects in their ultimate constituent, reals, viz. paramāṇus (ultimate atoms, etc.) And nothing can result as effect from a non-existent cause, although totally new effect is produced by a full complement of causes, (i. e. asatkārya). According, to this system of thought. Asat or Abhāva (non-Existence)[3] also is real, though it cannot be the ultimate cause of the Universe. Thus it has been given a position of an independent entity (padārtha) with the objectification of all thought-forms, but it is not recognized as Sattā (being), for Sattā (being) is admitted as eternal in this philosophy. In continuation of the same trend of thought on the problem of the nature of Reality, it is explained in the Bhāgavata Gitā.[4] In this way : "The unreal has no existence, and the real never ceases to be; the reality of both has thus been perceived by the seer".

The Jaina Āgama Bhagavatī Vyākhyāprajñapti throws a light on the problem of the positive and negative aspects of Reallty by explani-

1. "Dravyādu saṁavāya eva sāmānyaviśeṣayorekārthasamavāyaḥ / samavāye ekārthavṛttitvaṁ sambandhośtyeva //"
Kiranavali Bhāṣya. (KV. Bhā.), p. 44., Udayana.
Vide Studies in Nyāya-Vaiśeṣika Metaphysics, p. 17.
2. "Kiṁ punastattvaṁ ? Sataśca sadbhāvo asataśca sadbhāvaḥ/", Nyāyabhāṣya (NBhā,) p. 2. Vatsyāyana.
"Sad saditi gṛhyamānaṁ yathābhūtamaviparītaṁ tatvaṁ bhavati/ Asacca saditi gṛhyamānaṁ yathabhūtamaviparītaṁ tattvaṁ bhavati //
Nyayadarśana (Bengali), p. 12. Pt Dhanibhūṣaṇa Tarkavāgish.
3. See Tarkasaṁgraha, p. 2, Annam Bhatta.
4. "Nāsato vidyate bhāvo nābhāvo vidyate sataḥ / Ubhayorapi dṛṣṭo antastvanayostattvadarśibhiḥ //",
Gītā, II. 16.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ning that astitva (existentiality or state of existence) changes into astitva (existentiality or the state of existence) i. e. existence of a thing in the form in which it is, and nāstitva (the state of non-existence or non-existentiality) changes into nāstitva (the state of non-existence or non-existentiality)[1], i. e. when a thing undergoes transformation into the state other than that of its own. As for instance, an entity of earth as lump exists in an entity of jar in the transformed state. It is a case of astitva (state of existence), or the state of darkness due to the state of absence or destruction of light is an example of astitva (state of existence)[2] while mṛdhāstitvaṁ (non-existence of earth) like tantvādirūpa (threads, etc.) change into mṛdhāstitvarūpa paṭa (cloth). It is a case of nāstitva.[3] These principles of astitva and nāstitva are corelated with each other with regard to eternality of the Universe and Non-Universe (Lokāloka) and of any one of them.[4] In other words, Reality can be studied in its positive and negative aspects.[5]

It appears from the study of these facts that the views of the Bhaṭṭa Mīmāṁsaka[6] and Jaina Philosophy[7] are in accord in regard to the problems of Sat and Asat that all entities have twofold characters positive and negative (i. e. existent and non-existent). An object exists positively in itself and is characterised by the absence of other objects in it and it is described as negatively by the absence of other objects in it.

---

1. "Atthittaṁ atthitte pariṇamai natthittaṁ natthitte periṇamai", Bhagavati Sūtra (BhS.,) 1.3.32.
2. "Yathā mṛddravyasya piṇḍaprakareṇa sattā ghaṭaprakārasattāyāṁ iti / dīpādivināśasyāpi-tamisrādirūpatayā pariṇamāt"; Ibid., 1.3.32 (Comm.)
3. "Yathā mṛdo nāstitvaṁ tantvādirūpaṁ mṛd nāstitvarūpe paṭe iti", BhS., 1.3.32. (Com).
4. BhS., 1.6.53.
5. "Atthitti ya natthitti ya havadi avattavvamidi puno davvam", Paravacanasāra, II, 23, Kundakunda.
6. "Svarūpapararūpābhyāṁ nityaṁ sadasadātmako vastūni/", Ślokavārtika, Abhāvavāda, śl. 12, Kumarila Bhaṭṭa.
7. "Sạdeva sarvaṁ ko necchet svarūpādicatuṣṭayāt / Aṣadeva visaryāsanna cenna vyavatiṣṭhate //", Āptamīmāṁsā, Kārikā, 15. Śāmantabhadra.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

One thing emerges clearly out of this discussion on the problem of Sat (existence) that except the Nyāya-Vaiśeṣika[1] all the Indian systems of thought are in agreement on the most important point that only an existent is real, inspite of their divergent views on its characteristic features. In Sāṁkhya philosophy a positive element is admitted in the composition of the nature of Sat; the manifest effect exists in the unmanifest—cause, i.e. the latent becomes patent. In Prakṛti (Primordial Matter) buddhi (intellect), etc., do not exist in its unmanifest condition (avyakṛtavasthā), but they emerge through its evolution as manifest entities, (i.e. bhāvātmaka condition). The Buddhist system of thought recognizes a negative element in the nature of Sat (Existence); it is momentary (kṣaṇika) and negative (abhāvātmaka). Both the positive and negative aspects of the nature of Sat (Existence) are admitted by the Bhaṭṭa Mīmāṁsaka and Jaina Metaphysics on the basis of the synthesis of the extreme views on Sat (Existence) and Asat (Non-Existence).

It is explained by the Sāṁkhya Satkāryavāda (theory of causation) that there can be no generation of an object previousy non-existent; an effect exists in a cause in a potential form and its production signifies "an internal change of atoms in the cause".[2] Effect was existent before the causal operation to produce it was started. For example, oil exists in the sesamum before its production. That which was formerly in an unmanifest state is made manifest by the causal operation.[3]

In contrast to the Sāṁkhya Satkaryavāda, the Buddhist Philosophy contains the doctrine called Asatkāryayavāda, i. e. an effect is non-existent in a cause before the causal operation. It maintains that an effect comes into existence for a moment and gets destroyed. The Philosophy of the Vedāntist Śaṅkara advocates the doctrine that "The cause remains ever the same" and the co-called effects are only "illusory impositions of mere unreal appearance of name and form—mere Māyā (Śaṅkarabhāṣya 1.1.2). Jaina Metaphysics admits both Satkāryavāda and Asatkāryavāda as relatively true.

According to Akalaṅka, Asat (Non-Existence) is neither an object of affirmation nor an object of negation from the points of view of

1. The Naiyāyika's asatkārya is meant here by abhāva.
2. History of Indian Philosophy, Vol. 1, p. 257, Dr. S. N. Dasgupta.
3. "Asadakaraṇādupādānagrahaṇāt sarvasambhāvabhāvāt / Śaktasya śakyakaraṇāt kāraṇabhāvācca sat-kāryaṁ //", Sāṁkhya Tattvakaumudi, 9. Vacaspati Miśra.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

substance, time and condition. So only Sattā is real from these aspects.[1] Besides, its manifestation is contingen upon that of Sat, for it is explained that the revealing knowledge of the principle of 'Sat' also manifests the non-existent, principle of Asat.[2] That all which is 'Sat' is anekātmaka in vastutvam (manifolded real entity) by all means due to its capacity to perform a function (arthakriyākāritvāt).[3]

Therefore, Jaina Philosophy differs from other Indian systems of thought in regard to the interpretation of the nature of Sat. It holds the view that there cannot be such 'Sadvastu' (real entity) which is only kūṭasthanitya (unchangeable permanent entity) in its entirety or only niranvayavināśī (momentary or constantly destroyable) or its one portion (aspect) is kūṭasthanitya and other portion (aspect) is pariṇāminitya (permanent-in-change or variable constant) or its some portions (aspects) are only nitya (permanent) and other portions are nitya (non-permanent). According to its doctrine, all substances, called 'Sat' (Saddravya), whether they are living or non-living, non-corporeal or corporeal, fine or gross, are characterized by the three aspects of Reality, viz. origination, decay and permanence.[4] Therefore, 'Sat' is the substratum of all these three potent factors.[5]

In each substance there are two aspects; the one aspect is that it is eternal in three points of time (trikālas)—the past, present and future; and the other is that it is non-eternal. Owing to the cause of the eternal

---

1. "Dravyakṣetrakālabhāvāntaraiḥ pratiṣedhaḥ saṁjñinaḥ sataḥ kriyate na punarasataḥ, tadvidhipratiṣedhaviṣayatvāt/"
Aṣṭaśatī, p. 193. Akalaṅka.
Dravyādyantarabhāvena niṣedhaḥ saṁjñinaḥ sataḥ asadbhedo na bhāvasatu sthānaṁ vidhiniṣedhayoḥ /",
Āptamimāṁsa, 47, p. 26.
2. "Tadeva sataḥ prakāśakaṁ pramāṇamasadapi prakāśayati /",
Nyāyabhāṣya, p. 2; see also Nyayadarśana, Vol. I, p. 14.
3. "Yat sat tat sarvamanekāṁtatmakaṁ vastuttvaṁ sarvathā tadarthakriyākāritvāt /", Aṣṭaśatī, vide Āptamimaṁsā, p. 48.
4. "Utpādavyayadhrauvyayuktaṁ Sat".
TS., Ch. V. 29. Tatvartha Sutra, Umasvāti.
5. "Samavedaṁ khalu davvaṁ sambhavathidināsasaṇṇidaṭṭhehiṁ / Ekkammi ceva samaye tamhā davvam khu tattidayaṁ //"
Pravacanasāra, II. 10.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

aspect, each substance is endowed with the factor-permanence (dhrauvya), while it is called a substance endowed with the factors-origination and decay (utpāda and vyaya) because of its non-eternal aspect. An entity appears to be only as permanent or only as non-permanent as a result of non-disappearance of one aspect of disappearance of the other one and cognizance respectively from the point of view of these two aspects—eternal and non-eternal.[1] That is to say, the entire real nature of a substance can be comprehended by its two aspects—eternal and non-eternal and true cognizance.[2] In support of this view on the nature of Reality Ācārya Kundakunda maintains that 'in fact every entity is characterized by existence; and it is with regard to only one aspect that every object suffers origination and destruction."[3] Therefore, a substance is existence itself, because there is nothing as quality nor as modification in its absence and that substantiality (dravyatva) is a condition of positive existence.[4] It flows (i.e. continues through transformation) or maintains its identity through its several qualities and it is non-different from its sattā (being).[5] It is further explained; "In a substance some modification originates and some other passes away; but the substantiality neither originates nor is destroyed".[6] In a nutshell, the nature of Reality as conceived by Ācārya Kundakunda

---

1. "Tattvārthaūtra, ed. by Pandit Sukhlalji, Ch. V. 29; see auto-commentary of the Tattvārthādhigama sūtra and its Ṭīkā Ch. V. 29.
2. "Sadavaṭṭhidaṁ sahāve davvaṁ davvassa jo hi pariṇāmo /
Atthesu so sahāvo ṭhidisambhavanāsasaṁbhaddho //",
Paravacanasāra, II, 7. p. 134.
3. "Uppāda ya vināso vijjadi savvassa aṭṭhajādassa /
Pajjāena du keṇavi aṭṭho khalu hodi sabbhūdo //",
Ibid., I. 18, p. 24.
4. "Natthi guṇotti va koī pajjāottiha va vinā davvaṁ /
Davvattaṁ puna bhāvo tamhā davvaṁ sayaṁ sattā //",
Ibid., II. 18, p. 153.
5. "Daviyadi gaccadi tāiṁ tāiṁ sabbhāva pajjayāiṁ jaṁ;
Daviyaṁ taṁ bhaṇṇaṁte aṇṇaṇṇabhūdaṁ tu sat ādo //"
Pañcāstikāyasamayasāra, 9.
6. "Pādubbhavadi ya anno pajjāo vayadi aṇṇo /
Ḍavvassa taṃpi devvaṃ neva paṇaṭṭhaṁ na uppaṇṇaṁ //
Pravaçaṇaṣāra, II. 11, p. 142.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

is this that Dravya (Substance, i.e. Reality) is endowed with the quality of Sat (existence or substantiality) and characterized by the three potent factors origination, decay and permanence, and is the substratum of qualities and modes.[1]

Akalaṅka has dealt with the problem of the nature of Reality in the light of other Indian systems of thought and holds the view that Reality is neither substance alone nor modes alone, but is characterized by both of them[2]. There exists a relation of identity-cum difference between the substance and its modes, for they are not absolutely distinct like the substance and its quality or qualities as conceived in the Nyāya-Vaiśeṣika philosophy nor absolutely identical as advocated in the Vedāntic eternalism or the Buddhist momentarism[3]. They are identical in this respect that they are inseparable, but different from the point of view of mental differentiation. So Dravya (Substance) is not absolutely changeless and its paryāyas (modes) are not discrete There is a series of paryāyās in a Dravya having a relation of relative identity between the previons paryāya and the posterior paryāya like the relation of cause-continuuṁ and effect-continuum.[4] Therefore, they are absolutely non-different from one another, for they exist through them and they make the psychical phenomena of recognition and memory possible.[5]

Dravya (Substance) retains its essential nature in the midst of series of changes which take place in it. Therefore, Dravya (i. e. Reality) is dynamic in nature and does not always undergo transformation without giving up its essential nature.[6] In this way, it is

---

1. "Davvaṁ sallakkhaṇīyaṁ uppādavvayadhuvattasaṁjuttaṁ / Guṇapajjayāsayam vā jaṁ taṁ bhaṇṇamti savvaṇhu //", Pañcāstikāyasāra, 10.
2. "Tad-dravyaparyāyātmartho bahirantaśca tattvaṁ", Akalaṅka's Granthatraya, p. 3.
3. "Atyantābhedabhedau na tadvato na parasparaṁ / Dṛśyādṛśyātmano buddhinirbhasakṣaṇabhaṅgayoḥ /" Ibid., p. 48.
4. "Tādātmyaniyamo hetuphalasaṁtānavadbhavet /", Ibid., p. 45.
5. "Tadayaṁ bhāvaḥ svabhāveṣu kuntalādiṣu sarpavat/......anyathā smaraṇapratyabhijñā abhāvaḥ syāt tadevaṁ parasparapariṇāmaparigate/vivarttābitavividhaparyāyaravasthāntaramanubhavati /", Ibid., p. 112.
6. "Adravyt dravati droṣyatyekānekaṁ svaparyāyā /" Ibid. p. 45.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

conceived that Reality is characterized by the triple nature, viz. origination, decay and permanence in the process of transformation.[1] Akalaṅka has dealt with the problem arising out of the fact of origination, decay and permanence of Reality at one and the same time as appearing to be self-contradictory[2], having taken into consideration the different aspects of the same phenomenon, e. g. clay in the form of lump is destroyed and originated in the form of a pot, and persists as the substance at one and the same time.[3]

The study of these three aspects of Reality reveals that the permanent substance exists as a body of relation between destruction and origination, for there cannot be origination without persistence and destruction, nor persistence without destruction and origination, nor destruction without origination and persistence.[4] And if one is stated

1. "Sadotpādavyayadhrauvyayuktaṁ sat, asato agataḥ /",
Ibid., p. 45.

2. Utpādasthitibhaṅgānāṁ yugapannāsti saṃbhavaḥ /",
Catuḥ Sātaka, p. 246, Āryadeva.

3. "Svajātyaparityāgena bhāvāntarāvyāptirutpādaḥ (1) Cetanasya acetanasya vā dravyasya svajātimajahataḥ nimittavaśāt hhāvāntaravyāptirutpādanamutpāda ityucyate mṛtpiṇḍasya ghaṭaparyāyavat", Tattvārtha Rājavārtika, ch. V. 30 (1) p. 494, Akalaṅka

"Tathā pūrvabhāvavigamo vyayaaaṁ vyayaḥ (2) tena prakāreṇa tathā svajātyaparityāgena ityarthaḥ, pūrvabhāvavigamo vyayanaṁ vyaya iti kathyate yathā ghaṭotpattau piṇḍakṛteḥ /",
Ibid., V. 30 (2), p. 495.

"Dhruveḥ sthairyakarmaṇo dhruvatiti dhruvaḥ (3) anādipārināmikasvabhāvatvena vyayodayābhāvāt dhruvati sthirī bhavati iti dhruvaḥ, dhruvasya bhāvaḥ karma vā dhrauvyaṁ yathā piṇḍaghaṭādyavasthāsu mṛdādyanvayāt", Ibid., ch. V. 30 (3), p. 495.

4. "Dravyārthikaparyāyārthikanayadvayavivakṣāvaśāt sarveṣu dharmādidravyeṣu sa ubhayaḥ pariṇāmo avaseyaḥ /
.........anādirādimāṁśca pariṇāmaḥ āgamagamyaḥ /"
Rājavārtika, ch. V. 42 (2), p. 503;

"Pravāha anādimaneṣaḥ na vijatyekaśaktimān" (6),
Nyāyakusumāñjali, p. 20, Udayana.

"Tattve yathāvatā bhāvyamanvayavyatirekayoḥ eṣa kāryakāraṇapravahaḥ nādimān anādiḥ /", Ibid., Comm.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

to be devoid of cause, the other two also should be regarded as such. All of them may or may not contain a cause, because change (pariṇāma) is beginningless (anādi) and with a beginning (ādimān) from the points of view of substance and mode (Dravyārthika Naya and Paryāyarthika Naya) respectively. For example, different psychological reactions are perceived in different individual persons at one and the same time on the breaking up of a gold vase and the making of a crown out of the same stuff, the man desiring the vase is sorry over its destruction, the the other man desiring the crown is happy on its making; the third person desiring onlv gold appears to be neutral.[1] So the object is characterized by the three aspects—origination, destruction and persistence which are taking place automatically because of the change undergoing in the ultimate Reality in a natural process from eternity, but there may be the cause in particular cases of destruction, origination and persistence. They are identical in this respect that they are in one and the same substance, but they are also different in the sense that they give rise to different cognitions. Kumarila Bhaṭṭa[2] also has dealt with the problem of the three aspects of an entity by giving the same example of Akalaṅka as cited above for their validity.

In Yāska's Nirukta[3] it is similarly explained that there are six modifications of an entity (bhāvavikāras) in Vārṣyāyaṇi (Sattā = being), namely, (1) it is born, (2) it exists, (3) it undergoes transformation, (4) it increases, (5) it decays and (6) it is destroyed. The same view on origination, existence, transformation, growth, decay and destruction is expressed also in the Buddhist Philosophy in the following manner : "The existence of a dharma (element) in its past condition is proved

---

1. "Kāryakāraṇayorutpādavināśau kathañcidbhinnau bhinnalakṣaṇasambandhitvāt sukhaduḥkhavat/syādbhinnau, tadabhedasthitajātisaṁkhyādyātmakatvātpuruṣavat/ utpādavigamadhrauvyalakṣaṇaṁ syādbhinnamaskhalannānāpratīteḥ rūpādivat/........ pratībhedamitthaṁ samartha yato / ghaṭaṁ bhuṅktvā maulinirvartane ghaṭamaulisuvarṇārthī tannāśotpādasthitiṣu visādaharṣaudāsīnyasthitimayaṁ janaḥ pratipadyate iti, nirhetukatve tadanupapatteḥ/", Aṣṭaśatī, vide Aṣṭasahasrī, p. 210-211, Vidyananda.
2. Ślokavārtika, Vanavada, Ślokas, 21, 22, Kumarila Bhatta.
3. "Ṣaḍbhāvavikārā bhavaṁtīti vārṣyāyaṇirjāyate asti / Vipartṇamate varddhate apakṣīyate vinaśyatīti //", Abhidharmadīpa, p. 273. edited by Dr. Padmanābha Jaini

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

by the expression 'jāyate' (is born). The five modifications of a dharma (element), viz. being (asti), changing (vipariṇamate), growth (vardhate), decay (kṣīyate) and decrease or cessation (vinayśati) anticipate the prior existence of a real subject (kartā) who undergoes these modifications.[1] Similarly, the modification called birth (jāyate) anticipates the existence of a subject which is born.[2] A thing cannot be born out of nothing. Even the root 'jan' (to be born) implies this meaning.[3] When we say a child is born we mean that it has come out of its mother's womb; it does not mean it comes into existence at the moment of birth. It was existing but was not born. Similarly a dharma exists in past condition but assumes a present condition and passes into a future condition, the conditions change, but the dharma survives these change".[4] The Abhidharmakośa deals with the problem of momentary character of the elements (dharmas) as conceived by the Sarvāstivādins in this manner : Every element in phenomenal life is affected simultaneously by four different forces (saṁskāras), the forces of origination (utpāda), decay (jarā), maintenance (sthiti) and destruction (anityatā)",[5] sometimes these four forces are reduced to three, viz. birth, subsistence and decay.[6]

In the Vedānta philosophy also the idea of the three aspects of the absolute Brahman is embodied in this way : "The Ultimate Reality is that from which origin, etc. (i. e. subsistence and destruction) of this universe (would proceed),"[7] Ācārya Śaṅkara maintains that the Brahmaṇ is the cause of the origin, subsistence and destruction of the

---

1. "Tadyathā asti vipariṇamate vardhate ksīyate vinaśyatiti sati mukhyasattvāviṣṭe kartari ete pañca bhāvavikārā bhavanti /", Abhidharmadipa, p. 273.
2. "Tadvajjāyata ityayamapi ṣaṣṭhabhāvavikārāḥ sati mukhyāviṣṭe kartari bhavi tumarhatiti /", Ibid.
3. "Dvitīyam janma jātasya vastuno nopapadyate /", AdhD. p. 274.
4. Abhidharmadīpa, Introduction, p. 122.
5. Āyurjīvitamādhāra ūsmavijñānayorhi yaḥ/ Lakṣaṇāni punarjātijarāsthitiranityatā//", Abh. K., II. 45.
6. "Jātijātyadayasteṣāṁ te aṣṭadharmaikavṛttayaḥ/ Janyasya janikā jātirna hetupratyayaivinā//", Ibid., II. 46. The Central Conception of Buddhism, p. 32, Prof. Stcherbatsky
7. "Janmādyasya yataḥ", Brahmasūtra, 1.1.2.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

infinite universe,[1] for it is recorded in the Taittirīya Upaniṣad : "That from which these beings are born, that by which when born; they live, that into which when departing, enter. That, seek to know that is Brahmaṇ".[2]

It appears from the study of the evidences furnished by all the three Indian sources—Jaina, Bauddha and Brāhmanical, in regard to the modifications of an entity (bhāvavikāras) that either there was the tradition of six modifications of an entity (Ṣaṭbhāvavikāras) in the beginning and they were reduced to three modifications of it later on or there was the tradition of three modifications of an entity in the beginning and they were later on increased to six modifications.

Dr. Satkari Mukerjee has very clearly explained the relation of the three aspects of an entity of which they are predicated on the basis of the views of Akalaṅka and Vidyānanda on this problem in his masterly way : "If persistence, cessation and birth were each of them identical with the substance of which they are all predicated, then, being identical with the same substance, all of them be identical with one another. Thus persistence would be the same thing as cessation and birth, cessation would be identical with persistence and birth, and birth would be identical with cessation and persistence. So the triple character is reduced to an idedtical single mode. And if each of these modes were regarded as numerically different from one another and if each of them were believed to be real, then again each of these modes would have triple character. And infinite vicious series would be inevitable as each of the triple modes would have another triple character and so on to infinity unless the triple modes were severally and jointly asserted to be unreal characterisation. Either a single mode in the place of the triple character, or in infinite regress, or its unreality is to be asserted. But the Jaina answers the critic by asserting the manifold position. So far as persistence, etc., are regarded as identical with the substance, it is legitimate that persistence and cessation and birth should be regarded as identical. And if attention is concentrated on the aspect of difference of these modes from the substance and from one another, then each of them would have a triple character. There is

1. "Asya jagataḥ......janmasthitibhaṅgaṁ sarvajñāt sarvaśakteḥ kāraṇādbhavati tadbrahmeti /",

Sāṅkarabhāṣya on Brahmasūtra, 1.1.2.

2. "Śrutinirddeśastāvat yato vā imāni bhūtāni jāyanta iti", Ibid.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

no reason for the infinite series as difference is not absolute. The modes are identical with the substance only so far as the substance is focussed in the modes.

The modes are not absoultely different from the substance, as in that case the modes would not belong to the substance. The mode is a mode of the substance because the identity of substance is focussed in it and not admitted. To make an example, clay is transformed into a jar, and so the former is regarded as the cause of the latter. The jar is different from the clay no doubt, but the jar could not be jar unless it were the same substance as clay. So difference and identity both, being inseparable moments in the relation, a mode is identical with the substance, may have the same predicates with the substance and as different from the substance may each of them behave as an idependent reality and as such may have triple characteristic. The reduction of the triple character is also a matter of point of view. The mode and the substance may be viewed as identical and also as different as they are both in one. Thus the consequences, alleged to be inevitable, are not inevitable, as they are based upon exclusive identity and exclusive difference. But the identity is not exclusive of difference and vice versa, as both are the attested traits of reality. A mode and a substance are different because one is not independent of the other. If identity is to be asserted on the evidence of experience, difference also should equally be asserted on the strength of the same evidence. The compartemental way of looking at things leads to the affirmation of one and to the negation of the other, since it concentrates on one and ignores the other. The besetting sin of Philosophy has been the habit to put the telescope upon the blind eye and then to deduce that the other aspect is not real. The Jaina Philosophy voices the necessity of using both the eyes of seeing the obverse and reverse of the coin of reality."[1]

The above discussion reveals that the nature of Reality as conceived in Jaina Philosophy is that it characterized by the triple factors—origination, destruction and permanence.[2]

---

1. The Jaina Philosophy of Non-Absolution, pp. 74-76.
Dr. Satkari Mukherjee.

2. "Utpādvyayadhrauvyayuktaṁ Sat", TS., V. 29,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi